प्रथमावृत्ति :	श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, जयपुर	: ११००
द्वितीयावृत्ति :	श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़	: १५००
तृतीयावृत्ति :	श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर	: २५००
चतुर्थावृत्ति :	श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट	: ३२००

(दिनांक : १ मई, १९८४)

मूल्य : दस रुपये

प्राप्तिस्थान :

(१) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५

(२) वीतराग-विज्ञान ग्रन्थमाला
५८, गणेशनगर, नागपुर – ४४०००६

मुद्रक :

प्रिन्स ऑफसेट प्रिण्टर्स
१५१०, पटौदी हाउस, दरियागंज
दिल्ली – ११०००६

प्रकाशकीय

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट द्वारा श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' के नाम से एक नया विभाग खोला गया है। इस विभाग का उद्देश्य प्राचीन, अर्वाचीन, अप्रकाशित एवं अनुपलब्ध जैन साहित्य का प्रकाशन करना है। ग्रन्थों के प्रकाशन की इस शृंखला में सर्वमान्य आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित आध्यात्मिक ग्रन्थराज पंचास्तिकायसंग्रह का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त गौरव का अनुभव हो रहा है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रमुखतः समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह एवं अष्टपाहुड़ – ये पाँच हैं। जिनमें समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह – ये तीनों प्राभृतत्रयी, कुन्दकुन्दत्रयी एवं नाटकत्रयी के नाम से जाने जाते हैं।

पंचास्तिकायसंग्रह में कालसहित पाँच अस्तिकायों अर्थात् छहद्रव्यों का एवं नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। इस पंचास्तिकायसंग्रह परमागम का प्रारम्भ करते हुए शास्त्र-कर्त्ता ने इसे "सर्वज्ञ महामुनि के मुख से कहे गये पदार्थों का प्रतिपादक, चतुर्गतिनाशक तथा निर्वाण का कारण" कहा है।

सर्वप्रथम विक्रम संवत् १९७२ में श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल द्वारा श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित समयव्याख्या एवं श्री जयसेनाचार्यदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाओं तथा श्री पाण्डे हेमराजजी द्वारा लिखित बालावबोध भाषा टीका के हिन्दी अनुवाद सहित पंचास्तिकाय संग्रह का प्रकाशन कराया गया था।

तत्पश्चात् श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ ने पण्डित श्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह सोनगढ़ द्वारा लिखित इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका का गुजराती भाषा में प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित किया। पण्डित श्री हिम्मतलालभाई ने मूल गाथाओं का गुजराती पद्यानुवाद भी किया है, जो इस संस्करण में भी प्रकाशित किया गया है।

पण्डित श्री हिम्मतलालभाई, पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में रहकर जिनागम का अध्ययन करनेवाले उन भाग्यशाली विद्वानों में हैं, जिन्होंने श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य के पंचपरमागमों का गुजराती भाषा में प्रामाणिक अनुवाद करके, साथ ही भावपूर्ण पद्यानुवाद करके एक महती आवश्यकता की पूर्ति की है एवं जैन समाज पर अमाप उपकार किया है। इस अनुवाद के संबंध में वे स्वयं लिखते हैं :–

"गुजराती पंचास्तिकायसंग्रह में मूलगाथाएँ, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत समयव्याख्या टीका और उन गाथा टीका का अक्षरशः गुजराती अनुवाद प्रकाशित किया गया, जिसका यह हिन्दी अनुवाद है। जहाँ विशेष स्पष्टता की आवश्यकता दिखाई दी वहाँ कौंस में, भावार्थ में अथवा टिप्पणी में स्पष्टता की है। उस स्पष्टता में अनेक स्थानों पर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति टीका अतिशय उपयोगी हुई है; कुछ स्थानों पर तो तात्पर्यवृत्ति के किसी-किसी भाग का अक्षरशः अनुवाद ही भावार्थ अथवा टिप्पणी के रूप में दिया है। श्री हेमराजजी कृत बालावबोध भाषा टीका का आधार भी किसी-किसी स्थान पर लिया है। श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित

पंचास्तिकाय में छपी हुई संस्कृत टीका का हस्तलिखित प्रतियों के साथ मिलान करने पर उसमें कहीं अल्प अशुद्धियाँ भी दिखाई दीं, वे इसमें सुधार ली गई हैं।

इस शास्त्र की टीका का गुजराती अनुवाद करने का जो महाभाग्य मुझे प्राप्त हुआ, वह मुझे अत्यन्त हर्ष का कारण है। परमपूज्य गुरुदेव के आश्रय में इस गहन शास्त्र का अनुवाद हुआ है। अनुवाद करने की समस्त शक्ति मुझे पूज्यपाद गुरुदेव द्वारा ही प्राप्त हुई है। परमोपकारी गुरुदेव के पवित्र जीवन के प्रत्यक्ष परिचय विना तथा उनके आध्यात्मिक उपदेश के विना इस पामर को जिनवाणी के प्रति लेशमात्र भी भक्ति या श्रद्धा कहाँ से प्रगट होती? भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव और उनके शास्त्रों की लेशमात्र भी महिमा कहाँ से आती और उन शास्त्रों का अर्थ समझने की लेशमात्र भी शक्ति कहाँ से प्राप्त होती? इसप्रकार अनुवाद की समस्त शक्ति के मूल गुरुदेव श्री ही होने से वास्तव में तो गुरुदेव की अमृतवाणी का श्रोत ही उनके द्वारा प्राप्त अनमोल उपदेश ही – यथासमय इस अनुवादरूप में परिणमित हुआ है। जिनके शक्ति सिंचन तथा छत्रछाया से मैंने इस गहन शास्त्र के अनुवाद का साहस किया था और जिनकी कृपा से वह निर्विघ्न समाप्त हुआ है – उन परमपूज्य परमोपकारी गुरुदेव (श्री कानजी स्वामी) के चरणारविन्द में अत्यन्त भक्तिभाव पूर्वक वंदन करता हूँ।"

गुजराती भाषा के इस अनुवाद के आधार पर श्री मगनलालजी जैन ललितपुरवालों ने इस ग्रन्थ का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। उन्होंने सोनगढ़ से प्रकाशित अनेक ग्रन्थों का आधुनिक हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर से प्रकाशित तृतीयावृत्ति के संस्करण के आधार पर ऑफसेट पद्धति से हुआ है, अतः ग्रन्थ मूलतः ज्यों का त्यों ही है।

प्रकाशन समिति एवं ट्रस्ट के अनुरोध पर सुप्रसिद्ध चिन्तक एवं अनेक मौलिक कृतियों के प्रणेता डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल ने एक शोध-खोज पूर्ण प्रस्तावना लिखी है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द एवं उनकी इस कृति का प्रामाणिक परिचय वोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया है। हमें विश्वास है कि इससे विद्वानों के साथ-साथ आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों को भी लाभ मिलेगा।

इसप्रकार उक्त सभी महानुभावों के हम वहुत-वहुत आभारी हैं।

साथ ही श्री वावूभाई चुन्नीलाल मेहता एवं श्री नेमीचन्दजी पाटनी के भी हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने समय-समय पर हमें मार्गदर्शन दिया है।

इनके अलावा मुद्रण व्यवस्था में श्री सुरेन्द्रकुमारजी अग्रवाल, दिल्ली एवं श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स आदि महानुभावों द्वारा दिये गये सहयोग को भी हम भुला नहीं सकते।

यद्यपि प्रस्तुत प्रकाशन का लागत मूल्य १५) रुपया आया है, तथापि दानदाताओं की मदद एवं स्वयं ट्रस्ट की ओर से कीमत कम करने पर इस ग्रन्थ का विक्रय मूल्य मात्र १०) रुपया रखा गया है; अतः सभी दानदाताओं का भी हम हृदय से आभार मानते हैं। कीमत कम करनेवाले दानदाताओं की नामावली पृष्ठ आठ पर दी गई है।

यहाँ श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट तथा उसके साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग का, जिसने इन वड़े-वड़े शास्त्रों को प्रकाशित करने का संकल्प किया है; उसकी गतिविधियों का संक्षिप्त परिचय देना अप्रसाङ्गिक नहीं होगा :–

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट

भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव वर्ष में सोनगढ़ में सम्पन्न परमागम मंदिर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की छत्र-छाया में उनके मंगल आशीर्वाद से स्थापित श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट से अब दिगम्बर जैन समाज अपरिचित नहीं रहा है। तीर्थों एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा में तत्पर इस ट्रस्ट ने ७ वर्ष के इस अल्पकाल में ही दिगम्बर जैन समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इसका जन्म ही प्राकृतिक और अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा की पवित्र भावना से हुआ है। समाज से भी इसे आशातीत सहयोग प्राप्त हुआ है तथा इसने भी अपने कार्यों से समाज का मन मोह लिया है।

इस ट्रस्ट का रजिस्ट्रेशन १३ मार्च, १९७६ को बम्बई ट्रस्ट एक्ट के अन्तर्गत हुआ है।

इस ट्रस्ट के प्रमुखतः दो कार्य हैं, जो दिगम्बर जैन तीर्थ एवं जीवन्ततीर्थ जिनवाणी की सुरक्षा से सम्बन्धित हैं। इस दिशा में ट्रस्ट ने महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं :-

(१) तीर्थक्षेत्रों का जीर्णोद्धार

तीर्थक्षेत्रों पर होने वाले प्राकृतिक आक्रमणों से सुरक्षा हेतु उनका जीर्णोद्धार करना आवश्यक है। एतदर्थ विभिन्न क्षेत्रों को दिनाङ्क १५ जनवरी, १९८४ तक ५ लाख ५० हजार रुपयों की राशि ट्रस्ट की ओर से दी जा चुकी है।

(२) तीर्थ-सर्वेक्षण योजना

अप्राकृतिक आक्रमणों से तीर्थों की सुरक्षा हेतु सम्बन्धित वैधानिक दस्तावेजों का होना आवश्यक है, अतः एक तीर्थ-सर्वेक्षण योजना तैयार की गई है; जिसके अन्तर्गत क्षेत्र का प्रामाणिक इतिहास, आवश्यक दस्तावेज, चल-अचल सम्पत्ति का विवरण आदि जानकारी सुरक्षित रखी जाती है। तीर्थों की सुरक्षा एवं सर्वेक्षण योजना की सफलता हेतु कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने के लिए एक कार्यकर्त्ता प्रशिक्षण की योजना भी है।

(३) जिनवाणी की शोध, प्रकाशन एवं विक्रय

हमारे प्राचीन ग्रन्थ वर्तमान में यत्र-यत्र अव्यवस्थित और असुरक्षित रूप से पड़े-पड़े नष्ट हो रहे हैं, जिनकी सूची बनाकर उन्हें सुरक्षित रखना सर्वप्रथम कर्त्तव्य जानकर बैंगलौर एवं मद्रास में श्री जैन लिटरेचर रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना की गई है।

इस दिशा में श्री १००८ गोम्मटेश्वर बाहुबली सहस्त्राब्दी महोत्सव के अवसर पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, तमिल और कन्नड़ — इसप्रकार छः भाषाओं में सत्साहित्य प्रकाशित करके उसे लागत या उससे भी कम मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने की व्यवस्था की गई थी। एतदर्थ ट्रस्ट ने पाँच लाख से भी अधिक रुपये खर्च किये थे।

(४) श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय

जिसप्रकार सुयोग्य पुरातत्त्व एवं कानूनविद कार्यकर्त्ताओं के अभाव में तीर्थों की सुरक्षा सम्भव नहीं है, उसीप्रकार जिनागम के मर्मज्ञ विद्वानों के अभाव में जिनवाणी की सुरक्षा एवं प्रचार-प्रसार

भी सम्भव नहीं है – इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु नवीन पीढ़ी में अध्यात्मरुचि सम्पन्न ठोस विद्वान तैयार करने के लिए २४ जुलाई, १९७७ को श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की स्थापना की गई है।

निरन्तर अध्ययन-मनन-चिन्तन का वातावरण एवं एकमात्र आत्महित की तीव्ररुचि इस महाविद्यालय की मौलिक विशेषता है, जिसका वास्तविक श्रेय स्व० पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी द्वारा उत्पन्न आध्यात्मिक क्रान्ति को ही है, जिसके प्रभाव से लाखों व्यक्ति जिनागम के अभ्यास द्वारा आत्महित में तत्पर हुए हैं।

इस महाविद्यालय के छात्र श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत कॉलेज, जयपुर से माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, अजमेर की प्रवेशिका एवं उपाध्याय परीक्षा तथा राजस्थान विश्वविद्यालय की जैनदर्शन शास्त्री तथा आचार्य परीक्षा देते हैं; जो क्रमश: सेकेण्डरी, हायर सेकेण्डरी, बी०ए० तथा एम०ए० के समकक्ष हैं। इसके साथ ही बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद्, कलकत्ता की दिगम्बर न्याय प्रथमा, न्याय मध्यमा व न्यायतीर्थ एवं श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर की प्रवेशिका, विशारद आदि अनेक ग्रन्थश: परीक्षाओं में भी यहाँ के छात्र सम्मिलित होते हैं।

यह लिखते हुए अत्यन्त प्रसन्नता है कि प्रारम्भ से ही प्रतिवर्ष इस महाविद्यालय के छात्र बोर्ड एवं विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते आ रहे हैं।

विद्यार्थियों के आध्यात्मिक चिन्तन को प्रखर बनाने हेतु विद्वद्वर्य श्री लालचन्दभाई राजकोट, श्री जुगलकिशोरजी 'युगल' कोटा आदि विद्वानों को भी वर्ष में समय-समय पर आमन्त्रित करके छात्रों की आध्यात्मिक प्यास बुझाई जाती है।

उक्त अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ आध्यात्मिक वातावरण को निरन्तर गति प्रदान करने हेतु प्रवचन, अध्यापन, लेखन आदि का समुचित प्रशिक्षण एवं अन्य सम्पूर्ण कार्य डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के निर्देशन में होते हैं। छात्रों को जिनागम का ठोस विद्वान तैयार करने के साथ-साथ उनके जीवन को आध्यात्मिक, सात्त्विक, सदाचारमय व निष्पृही बनाना ही संस्था का मुख्य उद्देश्य है।

इस महाविद्यालय के प्राचार्य एवं मंत्री क्रमश: श्री पं० रतनचदजी शास्त्री एवं श्री नेमीचन्दजी पाटनी हैं। छात्रों के अध्यापन कार्य में श्री अभयकुमारजी शास्त्री एम० काम०, श्री राकेशकुमार जैन दर्शनाचार्य, श्री शान्तिकुमारजी पाटील जैनदर्शनाचार्य, श्री प्रेमचन्दजी जैनदर्शनाचार्य, श्री वीरसागरजी शास्त्री, श्रीमती कमलाबाई भारिल्ल, श्री परमेश्वरदासजी मिश्र आदि का भी सहयोग प्राप्त होता है।

इसप्रकार आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न विद्वान व प्रवचनकार की दृष्टि से विद्यार्थियों को तैयार किया जाता है। यह महाविद्यालय समाज को प्रतिवर्ष १२ विद्वान (शास्त्री) उपलब्ध कराता है।

(५) सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के स्वर्गवास के बाद यह बड़ी व्यग्रता से अनुभव किया जा रहा था कि बड़े-बड़े ग्रन्थों का प्रकाशन दुर्लभ-सा होता जा रहा है। एक तो इन ग्रन्थों के प्रकाशन में लाखों रुपयों की आवश्यकता होती है और दूसरे बहुत समय देने के साथ-साथ शुद्ध प्रकाशन की भी जिम्मेदारी होती है। इस दिशा में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर ने समयसार एवं मोक्षमार्गप्रकाशक जैसे बड़े बजट के ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्यभार अपने हाथों लिया और उनका प्रकाशन भी किया; परन्तु सभी संस्थाओं की अपनी-अपनी सीमायें हैं, मर्यादायें हैं।

इस क्षेत्र में श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट ने भी अपने 'जीवन्ततीर्थ जिनवाणी के प्रचार-प्रसार' के उद्देश्य की पूर्ति हेतु अनुकरणीय कदम उठाया। श्री वीतराग-विज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर, भीलवाड़ा के तुरन्त बाद १९ जून, १९८३ को श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में सम्पन्न तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट की मीटिंग में बड़े-बड़े ग्रन्थों के प्रकाशन एवं जिनवाणी का प्रचार-प्रसार सामाजिक स्तर पर घर-घर में हो – इस दृष्टि से विस्तृत विचार-विमर्श किया गया। तथा इस कार्य की पूर्ति हेतु 'साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग' नामक नया विभाग खोला गया; जिसका कार्यालय श्री टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर में रखा गया एवं उसकी व्यवस्था का भार मुझे सौंपा गया। इस विभाग के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने हेतु एक समिति का भी गठन हुआ, जिसमें निम्न सदस्य मनोनीत किये गये :–

१. श्री बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता
२. डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल
३. श्री नेमीचन्दजी पाटनी एवं
४. श्री रमणलाल माणेकलाल शाह

इस विभाग द्वारा समयसार नाटक एवं नियमसार का प्रकाशन तो हो ही चुका है पंचास्तिकायसंग्रह का यह प्रकाशन आपके हाथ में है; एवं मोक्षमार्गप्रकाशक का मुद्रण हो गया है, लेकिन बाइन्डिग बाकी है। इनके अलावा श्रुनभवनदीपक नयचक्र, समयसार प्रवचनसार व पंचास्तिकायसंग्रह की जयसेनाचार्यदेवकृत संस्कृत टीका, सप्तभङ्गी तरङ्गिणी आदि संस्कृत ग्रन्थों का प्रामणिक हिन्दी अनुवाद, परीक्षामुखसूत्र की सर्वोपयोगी हिन्दी टीका, चिद्विलास, अनुभवप्रकाश भावदीपिका आदि ढुंढारी भाषा के ग्रन्थों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद, श्रावकधर्मप्रकाश का नया संशोधित संस्करण इत्यादि प्रकाशनाधीन हैं।

साहित्य प्रकाशन के साथ ही इस विभाग के द्वारा गाँव-गाँव में तत्त्वप्रचार-प्रसार की गतिविधियों में सक्रियता लाने हेतु प्रचार विभाग के द्वारा आठ विद्वानों की नियुक्ति करने की योजना है – ये विद्वान गाँव-गाँव में भ्रमण करके प्रवचन, पाठशाला, स्वाध्याय, शिविर, युवावर्ग में तत्त्वरुचि इत्यादि तत्त्वप्रचार-प्रसार की विभिन्न महत्त्वपूर्ण गतिविधियों को अधिकतम सक्रिय बनायेंगे।

प्रचार कार्य हेतु विगत जुलाई, १९८३ से श्री अशोककुमारजी लुहाड़िया शास्त्री की एवं फरवरी, १९८४ से श्री रमेशकुमारजी 'मंगल' की नियुक्ति की गई है। इनके कार्यक्रम अत्यधिक सफल रहे हैं और समाज द्वारा सराहे भी गये हैं।

यह कहते हुए मुझे गौरव महसूस हो रहा है कि विगत सात वर्षो में हुई इस ट्रस्ट की सम्पूर्ण प्रगति का वास्तविक श्रेय ट्रस्ट के माननीय अध्यक्ष पण्डित श्री बाबूभाईजी मेहता को ही है, जो ट्रस्ट की समग्र गतिविधियों के प्राण हैं।

वर्तमान में आदरणीय श्री बाबूभाईजी की अस्वस्थता के समय पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा देश भर में घूम-घूमकर तत्त्वप्रचार-प्रसार के साथ-साथ ट्रस्ट का आर्थिक पक्ष और अधिक सुदृढ़ बनाने में सक्रिय हैं।

अन्त में पाठकों से सविनय अनुरोध है कि यदि उन्हें प्रस्तुत प्रकाशन में कहीं भी कोई त्रुटि प्रतीत हुई हो तो उससे अवगत कराने की कृपा अवश्य करें, जिससे भविष्य के प्रकाशनों में उनके प्रति सचेत रहा जा सके।

निवेदक :

राकेश कुमार जैन, शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य
मैनेजर, सत्साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग, जयपुर

दिनांक : १ मई, १९८४
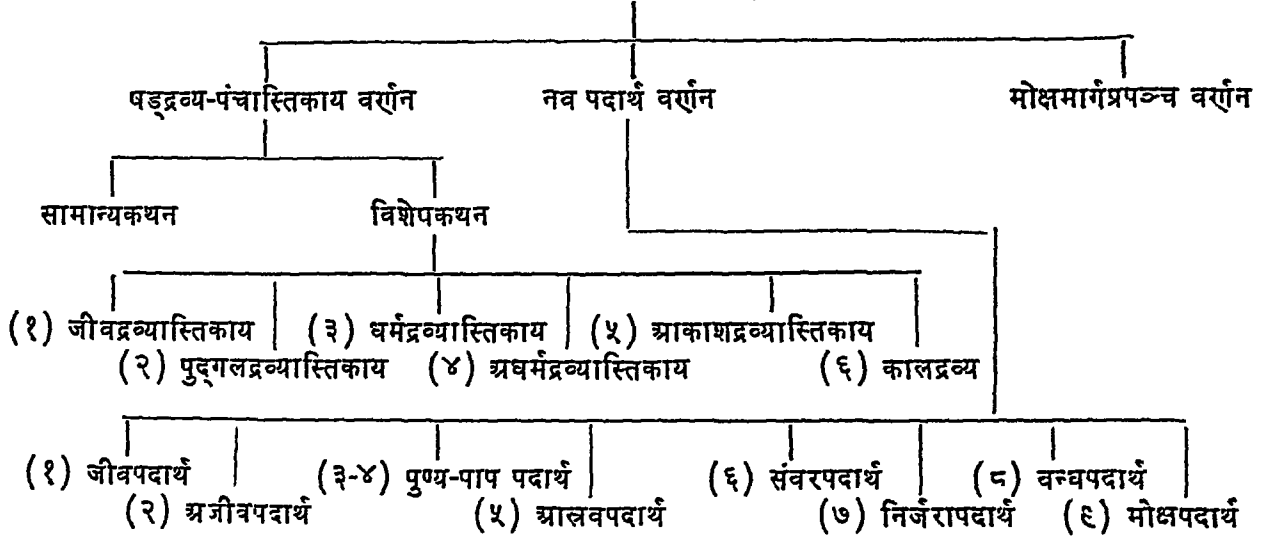
प्रस्तुत प्रकाशन की कीमत कम करनेवाले दातारों की नामावली

१.	श्रीमती मोहनीदेवी, ध० प० श्री रंगूलालजी जैन, दिल्ली	२,५०१)
२.	श्रीमती गुलकन्दाबेन, ध० प० श्री सुन्दरलालजी जैन, भिण्ड (म० प्र०)	५०१)
३.	श्री हुलासमलजी कासलीवाल, कलकत्ता	५०१)
४.	श्रीमती सन्तोषकुमारी जैन, ध० प० श्री सुरेन्द्रकुमारजी जैन, दिल्ली	५०१)
५.	श्रीमती चंपादेवी जैन, ध० प० श्री तखतराजजी जैन, कलकत्ता	३०१)
६.	श्रीमान् रावजी जीवराज शहा, फलटण (महा०)	२५१)
७.	गुप्तदान, हस्ते – श्री राकेशकुमारजी जैन शास्त्री जैनदर्शनाचार्य, जयपुर	२५१)
८.	श्रीमती सवितावेन माणिकलाल आर० गांधी, बम्बई	२५१)
९.	श्री छोटालालजी भीखाभाई, मेहता, बम्बई	२५१)
१०.	श्रीमती लीलावती छोटालालजी मेहता, बम्बई	२५१)
११.	गुप्तदान, हस्ते – श्री सोहनलालजी जैन, जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर	१७५)
१२.	श्री प्रेमचन्दजी जैन, महावीर टेन्ट हाउस, अजमेर (राज०)	१५१)
१३.	श्री इन्द्रचन्द्रजी विजयकुमारजी कौशल, छिन्दवाड़ा (म० प्र०)	१०८)
१४.	श्रीमती शशीप्रभा सोनी, हस्ते – श्री प्रेमचन्दजी संघी, जयपुर	१०१)
१५.	जयपुर शहर महिला मुलतान समाज, जयपुर	१०१)
१६.	श्रीमती रतनमालाजी जैन, दिल्ली	१०१)
१७.	श्री गट्टूलालजी कैलाशचन्दजी जैन, गुना (म० प्र०)	१०१)
१८.	श्री केसरीमलजी वेणीचन्दजी जैन, इन्दौर (म० प्र०)	१०१)
१९.	श्री शिखरचन्दजी त्रिलोकचन्दजी सोनी, अजमेर (राज०)	१०१)
२०.	स्व० श्रीमती गौराबाई, ध० प० श्री राजमलजी करैयावाले, विदिशा (म० प्र०)	१०१)
२१.	श्रीमती मनोरमादेवी जैन, जयपुर	५१)
२२.	श्रीमती उमरावदेवी साह, ध० प० श्री कंवरलालजी साह, जयपुर	५१)
		कुल : ६८०३

प्रस्तावना | # आचार्य कुन्दकुन्द और पंचास्तिकाय संग्रह

— डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

आचार्य कुन्दकुन्द

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है। दो हजार वर्ष से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

शास्त्रसभा में गद्दी पर बैठकर प्रवचन करते समय ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम के साथ-साथ यह उल्लेख भी आवश्यक माना जाता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की आम्नाय में रचा गया है। प्रवचन के आरम्भ में बोली जानेवाली उक्त पंक्तियाँ इसप्रकार हैं :—

"अस्य मूलग्रन्थकर्त्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीकुन्दकुन्दाम्नाये············विरचितम्। श्रोतारः सावधानतया श्रृणवन्तु।"

उक्त पंक्तियों के उपरान्त मंगलाचरणस्वरूप जो छन्द बोला जाता है, उसमें भी भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ एकमात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समग्र आचार्यपरम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किया जाता है, शेष सभी को 'आदि' शब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि जिसप्रकार हाथी के पैर में सभी के पैर समाहित हो जाते हैं, उसीप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में समग्र आचार्यपरम्परा समाहित हो जाती है। दिगम्बर परम्परा के प्रवचनकारों द्वारा प्रवचन के आरम्भ में मंगलाचरणस्वरूप बोले जानेवाला उक्त छन्द इसप्रकार है :—

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥"

दिगम्बर जिनमन्दिरों में विराजमान लगभग प्रत्येक जिनविम्ब (जिनप्रतिमा या जिन मूर्ति) पर 'कुन्दकुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है। परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको जिस श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, उससे भी यह पता चलता है कि दिगम्बर परम्परा में आपका स्थान बेजोड़ है। आपकी महिमा बतानेवाले शिलालेख भी उपलब्ध हैं।

कतिपय महत्त्वपूर्ण शिलालेख इसप्रकार हैं :-

"कुन्दपुष्प की प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणों के – चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के सुन्दर कर-कमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं।"[1]

"यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे मैं समझता हूँ कि वे अन्तर व बाह्य रज से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अर्थात् वे अन्तरंग में रागादिमल से तथा बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे।)"[2]

दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्यदेव के नाम एवं काम (महिमा) से जितना परिचित है, उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है। लोकेषणा से दूर रहनेवाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के वाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते। आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने भी अपने बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। 'द्वादशानुप्रेक्षा' में मात्र नाम का उल्लेख है।[3] इसीप्रकार 'बोधपाहुड़' में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करनेवाले श्रुतकेवली भद्रवाहु का शिष्य लिखा है।[4]

---

[1] वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः।
यश्चारु-चारण-कराम्बुज-चञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम्॥ (चन्द्रगिरि शिलालेख)

[2] ....कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीषः।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥ (विन्ध्यगिरि शिलालेख)

[3] द्वादशानुप्रेक्षा, गाथा ९०

[4] बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२

अतः उनके जीवन के संबंध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। बाह्य साक्ष्यों में भी उनके जीवन संबंधी विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। परवर्त्ती ग्रन्थकारों ने यद्यपि आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक किया है, शिलालेखों में भी उल्लेख पाये जाते हैं। उक्त उल्लेखों से आपकी महानता पर तो प्रकाश पड़ता है; तथापि उनसे भी आपके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती।

बाह्यसाक्ष्य के रूप में उपलब्ध ऐतिहासिक लेखों, प्रशस्तिपत्रों, मूर्तिलेखों, परम्परागत जनश्रुतियों एवं परवर्ती लेखकों के उल्लेखों के आधार पर विद्वानों द्वारा आलोढ़ित जो भी जानकारी आज उपलब्ध है, उसका सार-संक्षेप कुल मिलाकर इसप्रकार है :-

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विक्रम की प्रथम शताब्दी में कौण्डकुन्दपुर (कर्नाटक) में जन्मे कुन्दकुन्द अखिल भारतवर्षीय ख्याति के दिग्गज आचार्य थे। आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था? – यह तो ज्ञात नहीं, पर नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था।

विक्रम सम्वत् ४९ में आप नन्दिसंघ के पद पर आसीन हुए और मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये।[1] अत्यधिक सम्मान के कारण नाम लेने में संकोच की वृत्ति भारतीय समाज की अपनी सांस्कृतिक विशेषता रही है। महापुरुषों को गाँव के नामों या उपनामों से संबोधित करने की वृत्ति भी इसी का परिणाम है। कौण्डकुन्दपुर के वासी होने से आपको भी कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुतिमधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया।

यद्यपि 'आचार्य' पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुलमिल गया कि वह नाम का ही एक अंग हो गया। इस सन्दर्भ में चन्द्रगिरि पर्वत के शिलालेखों में अनेकों बार समागत निम्नांकित छन्द उल्लेखनीय हैं :-

"श्रीमन्मुनीन्द्रोत्तमरत्नवर्गा श्री गौतमाद्यार्प्रभविष्णवस्ते।
तत्राम्बुधौ सप्तमहर्द्धि-युक्तास्तत्सन्ततौ नन्दिगणे वभूव ॥३॥
श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्य्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसञ्जातसुचारर्णाद्धि ॥४॥"[2]

---

[1] नन्दिसंघ की पट्टावली

[2] जैन शिलालेख संग्रह, पृष्ठ ३४, ४३, ५८ एवं ७१

मुनीन्द्रों में श्रेष्ठ प्रभावशाली महर्द्धिक गौतमादि रत्नों की रत्नाकर आचार्य परम्परा में नन्दिगण में, श्रेष्ठ चरित्र के धनी, चारण ऋद्धिधारी पद्मनन्दी नाम के मुनिराज हुए, जिनका दूसरा नाम – आचार्य शब्द है अंत में जिसके – ऐसा कौण्डकुन्द था अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य था ।"

उक्त छन्दों में तीन बिन्दु अत्यन्त स्पष्ट हैं :–

(१) गौतम गणधर के बाद किसी अन्य का उल्लेख न होकर कुन्दकुन्द का ही उल्लेख है, जो दिगम्बर परम्परा में उनके स्थान को सूचित करता है ।

(२) उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी ।

(३) उनका पद्मनन्दी प्रथम नाम था और दूसरा नाम कुन्दकुन्दाचार्य था । 'आचार्य' शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि 'आचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः' पद से अत्यन्त स्पष्ट है । यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ, परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूल नाम भी विस्मृत-सा हो गया ।

उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य एवं गृद्धपृच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं ।[1] इस सन्दर्भ में विजयनगर के एक शिलालेख में एक श्लोक पाया जाता है, जो इसप्रकार है :–

"आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपृच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ।।"[2]

उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है । जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम लोग जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें ?

कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य के भाग्यशाली गुरु कौन थे ? – इस सन्दर्भ में अन्तर्साक्ष्य के रूप में बोधपाहुड़ की जो गाथाएँ उद्धृत की जाती हैं, वे इसप्रकार हैं :–

"सद्दवियारो भूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं ।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ।।६१।।
बारस अंगवियाणं चउदस पुवंग विउल वित्थरणं ।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ।।६२।।

[1] श्रुतसागर सूरिः षट्प्राभृत टीका, प्रत्येक प्राभृत की अंतिम पंक्तियाँ
[2] जैन सिद्धान्त भाग १, किरण ४ (तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ १०२)

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है; उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है।

बारह अंग और चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।"

प्रथम (६१वीं) गाथा में यह बात यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है कि बोधपाहुड़ के कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द भद्रबाहु के शिष्य हैं, तथापि दूसरी (६२वीं) गाथा जहाँ यह बताती है कि वे भद्रबाहु ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के ज्ञाता पंचम श्रुतकेवली ही हैं, वहाँ यह भी बताती है कि वे कुन्दकुन्द के गमकगुरु (परम्परागुरु) हैं, साक्षात् गुरु नहीं।

इसीप्रकार का भाव समयसार की प्रथम गाथा में भी प्राप्त होता है, जो कि इसप्रकार है :-

"वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को वंदन करके श्रुतकेवली द्वारा कथित समयप्राभृत को कहूँगा।"

इसप्रकार तो उन्हें भगवान महावीर का भी शिष्य कहा जा सकता है क्योंकि वे भगवान महावीर की शासन परम्परा के आचार्य हैं। इस संदर्भ में दर्शनसार की निम्न गाथा पर भी ध्यान देना चाहिए :-

"जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

यदि सीमंधरस्वामी (महाविदेह में विद्यमान तीर्थंकरदेव) से प्राप्त हुए दिव्यज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्य) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे प्राप्त करते?"

क्या इस गाथा के आधार पर उन्हें सीमन्धर भगवान का शिष्य कहा जाय? यहाँ प्रश्न इस बात का नहीं है कि उन्हें कहाँ-कहाँ से ज्ञान प्राप्त हुआ था, वस्तुतः बात यह है कि उनके दीक्षागुरु कौन थे, उन्हें आचार्यपद किससे प्राप्त हुआ था?

जयसेनाचार्यदेव ने इस ग्रन्थ की टीका में उन्हें कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव का शिष्य बताया है और नन्दिसंघ की पट्टावली[1] में जिनचन्द्र का शिष्य बताया गया है;

[1] जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १, किरण ४, पृष्ठ ७८

किन्तु इन कुमारनन्दी और जिनचन्द्र का भी नाममात्र ही ज्ञात है, इनके सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। हो सकता है आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय वालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, वाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे जिनचन्द्राचार्य नाम से विश्रुत हुए हों। पट्टावली में जिनचन्द्र नामोल्लेख होने का यह कारण भी हो सकता है। पट्टावली में माघनन्दी, जिनचन्द्र और पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द) क्रम आता है। नन्दिसंघ में नन्द्यन्त् (नन्दी है अन्त में जिसके) नाम होना सहज प्रतीत होता है।

पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका के आरंभ में समागत जयसेनाचार्य का कथन मूलतः इसप्रकार है :-

"अथ श्री कुमारनंदिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतराग-सर्वज्ञश्रीसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणाव-धारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थमथवा शिवकुमारमहाराजादि-संक्षेपरुचिशिष्यप्रतिवोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकार-शुद्धिपूर्वकं तात्पर्यार्थव्याख्यानं कथ्यते।

श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेव के शिष्य प्रसिद्धकथान्याय से पूर्वविदेह जाकर वीतराग-सर्वज्ञ श्रीसीमन्धरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर उनके मुखकमल से निसृत दिव्यध्वनि के श्रवण से शुद्धात्मादि तत्त्वों के साथ पदार्थों को अवधारण कर – ग्रहण कर समागत श्री पद्मनन्दी आदि हैं अपरनाम जिनके, उन श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के द्वारा अन्तस्तत्त्व और वहिर्तत्त्व को गौण और मुख्य प्रतिपत्ति के लिए अथवा शिवकुमारमहाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए रचित पञ्चास्तिकायप्राभृत शास्त्र में अधिकारों के अनुसार यथाक्रम से तात्पर्यार्थ का व्याख्यान किया जाता है।"

उक्त उद्धरण में प्रसिद्धकथान्याय के आधार पर कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा भी की गई है, जिससे यह प्रतीत होता है कि आचार्य जयसेन के समय (विक्रम की वारहवीं शताव्दी में) यह कथा अत्यधिक प्रसिद्ध थी।

विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य देवसेन के दर्शनसार में समागत गाथा में भी कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा की गई है। दर्शनसार के अन्त में लिखा है कि मैंने यह दर्शनसार ग्रन्थ पूर्वाचार्यों की गाथाओं का संकलन करके वनाया है। इस स्थिति में

यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा करनेवाली गाथा भी दसवीं शताब्दी के बहुत पहले की हो सकती है।

इस सन्दर्भ में श्रुतसागर सूरि का निम्नांकित कथन भी दृष्टव्य है :–

श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितसीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञानसंबोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे······

श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य एवं गृद्धपिच्छाचार्य – पंचनामधारी; जमीन से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की ऋद्धिधारी; पूर्वविदेह की पुण्डरीकणी नगरी में विराजित सीमन्धर अपरनाम स्वयंप्रभ तीर्थंकर से प्राप्त ज्ञान से भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को संबोधित करनेवाले; श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण; कलिकालसर्वज्ञ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ में······।"

उक्त कथन में कुन्दकुन्द के पाँच नाम, पूर्वविदेहगमन, आकाशगमन और जिनचन्द्राचार्य के शिष्यत्व के अतिरिक्त उन्हें कलिकालसर्वज्ञ भी कहा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं का अवलोकन भी आवश्यक है।

'ज्ञान प्रबोध' में प्राप्त कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :–

"मालवदेश वारापुर नगर में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नामक एक वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नामक पुत्र भी था। वालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुए जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किए और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर भगवान को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवसरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करनेवाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है? – यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के पूर्वभव के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छि गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपृच्छिका से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, पर वह मार्ग में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि-गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है।

अन्त में अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदानकर वे स्वर्गवासी हो गये।"

एक कथा 'पुण्यास्रव कथाकोष' में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है :–

"भरतखण्ड के दक्षिणदेश में 'पिडथनाडू' नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत कुरुमरई नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ एक ग्वाला रहता था, जो उनके पशु चराया करता था। उस ग्वाले का नाम मतिवरण था। एक दिन जब वह अपने पशुओं को एक जंगल में ले जा रहा था, उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल दावाग्नि से जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि इस आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले आया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर में एक पवित्र स्थान पर विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसीसमय उस ग्वाले ने वह आगम उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा। तब तक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।"

इसके बाद पूर्वविदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

इसी से मिलती-जुलती कथा आराधनाकथाकोश में प्राप्त होती है।

आचार्य देवसेन, जयसेन एवं भट्टारक श्रुतसागर जैसे दिग्गज आचार्यों एवं विद्वानों के सहस्राधिक वर्ष प्राचीन उल्लेखों एवं उससे भी प्राचीन प्रचलित कथाओं की उपेक्षा सम्भव नहीं है, विवेक सम्मत भी नहीं कही जा सकती।

अतः उक्त उल्लेखों और कथाओं के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर आचार्य परम्परा के चूड़ामणि हैं। विगत दो हजार वर्षों में हुए दिगम्बर आचार्यों, सन्तों, आत्मार्थी विद्वानों एवं आध्यात्मिक साधकों के आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं; भगवान महावीर और गौतम गणधर के समान प्रातःस्मरणीय रहे हैं, कलिकाल सर्वज्ञ के रूप में स्मरण किये जाते रहे हैं। उन्होंने इसी भव में सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर अरहन्त परमात्मा के दर्शन किए थे, उनकी दिव्यध्वनि का साक्षात् श्रवण किया था, उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त थी। तभी तो कविवर वृन्दावनदास को कहना पड़ा :–

"हुए हैं, न होंहिंगे; मुनिन्द कुन्दकुन्द से।[1]

विगत दो हजार वर्षों में कुन्दकुन्द जैसे प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, पीढ़ियों तक प्रकाश बिखेरनेवाले समर्थ आचार्य न तो हुए ही हैं और पंचम काल के अन्त तक होने की संभावना भी नहीं है।"

भगवान महावीर की उपलब्ध प्रामाणिक श्रुतपरम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के अद्वितीय योगदान की सम्यक् जानकारी के लिए पूर्वपरम्परा का सिंहावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। समयसार के आद्य भाषाटीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा समयसार की उत्पत्ति का सम्बन्ध बताते हुए लिखते हैं :–

---

[1] प्रवचनसार परमागम (प्रवचनसार छन्दानुवाद)

"यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रन्थ है। उसकी आत्मख्याति नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति का सम्बन्ध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक श्री वर्धमानस्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुए, उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहुस्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, बाद में काल-दोष से अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए, जिनमें श्वेताम्बर हुए; उन्होंने शिथिलाचार पोषण करने के लिए अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार पोषक अनेक कथायें लिखकर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया – यह सम्प्रदाय अब तक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे; उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही; वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी हुए; उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुए, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुए, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्मप्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी काल-दोष से बुद्धि की मन्दता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्डसूत्र की रचना करके पुस्तकरूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुए, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र बनाये।

इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसार पर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है; इस ही नय को अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्मभाषा में अशुद्धनिश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहुस्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उनसे उस प्राभृत

को नागहस्ती नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छह हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुए। इसतरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्मभाषा में आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्धनिश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जब तक पर्यायबुद्धि रहती है, तब तक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन होता है; तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उपदेश करनेवाले पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है।

काल-दोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है, उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है; अतः मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार अन्य ग्रन्थों का अभ्यास करके इस ग्रन्थ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारम्भ किया है।

जो भव्यजीव इसका वाँचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे; उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है, अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मन्दता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूलग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वाँचन करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।"[१]

---

[१] समयसार प्रस्तावना

इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द का अवतरण उससमय हुआ, जब भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखरप्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इससमय वरती गई किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूलमार्ग के लिए घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्म-शास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा हो ही रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासकरूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभो ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बरभाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है; क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर वन्धुओं ने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पण्डित वनारसीदास एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के द्वारा तो कुन्दकुन्द के शास्त्रों के माध्यम से लाखों श्वेताम्बरभाइयों को भी दिगम्बर धर्म के प्रति श्रद्धालु बनाया गया है।

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर परम्परा के शिरमौर हैं एवं उनके ग्रन्थ दिगम्बर साहित्य की अनुपम निधि हैं; तथापि वर्तमान दिगम्बर जैन समाज उनसे अपरिचित-सा ही था। दिगम्बर समाज की स्थिति का सही रूप जानने के लिए पण्डित कैलाशचन्दजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का निम्नलिखित कथन दृष्टव्य है :–

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्रसभा में शास्त्र बाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाममात्र तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले अत्यन्त विरले थे। आज भी दिगम्बर जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा, जब श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ; अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्बर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[1]

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के साथ-साथ इस युग में कुन्दकुन्द को जन-जन तक पहुँचानेवाले पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर तो अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने साक्षात् उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर प्रवचन सुने हैं और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर पैंतालीस वर्ष तक अनवरतरूप से किये गये उनके प्रवचन टेंपों एवं पुस्तकों के रूप में हमें आज भी उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी ने आचार्य कुन्दकुन्द रचित परमागमों पर मात्र सरस प्रवचन ही नहीं किये, अपितु उक्त परमागमों के सस्ते सुलभ मनोज्ञ प्रकाशन भी कराये; तथा सोनगढ़ (जिला – भावनगर, गुजरात) में श्री महावीर कुन्दकुन्द परमागम मन्दिर का निर्माण कराके, उसमें संगमरमर के पाटियों पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय और नियमसार संस्कृत टीका सहित तथा अष्टपाहुड़ उत्कीर्ण कराकर उन्हें भौतिक दृष्टि से अमर कर दिया है। उक्त परमागम मन्दिर आज एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है।

पवित्रता और पुण्य के अद्भुत संगम इस महापुरुष (कानजी स्वामी) के मात्र प्रवचन ही नहीं, अपितु व्यवस्थित जीवन भी अध्ययन की वस्तु है; उसका अध्ययन किया जाना स्वतंत्ररूप से अपेक्षित है, तत्सम्बन्धी विस्तार न तो यहाँ सम्भव ही है और न उचित ही।

[1] जैनसन्देश, ४ नवम्बर १९७६, सम्पादकीय

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है :-

(१) समयसार (समयपाहुड़) (२) प्रवचनसार (पवयणसार)
(३) नियमसार (णियमसार) (४) पंचास्तिकायसंग्रह (पंचत्थिकायसंग्रह)
(५) अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड़)

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दशभक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरल काव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।[1]

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं होती।

इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि आपने चौरासी पाहुड़ लिखे थे, किन्तु आज तक उक्त साहित्य के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अष्टपाहुड़ में निम्नलिखित आठ पाहुड़ संगृहीत हैं –

(१) दंसणपाहुड़ (२) सुत्तपाहुड़ (३) चारित्तपाहुड़ (४) बोधपाहुड़
(५) भावपाहुड़ (६) मोक्खपाहुड़ (७) लिंगपाहुड़ एवं (८) सीलपाहुड़

समयसार जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थराज परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। उक्त तीनों को नाटकत्रयी, प्राभृतत्रयी और कुन्दकुन्दत्रयी भी कहा जाता है।

उक्त तीनों ग्रन्थराजों पर कुन्दकुन्द के लगभग एक हजार वर्ष बाद एवं आज से एक हजार वर्ष पहले आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने संस्कृत भाषा में गम्भीर टीकायें लिखी हैं। समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई टीकाओं के सार्थक नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्वप्रदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' हैं।

इन पर आचार्य अमृतचन्द्र से लगभग तीन सौ वर्ष बाद हुए आचार्य जयसेन द्वारा लिखी गई 'तात्पर्यवृत्ति' नामक सरल-सुबोध संस्कृत टीकायें भी उपलब्ध हैं।

---

[1] रयणसार प्रस्तावना

नियमसार पर परमवैरागी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विक्रम की बारहवीं सदी में संस्कृत भाषा में 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका लिखी, जो वैराग्यभाव एवं शान्तरस से सराबोर है, भिन्न प्रकार की अद्भुत टीका है ।

अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ों पर विक्रम की सोलहवीं सदी में लिखी गई भट्टारक श्रुतसागर सूरि की संस्कृत टीका प्राप्त होती है, जो षट्पाहुड़ नाम से प्रकाशित हुई । षट्पाहुड़ कोई स्वतन्त्र कृति नहीं है, अपितु अष्टपाहुड़ के आरंभिक छह पाहुड़ ही षट्पाहुड़ नाम से जाने जाते हैं ।

यहाँ इन सब पर विस्तृत चर्चा करना न तो संभव है और न आवश्यक ही । यहाँ तो अब प्रस्तुत कृति पंचास्तिकायसंग्रह के प्रतिपाद्य पर दृष्टिपात करना प्रसंग प्राप्त है ।

पंचास्तिकायसंग्रह

आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्य द्वारा प्रणीत यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक ग्रन्थ जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म का प्रवेश द्वार है । इसमें जिनागम में प्रतिपादित द्रव्यव्यवस्था व पदार्थव्यवस्था का संक्षेप में प्राथमिक परिचय दिया गया है ।

जिनागम में प्रतिपादित द्रव्य एवं पदार्थ व्यवस्था की सम्यक् जानकारी बिना जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म में प्रवेश पाना संभव नहीं है । अतः यह 'पंचास्तिकाय-संग्रह' नामक ग्रन्थ सर्वप्रथम स्वाध्याय करने योग्य है ।

इसकी रचना भी शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले प्राथमिक शिष्यों के लिए ही की गई थी । जैसा कि जयसेनाचार्य के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :–

"अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकाय-प्राभृतशास्त्रे······।[1]

अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेपरुचि वाले शिष्यों को समझाने के लिए विरचित पंचास्तिकायप्राभृत शास्त्र में······।"

महाश्रमण तीर्थंकरदेव की वाणी दिव्यध्वनि या प्रवचन का सार ही इस ग्रन्थ में संक्षेप में गुम्फित किया गया है । अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा गया है ।

---

[1] जयसेनाचार्य कृत पंचास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका का प्रारम्भिक अंश

इस सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं :–

"मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।।१७३।।
एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता ।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ।।१०३।।

जिनप्रवचन के सारभूत इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' सूत्र को मेरे द्वारा मार्ग की प्रभावना हेतु जिनप्रवचन की भक्ति से प्रेरित होकर ही कहा गया है ।

इसप्रकार जिनप्रवचन के सारभूत इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर जो राग-द्वेष को छोड़ता है, वह दुःख से मुक्त हो जाता है ।"

उक्त प्रथम गाथा (१७३) की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं :–

"परमागमानुरागवेगप्रचलितमनसा संक्षेपतः समस्तवस्तुतत्त्वसूचकत्वादति-विस्तृतस्यापि प्रवचनस्य सारभूतं पंचास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत्सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्र-मिदमभिहितं मयेति ।

परमागम के अनुराग के वेग से चलायमान मन वाले मुझ कुन्दकुन्द द्वारा भगवान सर्वज्ञ द्वारा कहा गया और समस्त वस्तुतत्त्व का सूचक होने से अत्यन्त विस्तृत जिन-प्रवचन का सारभूत यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक सूत्र ग्रन्थ संक्षेप में कहा गया है ।"

इस ग्रन्थ के स्पष्टरूप से दो खण्ड हैं, जिन्हें 'समयव्याख्या' नामक टीका में आचार्य अमृतचन्द्र 'श्रुतस्कन्ध' नाम से अभिहित करते हैं; जैसा कि दोनों खण्डों की उपसंहारात्मक अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है ।[1]

प्रथम खण्ड (श्रुतस्कन्ध) में षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय का वर्णन है और द्वितीय खण्ड (श्रुतस्कन्ध) में नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है ।

प्रथम और दूसरे खण्ड की सन्धि स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रथम खण्ड के अन्त में और दूसरे खण्ड के आरम्भ में एक छन्द दिया है, जो इसप्रकार है :–

"द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम् ।
पदार्थभंगेन कृतावतारं प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य ।।७।।

[1] (i) इति समयव्याख्यायामंतर्णीतषड्द्रव्यपंचास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।
(ii) इति समयव्याख्यायां नवपदार्थपुरस्सरमोक्षमार्गप्रपंचवर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।

प्रथम खण्ड में अब तक द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा बुधपुरुषों को शुद्धतत्त्व का उपदेश दिया गया। अब पदार्थभेद द्वारा आरम्भ करके उस शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति का मार्ग दिखाया जाता है।"

उक्त छोटे से छन्द में दोनों खण्डों में प्रतिपाद्य विषय को तो स्पष्ट किया ही गया है, साथ ही दोनों के मूल प्रयोजन को भी स्पष्ट कर दिया गया है। प्रथमखण्ड के समस्त प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्मतत्व का सम्यक् ज्ञान कराना है; तथा दूसरे खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थ-विज्ञान पूर्वक मुक्ति का मार्ग अर्थात् उक्त शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

उक्त दोनों खण्ड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतंत्र ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतंत्र मंगलाचरण किये गये हैं। प्रथमखण्ड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसप्रकार कर दिया गया है कि जैसे ग्रन्थ समाप्त ही हो गया हो। प्रथम खण्ड की समाप्ति पर ग्रन्थ के अध्ययन का फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। दूसरा खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानो ग्रन्थ का ही आरम्भ हो रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयव्याख्या' नामक टीका के मंगलाचरण के साथ ही तीन श्लोकों द्वारा पंचास्तिकायसंग्रह के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया है, जो कि इसप्रकार है :-

"पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृताकृतम् ॥४॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥५॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥६॥

यहाँ सबसे पहले सूत्रकर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मूलपदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्य के रूप में निरूपण किया है।

इसके बाद दूसरे खण्ड में जीव और अजीव – इन दो की पर्यायों रूप नव पदार्थों की विभिन्न प्रकार की व्याख्या का प्रतिपादन किया है।

इसके बाद दूसरे खण्ड के अन्त में चूलिका के रूप में तत्व के परिज्ञानपूर्वक (पंचास्तिकाय, षट्द्रव्य एवं नवपदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक) त्रयात्मक मार्ग से (सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकता से) कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है।"

तात्पर्यवृत्तिकार आचार्य जयसेन इस ग्रन्थ को तीन महा-अधिकारों में विभक्त करते हैं। आचार्य जयसेन द्वारा विभाजित प्रथम महा-अधिकार तो आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा विभाजित प्रथम श्रुतस्कन्ध के अनुसार ही है। अमृतचन्द्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध को जयसेनाचार्य ने द्वितीय एवं तृतीय ऐसे दो महाधिकारों में विभक्त कर दिया है। उसमें भी कोई विशेष बात नहीं है। बात मात्र इतनी ही है कि जिसे अमृतचन्द्र 'मोक्षमार्गप्रपञ्चचूलिका' कहते हैं, उसे ही जयसेनाचार्य तृतीय महा-अधिकार कहते हैं।

प्रथम श्रुतस्कन्ध (प्रथम खण्ड) या प्रथम महा-अधिकार में सर्वप्रथम छब्वीस गाथाओं में मंगलाचरण एवं ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा के उपरान्त षट्द्रव्य एवं पंचास्तिकाय के सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका दी गई है।

इस पीठिका में जीवादि पाँच आस्तिकायों का अस्तित्व और कायत्व जिस सुन्दरता के साथ बताया गया है, वह मूलतः पठनीय है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व अथवा गुण-पर्यायत्व के कारण अस्तित्व एवं वहुप्रदेशत्व के कारण कायत्व सिद्ध किया गया है।

'आस्तिकाय' शव्द अस्तित्व और कायत्व का द्योतक है। अस्तित्व+कायत्व = अस्तिकाय। इसप्रकार अस्तिकाय शव्द अस्तित्व और कायत्व का द्योतक है। अस्तित्व को सत्ता अथवा सत् भी कहते हैं। यही सत् द्रव्य का लक्षण कहा गया है, जो कि उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व से युक्त होता है। इसी सत् या सत्ता की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ध्यान रहे, इसी सत् – सत्ता या अस्तित्व को द्रव्य का लक्षण माना गया है, कायत्व को नहीं। द्रव्य के लक्षण में कायत्व को सम्मिलित कर लेने पर कालद्रव्य द्रव्य ही नहीं रहता, क्योंकि उसमें कायत्व (वहुप्रदेशीपना) नहीं है।

इसके बाद १२-१३वीं गाथा में गुण और पर्यायों का द्रव्य के साथ भेदाभेद दर्शाया गया है और १४वीं गाथा में तत्सम्वन्धी सप्तभंगी स्पष्ट की गई है। तदुपरान्त सत् का नाश और असत् का उत्पाद सम्वन्धी स्पष्टीकरणों के साथ २०वीं गाथा तक पंचास्तिकायद्रव्यों का सामान्य निरूपण हो जाने के वाद २६वीं गाथा तक कालद्रव्य का निरूपण किया गया है।

इसके वाद छहद्रव्यों एवं पंचास्तिकायों का विशेष व्याख्यान आरम्भ होता है। सवसे पहले जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान है, जो अत्यधिक महत्वपूर्ण होने से सर्वाधिक स्थान लिए हुए है और ७३वीं गाथा तक चलता है। ४७ गाथाओं में फैले इस प्रकरण में

आत्मा के स्वरूप को जीवत्व, चेतयित्व, उपयोगत्व, प्रभुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, देहप्रमाणत्व, अमूर्तत्व और कर्मसंयुक्तत्व के रूप में स्पष्ट किया गया है।

उक्त सभी विशेषणों से विशिष्ट आत्मा को संसार और मुक्त – दोनों अवस्थाओं पर घटित करके समझाया गया है।

इसके बाद ९ गाथाओं में पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का वर्णन है और ७ गाथाओं में धर्म-अधर्म दोनों ही द्रव्यास्तिकायों का वर्णन है, तथा ७ गाथाओं में ही आकाश-द्रव्यास्तिकाय का निरूपण किया गया है। इसके बाद तीन गाथाओं की चूलिका है, जिसमें उक्त पंचास्तिकायों का मूर्तत्व-अमूर्तत्व, चेतनत्व-अचेतनत्व बतलाया गया है।

तदनन्तर तीन गाथाओं में कालद्रव्य का वर्णन कर अन्तिम दो गाथाओं में प्रथम श्रुतस्कन्ध अथवा प्रथम महा-अधिकार का उपसंहार करके इसके अध्ययन का फल बताया गया है।

इसप्रकार १०४ गाथाओं का प्रथमश्रुतस्कन्ध समाप्त होता है।

१०५वीं गाथा से द्वितीय श्रुतस्कन्ध आरम्भ होता है। प्रथम गाथा (१०५) में मंगलाचरण के उपरान्त दूसरी व तीसरी गाथा (१०६ व १०७) में मोक्ष के मार्गस्वरूप सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र का निरूपण किया गया है। आगे चलकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान के विषयभूत नवपदार्थों का वर्णन आरम्भ होता है, जो कि इस खण्ड का मूल प्रतिपाद्य है। मोक्षमार्ग का कथन तो नवपदार्थों के उपोद्घात के लिए किया गया है। इस बात का उल्लेख आचार्य अमृतचन्द्र ने १०७वीं गाथा की टीका के अन्त में स्वयं किया है।

यह प्रारम्भ उमास्वामी के तत्वार्थसूत्र जैसा ही है। उसमें भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान से बात उठाकर उनके विषयभूत जीवादि तत्त्वार्थों का ही निरूपण किया गया है।

प्रारम्भ तत्वार्थसूत्र जैसा होकर भी तत्वार्थों का क्रम समयसार के क्रमानुसार ही दिया गया है। तत्वार्थों के नाम-क्रम को दर्शानेवाली मूल गाथा इसप्रकार है :–

"जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा ।।१०८।।

जीव और अजीव दो भाव तथा उनके विशेष पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नव पदार्थ हैं।"

इनका निरूपण भी आगे इसी क्रमानुसार है; अतः यह भी नहीं माना जा सकता कि छन्दानुरोधवश यह रखा गया होगा। लगता है आचार्य कुन्दकुन्द को यही क्रम इष्ट है।

१०९वीं गाथा से जीवपदार्थ का निरूपण आरम्भ होता है और १२३वीं गाथा तक चलता है। इसमें सर्वप्रथम जीव के संसारी और मुक्त भेद किये गये हैं। फिर संसारियों के एकेन्द्रियादिक भेदों का वर्णन है।

एकेन्द्रिय के वर्णन में विशेष जानने योग्य बात यह है कि इसमें वायुकायिक और अग्निकायिक को त्रस कहा गया है। यह कथन उनकी हलन-चलन क्रिया देखकर 'त्रसन्तीति त्रसाः – जो चले-फिरे सो त्रस' – इस निरुक्ति के अनुसार किया गया अर्थ ही जानना चाहिए। 'द्वीन्दियादयः त्रसाः' – इस तत्वार्थसूत्रवाली परिभाषा को यहाँ घटित नहीं करना चाहिए।

अन्त में सिद्धों की चर्चा है। साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि ये सब कथन व्यवहार का है, निश्चय से ये सब जीव नहीं है।

उक्त कथन करनेवाली मूल गाथा इसप्रकार है :–

"ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ॥१२१॥

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और जिनागम में पृथ्वीकायादि छह प्रकार की कायें भी जीव नहीं है; उनमें रहनेवाला ज्ञान ही जीव है – ज्ञानीजनों द्वारा ऐसी ही प्ररूपणा की जाती है।"

१२४वीं गाथा से १२७वीं गाथा तक अजीव पदार्थ का वर्णन है। जिसमें बताया गया है कि सुख-दुःख के ज्ञान तथा हित के उद्यम और अहित के भय से रहित पुद्गल व आकाशादि द्रव्य अजीव हैं। संस्थान, संघात, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णादि गुण व पर्यायें पुद्गल की हैं; आत्मा तो इनसे भिन्न अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अव्यक्त इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य एवं अनिर्दिष्टसंस्थानवाला है।

ध्यान रहे, आचार्य कुन्दकुन्द के पाँचों परमागमों में प्राप्त होने वाली 'अरसम-रूवमगंधं' आदि गाथा पंचास्तिकाय की १२७वीं गाथा है और अजीव पदार्थ के व्याख्यान में आयी है। इस गाथा की टीका के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्धयर्थं प्रतिपादित इति।

इसप्रकार यहाँ जीव और अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के हेतु प्रतिपादित किया गया।"

उक्त जीव और अजीव मूलपदार्थों के व्याख्यान के बाद उनके संयोग परिणाम से निष्पन्न शेष सात पदार्थों के उपोद्घात के लिए तीन गाथाओं में जीवकर्म (भावकर्म) और पुद्गलकर्म (द्रव्यकर्म) के दुष्चक्र का वर्णन किया गया है। इसके बाद चार गाथाओं में पुण्य-पाप पदार्थ का व्याख्यान किया है।

इसके बाद छह गाथाओं (१३५ से १४०) में आस्रव पदार्थ का निरूपण है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि आस्रव के कारणों में अरिहंतादि की भक्ति को भी गिनाया है। उक्त प्रकरण में समागत भक्ति के संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है :–

"अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।[1]

इसप्रकार का राग मुख्यरूप से मात्र भक्ति की प्रधानता और स्थूल लक्षवाले अज्ञानियों को होता है। उच्चभूमिका में स्थिति न हो तो तब तक अस्थान का राग रोकने अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के हेतु से कदाचित् ज्ञानियों को भी होता है।"

इसीप्रकार १३७वीं गाथा की समयव्याख्या नामक टीका में समागत अनुकम्पा का स्वरूप भी दृष्टव्य है :–

"अनुकम्पास्वरूपाख्यानमेतत्। कश्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्यं करुणया तत्प्रति चिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विरहमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनः खेद इति।

यह अनुकम्पा के स्वरूप का कथन है। किसी तृषादि दुःख से पीड़ित प्राणी को देखकर करुणा के कारण उसका प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता होना अज्ञानी की अनुकम्पा है। ज्ञानी की अनुकम्पा तो निचली भूमिका में विचरते हुए स्वयं को विकल्प के काल में जन्मार्णव में निमग्न जगत को देखकर मन में किंचित् खेद होना है।"

इसके बाद १४१वीं गाथा से तीन गाथाओं में संवर एवं तीन गाथाओं में निर्जरा पदार्थ का निरूपण है। निर्जरा पदार्थ के व्याख्यान में ध्यान पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि सर्वाधिक निर्जरा ध्यान में ही होती है।

इसके बाद तीन गाथाओं में बंध एवं चार गाथाओं में मोक्षपदार्थ का वर्णन है।

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३६ की समयव्याख्या टीका

जयसेनाचार्य के अनुसार यहाँ द्वितीय महा-अधिकार समाप्त हो जाता है और अब तृतीय महा-अधिकार आरम्भ होता है, पर आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार द्वितीय श्रुतस्कन्ध के भीतर ही 'मोक्षमार्गप्रपंचसूचकचूलिका' आरम्भ होती है। जो बीस गाथाओं में समाप्त होती है; और इसके साथ ही ग्रन्थ भी समाप्त हो जाता है।

परमअध्यात्मरस से भरी हुई यह चूलिका ही पंचास्तिकायसंग्रह का प्रयोजनभूत सार है। वस्तु व्यवस्था के प्रतिपादक इस सैद्धान्तिक ग्रन्थ को आध्यात्मिकता प्रदान करनेवाली यह चूलिका ही है।

इसमें स्वचारित्र और परचारित्र – इसप्रकार चारित्र के दो भेद किए हैं, उन्हें ही स्वसमय और परसमय भी कहा गया है। इन स्वचारित्र और परचारित्र की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र १५६वीं गाथा की टीका में इसप्रकार देते हैं :–

"स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितं, परद्रव्ये सोपरागोपयोगवृतिः परचरितमिति।

स्वद्रव्य शुद्ध-उपयोगरूप परिणति स्वचारित्र है और परद्रव्य में सोपराग-उपयोग-रूप परिणति परचारित्र है।"

स्वचारित्र मोक्षमार्ग है और परचारित्र बंधमार्ग – यह बात १५७ व १५८वीं गाथा में स्पष्टरूप से कही गई है।

पारमेश्वरी तीर्थ प्रवर्तना दोनों नयों के आधीन होने से इसके बाद साधन-साध्य के रूप में व्यवहार और निश्चय – दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होने से मूलतः पठनीय है; पठनीय ही नहीं अनुकरणीय है, अनुचरणीय है।

व्यवहार मोक्षमार्ग को साधनरूप से निरूपित करने पर भी उसके प्रति बार-बार सावधान किया गया है –

"अरहन्तसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ।।१६६।।
जस्स हिदएणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो ।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ।।१६७।।

अरिहंत, सिद्ध, चैत्य (प्रतिमा), प्रवचन (शास्त्र), मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वह कर्म का क्षय नहीं करता।

जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति अणुमात्र भी राग वर्तता है, भले ही वह सर्व आगमधर हो, तथापि स्वकीय समय को नहीं जानता।"

अधिक क्या कहें ? आचार्यदेव तो यहाँ तक कहते हैं कि :–

"सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ।।१७०।।

संयमतपयुक्त होने पर भी नवपदार्थों तथा तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव वर्तता है और सूत्रों के प्रति जिसे रुचि वर्तती है, उस जीव को निर्वाण दूरतर (विशेषदूर) है ।"

अन्त में आचार्यदेव उपदेश देते हैं, आदेश देते हैं, सलाह देते हैं, प्रेरणा देते हुए कहते हैं :–

"तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ।।१७२।।

अतः हे मोक्षार्थी जीवों ! कहीं भी किंचित् भी राग मत करो; क्योंकि ऐसा करने से ही वीतराग होकर भवसागर से पार हुआ जाता है ।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

"अलं विस्तरेण, स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति ।

अधिक विस्तार करने से क्या लाभ है ? वह वीतरागता जयवंत वर्ते ! जो साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से इस शास्त्र का मूल तात्पर्य है ।"

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा व्यवहाराभासी व निश्चयाभासी का जो मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है तथा जिसके आधार पर ही पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय में इनके स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है, जो आज मुमुक्षुसमाज का अत्यधिक प्रिय विषय है; यह अनेक वार मूलतः पठनीय है ।

सर्वान्त में परम-आध्यात्मिक सन्त अमृतचन्द्राचार्य का अकर्तृत्व सूचक निम्न छन्द भी दर्शनीय है :–

"स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्वैःर्व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।।८।।

अपनी शक्ति से जिन्होंनें वस्तु का तत्त्व भलीभाँति कहा है, ऐसे शब्दों ने यह समयव्याख्या नामक टीका बनाई है; स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्राचार्य का इसमें किंचित् भी कार्य (कर्त्तव्य) नहीं है ।"

आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण समस्त उत्तरकालीन आचार्य परम्परा ने किया है। पंचास्तिकाय को आधार बनाकर लिखे गये परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा लिखित द्रव्यसंग्रह सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है। इसके अधिक प्रचलित होने का कारण भी पंचास्तिकायसंग्रह की सम्पूर्ण विषयवस्तु को उसीरूप में अतिसंक्षेप में प्रस्तुत कर देने में समाहित है।

द्रव्यसंग्रह में भी पंचास्तिकायसंग्रह के समान ही अधिकारों का विभाजन किया गया है। अधिकारों के नाम भी वैसे ही हैं। दोनों के नाम के आगे 'संग्रह' शब्द का प्रयोग है। यद्यपि एक का नाम द्रव्यसंग्रह और दूसरे का नाम पंचास्तिकायसंग्रह है, तथापि दोनों के प्रथम अधिकार में पंचास्तिकायों और द्रव्यों का एक-सा ही वर्णन है।

जीवास्तिकायद्रव्य का वर्णन जिस रूप में पंचास्तिकायसंग्रह में है, उसी रूप में द्रव्यसंग्रह में भी पाया जाता है। अन्तर यह है कि दूसरे अधिकार में जब नव पदार्थों का वर्णन होता है तो द्रव्यसंग्रह में उन्हें छोड़ ही दिया गया है, सीधे आस्रव पदार्थ का वर्णन आरम्भ किया है। जीव-अजीव का वर्णन द्रव्यों के सन्दर्भ में हो चुका है – यह मानकर संक्षिप्त करने के लोभ में ही उन्हें छोड़ा गया है।

एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि नव पदार्थों का क्रम द्रव्यसंग्रह में पंचास्तिकाय के अनुसार न रखकर तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार रखा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव द्वारा रचित पंचास्तिकाय एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है; जिसके अध्ययन बिना समयसार, प्रवचनसार जैसे महान ग्रन्थों का मर्म समझ पाना सहज सम्भव नहीं है; तथापि उनकी अपेक्षा इसके कम प्रचलित होने का कारण द्रव्यसंग्रह द्वारा इसकी विषय-वस्तु सम्बन्धी जानकारी की पूर्ति हो जाना ही रहा है।

समयसार के समान ही निरन्तर इसके पठन-पाठन की आवश्यकता है। आचार्य अमृतचन्द्र की 'समयव्याख्या' टीका से अलंकृत इस पंचास्तिकायसंग्रह ग्रन्थ के अध्ययन-मनन में वस्तु व्यवस्था के सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ जो आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त होगा, वह अन्यत्र असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है; अतः आत्मार्थी बन्धुओं से हार्दिक अनुरोध है कि वे इसका स्वाध्याय अवश्य करें; एक बार नहीं, बार-बार करें।

मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि इसके अध्ययन-मनन से उन्हें आत्मशान्ति का मार्ग अवश्य प्राप्त होगा।

सभी आत्मार्थी इसका अध्ययन-मनन कर सुखी व शान्त हों – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल

विषयानुक्रमणिका

पुद्गलद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान

धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान

२. नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्गप्रपंच वर्णन

* श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः *

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

श्री पंचास्तिकायसंग्रह

(१)

षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय वर्णन

श्रीमदमृतचन्द्राचार्यदेवविरचिता समयव्याख्या

सहजानन्दचैतन्यप्रकाशाय महीयसे ।
नमोऽनेकान्तविश्रान्तमहिम्ने परमात्मने ॥१॥

मूल गाथाओंका तथा समयव्याख्या नामक टीकाका

हिन्दी अनुवाद

[प्रथम, ग्रन्थके आदिमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत प्राकृतगाथाबद्ध इस "पंचास्तिकायसंग्रह" नामक शास्त्रकी "समयव्याख्या" नामक संस्कृत टीका रचनेवाले आचार्य श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोक द्वारा मंगलके हेतु परमात्माको नमस्कार करते हैं :—]

[श्लोकार्थः—] सहज आनन्द एवं सहज चैतन्यप्रकाशमय होनेसे जो अति महान है तथा अनेकान्तमें स्थित जिसकी महिमा है, उस परमात्माको नमस्कार हो। [१]

दुर्निवारनयानीकविरोधध्वंसनौषधिः ।
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ॥ २ ॥
सम्यग्ज्ञानामलज्योतिर्जननी द्विनयाश्रया ।
अथातः समयव्याख्या संक्षेपेणाभिधीयते ॥ ३ ॥

[अब टीकाकार आचार्यदेव श्लोक द्वारा जिनवाणीकी स्तुति करते हैं:—]

[**श्लोकार्थः**—] [1]स्यात्कार जिसका जीवन है ऐसी जैनी (-जिनभगवानकी) सिद्धान्तपद्धति—जो कि [2]दुर्निवार नयसमूहके [3]विरोधका नाश करनेवाली औषधि है वह—जयवन्त हो ! [२]

[अब टीकाकार आचार्यदेव श्लोक द्वारा इस पंचास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्रकी टीका रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं :—]

[**श्लोकार्थः**—] अब यहाँसे, जो सम्यग्ज्ञानरूपी निर्मल ज्योतिकी जननी है ऐसी द्विनयाश्रित (दो नयोंका आश्रय करनेवाली) [4]समयव्याख्या (पंचास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्रकी समयव्याख्या नामक टीका) संक्षेपसे कही जाती है । [३]

१—'स्यात्' पद जिनदेवकी सिद्धान्तपद्धतिका जीवन है । (स्यात्=कथंचित्; किसी अपेक्षासे; किसी प्रकारसे ।)

२—दुर्निवार=निवारण करना कठिन; टालना कठिन ।

३—प्रत्येक वस्तु नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक अंतमय (धर्ममय) है । वस्तुकी सर्वथा नित्यता तथा सर्वथा अनित्यता माननेमें पूर्ण विरोध आने पर भी, कथंचित् (अर्थात् द्रव्य-अपेक्षासे) नित्यता और कथंचित् (अर्थात् पर्याय-अपेक्षासे) अनित्यता माननेमें किंचित् विरोध नहीं आता—ऐसा जिनवाणी स्पष्ट समझाती है । इसप्रकार जिनभगवानकी वाणी स्याद्वाद द्वारा (अपेक्षा कथनसे) वस्तुका परम यथार्थ निरूपण करके, नित्यत्व-अनित्यत्वादि धर्मोंमें (तथा उन-उन धर्मोंको बतलानेवाले नयोंमें) अविरोध (सुमेल) अबाधितरूपसे सिद्ध करती है और उन धर्मोंके विना वस्तुकी निष्पत्ति ही नहीं हो सकती—ऐसा निर्बाधरूपसे स्थापित करती है ।

४—समयव्याख्या=समयकी व्याख्या; पंचास्तिकायकी व्याख्या; द्रव्यकी व्याख्या; पदार्थकी व्याख्या । [व्याख्या=व्याख्यान; स्पष्ट कथन; विवरण; स्पष्टीकरण ।]

पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम् ।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ॥ ४ ॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम् ।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥ ५ ॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना ।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥ ६ ॥

[अब, तीन श्लोकों द्वारा टीकाकार आचार्यदेव अत्यन्त संक्षेपमें यह बतलाते हैं कि इस पंचास्तिकायसंग्रह नामक शास्त्रमें किन-किन विषयोंका निरूपण है :—]

[**श्लोकार्थः**—] यहाँ प्रथम *सूत्रकर्तानि मूल पदार्थोंका पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्यके प्रकारसे प्ररूपण किया है (अर्थात् इस शास्त्रके प्रथम अधिकारमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने विश्वके मूल पदार्थोंका पाँच अस्तिकाय और छह द्रव्यकी पद्धतिसे निरूपण किया है ।) [४]

[**श्लोकार्थः**—] पश्चात् (दूसरे अधिकारमें), जीव और अजीव–इन दो की पर्यायोंरूप नव पदार्थोंकी—कि जिनके मार्ग अर्थात् कार्य भिन्न भिन्न प्रकारके हैं उनकी—व्यवस्था प्रतिपादित की है । [५]

[**श्लोकार्थः**—] पश्चात् (दूसरे अधिकारके अन्तमें), तत्त्वके परिज्ञानपूर्वक (पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य तथा नव पदार्थोंके यथार्थ ज्ञानपूर्वक) त्रयात्मक मार्गसे (सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक मार्गसे) कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है । [६]

---

* इस शास्त्रके कर्ता श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं । उनके दूसरे नाम पद्मनन्दि, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य हैं । श्री जयसेनाचार्यदेव इस शास्त्रकी तात्पर्यवृत्ति नामक टीका प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं कि:—"अब श्री कुमारनन्दि–सिद्धान्तिदेवके शिष्य श्रीमद्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने—जिनके दूसरे नाम पद्मनन्दि आदि थे उन्होंने—प्रसिद्ध कथान्यायसे पूर्वविदेहमें जाकर वीतराग–सर्वज्ञ सीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेवके दर्शन करके, उनके मुखकमलसे निकली हुई दिव्य ध्वनिके श्रवणसे अवधारित पदार्थ द्वारा शुद्धात्मतत्त्वादि सारभूत अर्थ ग्रहण करके, वहाँसे लौटकर अंत:तत्त्व एवं बहि:तत्त्वके गौण–मुख्य प्रतिपादनके हेतु अथवा शिवकुमारमहाराजादि संक्षेपरुचि शिष्योंके प्रतिबोधनार्थ रचे हुए पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रका यथाक्रमसे अधिकारबुद्धिपूर्वक तात्पर्यार्थरूप व्याख्यान किया जाता है ।"

अथ सूत्रावतारः—

इंदसदवंदियाणं तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं ।
अंतातीदगुणाणं णमो जिणाणं जिदभवाणं ॥ १ ॥

इन्द्रशतवन्दितेभ्यस्त्रिभुवनहितमधुरविशदवाक्येभ्यः ।
अन्तातीतगुणेभ्यो नमो जिनेभ्यो जितभवेभ्यः ॥ १ ॥

अथात्र 'नमो जिनेभ्यः' इत्यनेन जिनभावनमस्काररूपमसाधारणं शास्त्रस्यादौ मङ्गलमुपात्तम् । अनादिना संतानेन प्रवर्तमाना अनादिनैव सन्तानेन प्रवर्तमानैरिन्द्राणां शतैर्वन्दिता ये

अब (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित) गाथासूत्रका अवतरण किया जाता है:—

गाथा १

अन्वयार्थः—[इन्द्रशतवन्दितेभ्यः] जो सौ इन्द्रोंसे वन्दित हैं, [त्रिभुवनहितमधुरविशदवाक्येभ्यः] तीन लोकको हितकर, मधुर एवं विशद (निर्मल, स्पष्ट) जिनकी वाणी है, [अन्तातीतगुणेभ्यः] (चैतन्यके अनन्त विलासस्वरूप) अनन्त गुण जिनके वर्तते हैं और [जितभवेभ्यः] जिन्होंने भव पर विजय प्राप्त की है, [जिनेभ्यः] उन जिनोंको [नमः] नमस्कार हो ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) "जिनोंको नमस्कार हो" ऐसा कहकर शास्त्रके आदिमें जिनको भावनमस्काररूप असाधारण *मंगल कहा । "जो अनादि प्रवाहसे प्रवर्तते (—चले आ रहे) हुए अनादि प्रवाहसे ही प्रवर्तमान (—चले आ रहे) *सौ-सौ

---

* मलको अर्थात् पापको गाले—नष्ट करे वह मंगल है; अथवा सुखको प्राप्त करे—लाये वह मंगल है ।

* भवनवासी देवोंके ४०, व्यन्तर देवोंके ३२, कल्पवासी देवोंके २४, ज्योतिष्क देवोंके २, मनुष्योंका १ और तिर्यंचोंका १—इसप्रकार कुल १०० इन्द्र अनादि प्रवाहरूपसे चले आ रहे हैं ।

शत-इंद्रवंदित, त्रिजगहित-निर्मल-मधुर वदनारने ।
निःसीम गुण धरनारने, जितभव नमुं जिनराजने ॥१॥

इत्यनेन सर्वदैव देवाधिदेवत्वात्तेषामेवासाधारणनमस्कारार्हत्वमुक्तम्। त्रिभुवनमूर्ध्वाधोमध्यलोकवर्ती समस्त एव जीवलोकस्तस्मै निर्व्याबाधविशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भोपायाभिधायित्वाद्धितं, परमार्थरसिकजनमनोहारित्वान्मधुरं, निरस्तसमस्तशंकादिदोषास्पदत्वाद्विशदं वाक्यं दिव्यो ध्वनिर्येषमित्यनेन समस्तवस्तुयाथात्म्योपदेशित्वात्प्रेक्षावत्प्रतीक्ष्यत्वमाख्यातम्। अन्तमतीतः क्षेत्रानवच्छिन्नः कालानवच्छिन्नश्च परमचैतन्यशक्तिविलासलक्षणो गुणो येषामित्यनेन तु परमाद्भुतज्ञानातिशयप्रकाशनादवाप्तज्ञानातिशयानामपि योगीन्द्राणां वन्द्यत्वमुदितम्। जितो भव आजवंजवो यैरित्यनेन तु कृतकृत्यत्वप्रकटनात्त एवान्येषामकृतकृत्यानां शरणमित्युपदिष्टम्। इति

इन्द्रोंसे वन्दित हैं"—ऐसा कहकर सदैव देवाधिदेवपनेके कारण वे ही (जिनदेव ही) असाधारण नमस्कारके योग्य हैं—ऐसा कहा। "जिनकी वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीन लोकको—ऊर्ध्व-अधो-मध्य लोकवर्ती समस्त जीवसमूहको—निर्बाध विशुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका उपाय कहनेवाली होनेसे हितकर है, परमार्थरसिक जनोंके मनको हरनेवाली होनेसे मधुर है और समस्त शंकादि दोषोंके स्थान दूर कर देनेसे विशद (निर्मल, स्पष्ट) है"—ऐसा कहकर (जिनदेव) समस्त वस्तुके यथार्थ स्वरूपके उपदेशक होनेसे विचारवन्त बुद्धिमान पुरुषोंके बहुमानके योग्य हैं (अर्थात् जिनका उपदेश विचारवंत बुद्धिमान पुरुषोंको बहुमानपूर्वक विचारना चाहिये ऐसे हैं) ऐसा कहा। "अनन्त—क्षेत्रसे अंत रहित और कालसे अन्त रहित—परमचैतन्यशक्तिके विलासस्वरूप गुण जिनके वर्तते हैं" ऐसा कहकर (जिनोंको) परम अद्भुत ज्ञानातिशय प्रगट होनेके कारण ज्ञानातिशयको प्राप्त योगीन्द्रोंसे भी वंद्य हैं ऐसा कहा। "भव अर्थात् संसार पर जिन्होंने विजय प्राप्त की है" ऐसा कहकर कृतकृत्यपना प्रगट हो जानेसे वे ही (जिन ही) अन्य अकृतकृत्य जीवोंको शरणभूत हैं ऐसा उपदेश दिया।—ऐसा सर्व पदोंका तात्पर्य है।

भावार्थ :—यहाँ जिनभगवन्तोंके चार विशेषणोंका वर्णन करके उन्हें भाव नमस्कार किया है। (१) प्रथम तो, जिनभगवन्त सौ इन्द्रोंसे वंद्य हैं। ऐसे असाधारण नमस्कारके योग्य अन्य कोई नहीं है; क्योंकि देवों तथा असुरोंमें युद्ध होता है इसलिये (देवाधिदेव जिन भगवानके अतिरिक्त) अन्य कोई भी देव सौ इन्द्रोंसे वन्दित नहीं है। (२) दूसरे जिनभगवानकी वाणी तीनलोकको शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपाय

सर्वपदानां तात्पर्यम् ॥१॥

दर्शाती है इसलिए हितकर है; वीतराग निर्विकल्प समाधिसे उत्पन्न सहज-अपूर्व-परमानन्दरूप पारमार्थिक सुखरसास्वादके रसिकजनोंके मनको हरती है इसलिए (अर्थात् परम समरसीभावके रसिक जीवोंको मुदित करती है इसलिए) मधुर है; शुद्ध जीवास्तिकायादि सात तत्त्व, नव पदार्थ, छह द्रव्य और पाँच अस्तिकायका संशय-विमोह-विभ्रम रहित निरूपण करती है इसलिये अथवा पूर्वापर विरोधादि दोष रहित होनेसे अथवा युगपद् सर्व जीवोंको अपनी-अपनी भाषामें स्पष्ट अर्थका प्रतिपादन करती है, इसलिए विशद-स्पष्ट-व्यक्त है। इसप्रकार जिनभगवानकी वाणी ही प्रमाणभूत है; एकान्तरूप अपौरुषेय वचन या विचित्र कथारूप कल्पित पुराणवचन प्रमाणभूत नहीं हैं। (३) तीसरे, अनन्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका जाननेवाला अनन्त केवलज्ञानगुण जिनभगवन्तोंको वर्तता है। इसप्रकार बुद्धि आदि सात ऋद्धियाँ तथा मतिज्ञानादि चतुर्विध ज्ञानसे सम्पन्न गणधरदेवादि योगीन्द्रोंसे भी वे वंद्य हैं। (४) चौथे, पाँच प्रकारके संसारको जिनभगवन्तोंने जीता है। इसप्रकार कृतकृत्यपनेके कारण वे ही अन्य अकृतकृत्य जीवोंको शरणभूत हैं, दूसरा कोई नहीं।—इसप्रकार चार विशेषणोंसे युक्त जिनभगवन्तोंको ग्रन्थके आदिमें भावनमस्कार करके मंगल किया।

प्रश्नः—जो शास्त्र स्वयं ही मंगल है, उसका मंगल किसलिए किया जाता है?

उत्तरः—भक्तिके हेतुसे मंगलका भी *मंगल किया जाता है। सूर्यकी दीपकसे, महासागरकी जलसे, वागीश्वरी (सरस्वती) की वाणीसे और मंगलकी मंगलसे अर्चना की जाती है ॥१॥

---

* इस गाथाकी श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीकामें शास्त्रका मंगल, शास्त्रका निमित्त, शास्त्रका हेतु (फल), शास्त्रका परिमाण, शास्त्रका नाम तथा शास्त्रके कर्ता—इन छह विषयोंका विस्तृत विवेचन किया है।

पुनश्च, श्री जयसेनाचार्यदेवने इस गाथाके शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ समझाकर "इसप्रकार व्याख्यान कालमें सर्वत्र शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ प्रयुक्त करने योग्य हैं"—ऐसा कहा है।

समणमुहुग्गदमट्ठं चदुग्गदिणिवारणं सणिव्वाणं ।
एसो पणमिय सिरसा समयमिणं सुणह वोच्छामि ।।२।।

श्रमणमुखोद्गतार्थं चतुर्गतिनिवारणं सनिर्वाणम् ।
एषः प्रणम्य शिरसा समयमिमं शृणुत वक्ष्यामि ।।२।।

समयो ह्यागमः । तस्य प्रणामपूर्वकमात्मनाभिधानमत्र प्रतिज्ञातम् । युज्यते हि स प्रणन्तुमभिधातुं चाप्तोपदिष्टत्वे सति सफलत्वात् । तत्राप्तोपदिष्टत्वमस्य श्रमणमुखोद्गतार्थत्वात् । श्रमणा हि महाश्रमणाः सर्वज्ञवीतरागाः । अर्थः पुनरनेकशब्दसम्बन्धेनाभिधीयमानो वस्तुतयै-

---

गाथा २

अन्वयार्थः—[श्रमणमुखोद्गतार्थं] श्रमणके मुखसे निकले हुए अर्थमय (-सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे कहे हुए पदार्थोंका कथन करनेवाले [चतुर्गतिनिवारणं] चार गतिका निवारण करनेवाले और [सनिर्वाणम्] निर्वाण सहित (-निर्वाणके कारणभूत)—[इमं समयं] ऐसे इस समयको [शिरसा प्रणम्य] शिरसा नमन करके [एष वक्ष्यामि] मैं उसका कथन करता हूँ; [शृणुत] वह श्रवण करो ।

टीकाः—समय अर्थात् आगम; उसे प्रणाम करके स्वयं उसका कथन करेंगे ऐसी यहाँ (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) प्रतिज्ञा की है । वह (समय) प्रणाम करने एवं कथन करने योग्य है; क्योंकि वह *आप्त द्वारा उपदिष्ट होनेसे सफल है । वहाँ, उसका आप्त द्वारा उपदिष्टपना इसलिये है कि जिससे वह "श्रमणके मुखसे निकला हुआ अर्थमय" है । 'श्रमण' अर्थात् महाश्रमण—सर्वज्ञवीतरागदेव; और 'अर्थ' अर्थात् अनेक शब्दोंके सम्बन्धसे कहा जानेवाला, वस्तुरूपसे एक ऐसा पदार्थ, पुनश्च (उसकी

---

* आप्त = विश्वासपात्र; प्रमाणभूत; यथार्थ वक्ता । [सर्वज्ञदेव समस्त विश्वको प्रतिसमय सम्पूर्ण रूपसे जान रहे हैं और वे वीतराग (मोहरागद्वेषरहित) होनेके कारण उन्हें असत्य कहनेका लेशमात्र प्रयोजन नहीं रहा है; इसलिए वीतरागसर्वज्ञदेव सचमुच आप्त हैं । ऐसे आप्त द्वारा आगम उपदिष्ट होनेसे वह (आगम) सफल है ।

आ समयने शिरनमनपूर्वक भाखुं छुं, सुणजो तमे ।
जिनवदननिर्गत-अर्थमय, चउगतिहरण, शिवहेतु छे ।।२।।

कोऽभिधेयः। सफलत्वं तु चतसृणां नारकतिर्यग्मनुष्यदेवत्वलक्षणानां गतीनां निवारणत्वात् पारतंत्र्यनिवृत्तिलक्षणस्य निर्वाणस्य शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भरूपस्य परम्परया कारणत्वात् स्वातंत्र्य-प्राप्तिलक्षणस्य च फलस्य सद्भावादिति ॥ २ ॥

***समवाओ पंचण्हं समउ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।**
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं ॥३॥

* समवादः समवायो वा पंचानां समय इति जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तम्।
स च एव भवति लोकस्ततोऽमितोऽलोकः खम् ॥ ३ ॥

(-समयकी) सफलता इसलिये है कि जिससे वह समय (१) "नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व तथा देवत्वस्वरूप चार गतियोंका निवारण" करनेके कारण और (२) शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप "निर्वाणका परम्परासे कारण" होनेके कारण (१) परतंत्रतानिवृत्ति जिसका लक्षण है और (२) स्वतन्त्रताप्राप्ति जिसका लक्षण है—ऐसे+फल सहित है।

भावार्थः—वीतरागसर्वज्ञ महाश्रमणके मुखसे निकले हुए शब्दसमयको कोई आसन्नभव्य पुरुष सुनकर, उस शब्दसमयके वाच्यभूत पंचास्तिकायस्वरूप अर्थसमयको जानता है और उसमें आजानेवाले शुद्ध जीवास्तिकायस्वरूप अर्थमें (पदार्थमें) वीतराग निर्विकल्प समाधि द्वारा स्थित रहकर चार गतिका निवारण करके, निर्वाण प्राप्त करके, स्वात्मोत्पन्न, अनाकुलतालक्षण, अनन्त सुखको प्राप्त करता है। इस कारणसे द्रव्यागमरूप शब्दसमय नमस्कार करने तथा व्याख्यान करने योग्य है ॥ २ ॥

गाथा ३

अन्वयार्थः—[पंचानां समवादः] पाँच अस्तिकायका समभावपूर्वक

---

* मूल गाथामें समवाओ शब्द है; संस्कृत भाषामें उसका अर्थ समवादः भी होता है और समवायः भी होता है।

+ चार गतिका निवारण (अर्थात् परतंत्रताकी निवृत्ति) और निर्वाणकी उत्पत्ति (अर्थात् स्वतन्त्रताकी प्राप्ति) वह समयका फल है।

समवाद वा समवाय पांच तणो समय-भाख्युं जिने।
ते लोक छे, आगल अमाप अलोक आभस्वरूप छे ॥३॥

अत्र शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिविधाऽभिधेयता समयशब्दस्य लोकालोकविभागश्चाभिहितः। तत्र च पंचानामस्तिकायानां समो मध्यस्थो रागद्वेषाभ्यामनुपहतो वर्णपदवाक्यसन्निवेशविशिष्टः पाठो वादः शब्दसमयः शब्दागम इति यावत्। तेषामेव मिथ्यादर्शनोदयोच्छेदे सति सम्यगवायः परिच्छेदो ज्ञानसमयो ज्ञानागम इति यावत्। तेषामेवाभिधानप्रत्ययपरिच्छिन्नानां वस्तुरूपेण समवायः संघातोऽर्थसमयः सर्वपदार्थ सार्थ इति यावत्। तदत्र ज्ञानसमयप्रसिद्ध्यर्थं

निरूपण [वा] अथवा [समवायः] उनका समवाय (–पंचास्तिकायका सम्यक्बोध अथवा समूह) [समयः] वह समय है [इति] ऐसा [जिनोत्तमैः प्रज्ञप्तम्] जिनवरोंने कहा है। [सः च एव लोकः भवति] वही लोक है (-पाँच अस्तिकायके समूह जितना ही लोक है); [ततः] उससे आगे [अमितः अलोकः] अमाप अलोक [खम्] आकाशस्वरूप है।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) शब्दरूपसे, ज्ञानरूपसे और अर्थरूपसे (-शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय)–ऐसे तीन प्रकारसे "समय" शब्दका अर्थ कहा है तथा लोक-अलोकरूप विभाग कहा है।

वहाँ, (१) 'सम' अर्थात् मध्यस्थ यानी जो रागद्वेषसे विकृत नहीं हुआ; 'वाद' अर्थात् वर्ण (अक्षर), पद (शब्द) और वाक्यके समूहवाला पाठ। पाँच अस्तिकायका 'समवाद' अर्थात् मध्यस्थ (-रागद्वेषसे विकृत नहीं हुआ) पाठ (-मौखिक या शास्त्रारूढ़ निरूपण) वह शब्दसमय है अर्थात् शब्दागम वह शब्दसमय है। (२) मिथ्यादर्शनके उदयका नाश होने पर, उस पंचास्तिकायका ही सम्यक्* अवाय अर्थात् सम्यक् ज्ञान वह ज्ञानसमय है, अर्थात् ज्ञानागम वह ज्ञानसमय है। (३) कथनके निमित्तसे ज्ञात हुए उस पंचास्तिकायका ही वस्तुरूपसे समवाय* अर्थात् समूह वह अर्थसमय है, अर्थात् सर्वपदार्थसमूह वह अर्थसमय है। उसमें, यहाँ

---

* समवाय=(१) सम्+अवाय; सम्यक् अवाय; सम्यक् ज्ञान। (२) समूह। [इस पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्रमें यहाँ कालद्रव्य-कि जो द्रव्य होने पर भी अस्तिकाय नहीं है उसे विवक्षामें गौण करके 'पंचास्तिकायका समवाय वह समय है' ऐसा कहा है; इसलिये 'छह द्रव्यका समवाय वह समय है' ऐसे कथनके भावके साथ इस कथनके भावका विरोध नहीं समझना चाहिये; मात्र विवक्षाभेद है ऐसा समझना चाहिये। और इसीप्रकार अन्य स्थान पर भी विवक्षा समझकर अविरुद्ध अर्थ समझ लेना चाहिये।]

शब्दसमयसम्बन्धेनार्थसमयोऽभिधातुमभिप्रेतः अथ तस्यैवार्थसमयस्य द्वैविध्यं लोकालोकविकल्पात् । स एव पञ्चास्तिकायसमवायो यावांस्तावाँल्लोकस्ततः परममितोऽनन्तो ह्यलोकः, स तु नाभावमात्रं किन्तु तत्समवायातिरिक्तपरिमाणमनन्तक्षेत्रं खमाकाशमिति ॥३॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आगासं ।
अत्थित्तम्हि य णियदा अणण्णमइया अणुमहंता ॥४॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ तथैव आकाशम् ।
अस्तित्वे च नियता अनन्यमया अणुमहान्तः ॥४॥

ज्ञानसमयकी प्रसिद्धिके हेतु शब्दसमयके संबंधसे अर्थसमयका कथन (श्रीमद्‌भगवत्‌कुन्दकुन्दाचार्यदेव) करना चाहते हैं ।

अब, उसी अर्थसमयका लोक* और अलोकके भेदके कारण द्विविधपना है । वही पंचास्तिकायसमूह जितना है, उतना लोक है । उससे आगे अमाप अर्थात् अनन्त अलोक है । वह अलोक अभावमात्र नहीं है किन्तु पंचास्तिकायसमूह जितना क्षेत्र छोड़कर शेष अनन्तक्षेत्रवाला आकाश है (अर्थात् अलोक शून्यरूप नहीं है किन्तु शुद्ध आकाशद्रव्यरूप है ।) ३ ॥

गाथा ४

अन्वयार्थः—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्‌गलकाय, [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म, [तथा एव] तथा [आकाशम्] आकाश [अस्तित्वे नियताः] अस्तित्वमें नियत, [अनन्यमयाः] (अस्तित्वसे) अनन्यमय [च] और [अणुमहान्तः] ×अणुमहान (प्रदेशमें बड़े) हैं ।

---

* लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यत्र स लोकः अर्थात् जहाँ जीवादिपदार्थ दिखाई देते हैं, वह लोक है ।

× अणुमहान=(१) प्रदेशमें बड़े अर्थात् अनेकप्रदेशी; (२) एकप्रदेशी (व्यक्ति-अपेक्षासे) तथा अनेकप्रदेशी (शक्ति-अपेक्षासे ।)

जीवद्रव्य पुद्‌गलकाय, धर्म, अधर्म ने आकाशने ।
अस्तित्वनियत, अनन्यमय ने अणुमहान पदार्थ छे ॥४॥

अत्र पंचास्तिकायानां विशेषसंज्ञा सामान्यविशेषास्तित्वं कायत्वं चोक्तम् । तत्र जीवाः पुद्गलाः धर्माधर्मौ आकाशमिति तेषां विशेषसंज्ञा अन्वर्थाः प्रत्येयाः । सामान्यविशेषास्तित्वं च तेषामुत्पादव्ययध्रौव्यमय्यां सामान्यविशेषसत्तायां नियतत्वाद्व्यवस्थितत्वादवसेयम् । अस्तित्वे नियतानामपि न तेषामन्यमयत्वम्, यतस्ते सर्वदैवानन्यमया आत्मनिर्वृत्ताः । अनन्यमयत्वेऽपि तेषामस्तित्वनियतत्वं नयप्रयोगात् । द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ—द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना किंतु तदुभयायत्ता । ततः पर्यायार्थादेशादस्तित्वे स्वतः कथंचिद्भिन्नेऽपि व्यवस्थिताः द्रव्यार्थादेशात्स्वयमेव सन्तः सतोऽनन्यमया भवन्तीति । कायत्वमपि तेषामणुमहत्त्वात् । अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्तामूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) पाँच अस्तिकायोंकी विशेषसंज्ञा, सामान्य-विशेष अस्तित्व तथा कायत्व कहा है ।

वहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश—यह उनकी विशेष संज्ञाएँ *अन्वर्थ जानना ।

वे उत्पाद-व्यय, ध्रौव्यमयी सामान्यविशेषसत्तामें नियत—व्यवस्थित (निश्चित विद्यमान) होनेसे उनके सामान्यविशेष-अस्तित्व भी है ऐसा निश्चित् करना चाहिये । वे अस्तित्वमें नियत होने पर भी (जिसप्रकार बर्तनमें रहनेवाला घी बर्तनसे अन्यमय है उसीप्रकार) अस्तित्वसे अन्यमय नहीं हैं; क्योंकि वे सदैव अपनेसे निष्पन्न (अर्थात् अपनेसे सत्) होनेके कारण (अस्तित्वसे) अनन्यमय हैं (जिसप्रकार अग्नि उष्णतासे अनन्यमय है उसीप्रकार ।) "अस्तित्वसे अनन्यमय" होने पर भी उनका "अस्तित्वमें नियतपना" नयप्रयोगसे है । भगवानने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक । वहाँ कथन एक नयके आधीन नहीं होता किन्तु दोनों नयोंके आधीन होता है । इसलिये वे पर्यायार्थिक कथनसे जो अपनेसे कथंचित् भिन्न भी है ऐसे अस्तित्वमें व्यवस्थित (निश्चित स्थित) हैं और द्रव्यार्थिक कथनसे स्वयमेव सत् (-विद्यमान) होनेके कारण अस्तित्वसे अनन्यमय हैं ।

---

* अन्वर्थ=अर्थका अनुसरण करती हुई; अर्थानुसार । (पांच अस्तिकायोंके नाम उनके अर्थानुसार हैं ।)

महान्तोऽणुमहान्तः प्रदेशप्रचयात्मकाः । इति सिद्धं तेषां कायत्वम् । अणुभ्यां महान्त इति व्युत्पत्त्या द्व्यणुकपुद्गलस्कन्धानामपि तथाविधत्वम् । अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्तिरूपाभ्यामिति परमाणूनामेकप्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः । व्यक्त्यपेक्षया शक्त्यपेक्षया च प्रदेशप्रचयात्मकस्य महत्त्वस्याभावात्कालाणूनामस्तित्वनियतत्वेऽप्यकायत्वमनेनैव साधितम् । अत एव तेषामस्तिकायप्रकरणे सतामप्यनुपादानमिति ॥ ४ ॥

उनके कायपना भी है क्योंकि वे अणुमहान हैं। यहाँ अणु अर्थात् प्रदेश—मूर्त और अमूर्त निर्विभाग (छोटेसे छोटे) अंश; 'उनके द्वारा (-बहु प्रदेशों द्वारा) महान हो' वह अणुमहान; अर्थात् प्रदेशप्रचयात्मक (-प्रदेशोंके समूहमय) हो वह अणुमहान है। इसप्रकार उन्हें (उपरोक्त पाँच द्रव्योंको) कायत्व सिद्ध हुआ। (ऊपर जो अणुमहानकी व्युत्पत्ति की उसमें अणुओंके अर्थात् प्रदेशोंके लिये बहुवचनका उपयोग किया है और संस्कृत भाषाके नियमानुसार बहुवचनमें द्विवचनका समावेश नहीं होता इसलिये अब व्युत्पत्तिमें किंचित् भाषाका परिवर्तन करके द्वि-अणुक स्कन्धोंको भी अणुमहान बतलाकर उनका कायत्व सिद्ध किया जाता है :) 'दो अणुओं (-दो प्रदेशों) द्वारा महान हो' वह अणुमहान—ऐसी व्युत्पत्तिसे द्वि-अणुक पुद्गल-स्कन्धोंको भी (अणुमहानपना होनेसे) कायत्व है। (अब, परमाणुओंको अणुमहानपना किसप्रकार है वह बतलाकर परमाणुओंको भी कायत्व सिद्ध किया जाता है :) व्यक्ति और शक्तिरूपसे 'अणु तथा महान' होनेसे (अर्थात् परमाणु व्यक्तिरूपसे एकप्रदेशी तथा शक्तिरूपसे अनेकप्रदेशी होनेके कारण) परमाणुओंको भी, उनके एकप्रदेशात्मकपना होने पर भी, (अणुमहानपना सिद्ध होनेसे) कायत्व सिद्ध होता है। कालाणुओंको व्यक्ति-अपेक्षासे तथा शक्ति-अपेक्षासे प्रदेशप्रचयात्मक महानपनेका अभाव होनेसे, यद्यपि वे अस्तित्वमें नियत हैं तथापि, उनके अकायत्व है—ऐसा इसीसे (-इस कथनसे ही) सिद्ध हुआ। इसीलिये, यद्यपि वे सत् (विद्यमान) हैं तथापि, उन्हें अस्तिकायके प्रकरणमें नहीं लिया है।

भावार्थः—पाँच अस्तिकायोंके नाम—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश हैं। यह नाम उनके अर्थानुसार हैं।

यह पाँचों द्रव्य पर्यायार्थिकनयसे अपनेसे कथंचित् भिन्न ऐसे अस्तित्वमें विद्यमान हैं और द्रव्यार्थिकनयसे अस्तित्वसे अनन्य हैं।

जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं।
ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तेल्लोक्कं ॥ ५ ॥

येषामस्ति स्वभावः गुणैः सह पर्ययैर्विविधैः ।
ते भवन्त्यस्तिकायाः निष्पन्नं यैस्त्रैलोक्यम् ॥५॥

पुनश्च, यह पांचों द्रव्य कायत्ववाले हैं क्योंकि वे अणुमहान हैं। वे अणुमहान किसप्रकार हैं सो बतलाते हैं:—'अणुमहान्तः' की व्युत्पत्ति तीन प्रकारसे है: (१) अणुभिः महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो बहुप्रदेशों द्वारा (—दो से अधिक प्रदेशों द्वारा) बड़े हों वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीव, धर्म और अधर्म असंख्यप्रदेशीय होनेसे अणुमहान हैं; आकाश अनन्तप्रदेशी होनेसे अणुमहान है; और त्रि-अणुक स्कन्धसे लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध तकके सर्व स्कन्ध बहुप्रदेशी होनेसे अणुमहान हैं। (२) अणुभ्याम् महान्तः अणुमहान्तः अर्थात् जो दो प्रदेशों द्वारा बड़े हों वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार द्वि-अणुक स्कन्ध अणुमहान हैं। (३) अणवश्च महान्तश्च अणुमहान्तः अर्थात् जो अणुरूप (—एकप्रदेशी) भी हों और महान (—अनेकप्रदेशी) भी हों वे अणुमहान हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार परमाणु अणुमहान हैं; क्योंकि व्यक्ति-अपेक्षासे वे एकप्रदेशी हैं और शक्ति-अपेक्षासे अनेकप्रदेशी भी (उपचारसे) हैं। इसप्रकार उपरोक्त पाँचों द्रव्य अणुमहान होनेसे कायत्ववाले हैं—ऐसा सिद्ध हुआ।

कालाणुको अस्तित्व है किन्तु किसी प्रकार भी कायत्व नहीं है, इसलिये वह द्रव्य है किन्तु अस्तिकाय नहीं है।४।

गाथा ५

अन्वयार्थः—[येषाम्] जिन्हें [विविधैः] विविध [गुणैः] गुणों और [पर्ययैः] *पर्यायोंके (—प्रवाहक्रमके तथा विस्तारक्रमके अंशोंके) [सह] साथ

---

* पर्यायें=(प्रवाहक्रमके तथा विस्तारक्रमके) निर्विभाग अंश। [प्रवाहक्रमके अंश तो प्रत्येक द्रव्यके होते हैं, किन्तु विस्तारक्रमके अंश अस्तिकायके ही होते हैं।]

विधविध गुणोने पर्ययो सह जे अनन्यपणुं धरे ।
ते अस्तिकायो जाणवा, त्रैलोक्यरचना जे वडे ॥५॥

अत्र पंचास्तिकायानामस्तित्वसंभवप्रकारः कायत्वसंभवप्रकारश्चोक्तः । अस्ति ह्यस्तिकायानां गुणैः पर्यायैश्च विविधैः सह स्वभावो आत्मभावोऽनन्यत्वम् । वस्तुनो विशेषा हि व्यतिरेकिणः पर्याया गुणास्तु त एवान्वयिनः । तत एकेन पर्यायेण प्रलीयमानस्यान्येनोपजायमानस्यान्वयिना गुणेन ध्रौव्यं बिभ्राणस्यैकस्यापि वस्तुनः समुच्छेदोत्पादध्रौव्यलक्षणमस्तित्वमुपपद्यत एव । गुणपर्यायैः सह सर्वथान्यत्वे त्वन्यो विनश्यत्यन्यः प्रादुर्भवत्यन्यो ध्रुवत्वमालम्बत इति सर्वं विप्लवते । ततः साध्वस्तित्वसंभवप्रकारकथनम् ।

कायत्वसंभवप्रकारस्त्वयमुपदिश्यते । अवयविनो हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशपदार्था-

---

[स्वभावः] अपनत्व [अस्ति] है [ते] वे [अस्तिकायाः भवन्ति] अस्तिकाय हैं [यैः] कि जिनसे [त्रैलोक्यम्] तीन लोक [निष्पन्नम्] निष्पन्न हैं ।

टीकाः—यहाँ, पाँच अस्तिकायोंको अस्तित्व किसप्रकार है और कायत्व किसप्रकार है वह कहा है ।

वास्तवमें अस्तिकायोंको विविध गुणों और पर्यायोंके साथ स्वपना—अपनापन—अनन्यपना है । वस्तुके [1]व्यतिरेकी विशेष वे पर्यायें हैं और [2]अन्वयी विशेष वे गुण हैं । इसलिये एक पर्यायसे प्रलयको प्राप्त होनेवाली, अन्य पर्यायसे उत्पन्न होनेवाली और अन्वयी गुणसे ध्रुव रहनेवाली एक ही वस्तुको [3]व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य लक्षण अस्तित्व घटित होता ही है । और यदि गुणों तथा पर्यायोंके साथ (वस्तुको) सर्वथा अन्यत्व हो तब तो अन्य कोई विनाशको प्राप्त होगा, अन्य कोई प्रादुर्भावको (उत्पादको) प्राप्त होगा और कोई अन्य ध्रुव रहेगा—इसप्रकार सब [4]विप्लवको प्राप्त हो जायेगा ।

---

१. व्यतिरेक=भेद; एकका दूसरेरूप नहीं होना; 'यह वह नहीं है'—ऐसे ज्ञानके निमित्तभूत भिन्नरूपता । [एक पर्याय दूसरी पर्यायरूप न होनेसे पर्यायोंमें परस्पर व्यतिरेक है; इसलिये पर्यायें द्रव्यके व्यतिरेकी (व्यतिरेकवाले) विशेष हैं ।]

२. अन्वय=एकरूपता; सदृशता; 'यह वही है'—ऐसे ज्ञानके कारणभूत एकरूपता । [गुणोंमें सदैव सदृशता रहती है इसलिये उनमें सदैव अन्वय है, इसलिये गुण द्रव्यके अन्वयी विशेष (अन्वयवाले भेद) हैं ।]

३. अस्तित्वका लक्षण अथवा स्वरूप व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य है ।

४. विप्लव=अँधाधुन्धी; उथलपुथल, गड़बड़ी, विरोध ।

स्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्याः परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्यायाः उच्यन्ते । तेषां तैः सहानन्यत्वे कायत्वसिद्धिरुपपत्तिमती । निरवयवस्यापि परमाणोः सावयवत्वशक्तिसद्भावात् कायत्वसिद्धिरनपवादा । न चैतदाशङ्क्यम् पुद्गलादन्येषाममूर्तत्वादविभाज्यानां सावयवत्वकल्पनमन्याय्यम् । दृश्यत एवाविभाज्येऽपि विहायसीदं घटाकाशमिदमघटाकाशमिति विभागकल्पनम् । यदि तत्र विभागो न कल्पेत तदा यदेव घटाकाशं तदेवाघटाकाशं स्यात् । न च तदिष्टम् । ततः कालाणुभ्योऽन्यत्र सर्वेषां कायत्वाख्यं सावयवत्वमवसेयम् ।

इसलिये (पांच अस्तिकायोंको) अस्तित्व किसप्रकार है तत्सम्बन्धी यह (उपरोक्त) कथन सत्य–योग्य–न्याययुक्त है ।

अब, (उन्हें) कायत्व किसप्रकार है उसका उपदेश किया जाता है:—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश यह पदार्थ [1]अवयवी हैं। प्रदेश नामके उनके जो अवयव हैं वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे [2]पर्यायें कहलाती हैं । उनके साथ उन (पांच) पदार्थोंको अनन्यपना होनेसे कायत्वसिद्धि घटित होती है । परमाणु (व्यक्ति-अपेक्षासे) [3]निरवयव होनेपर भी उनको सावयवपनेकी शक्तिका सद्भाव होनेसे कायत्वसिद्धि [4]निरपवाद है । वहाँ ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है कि पुद्गलके अतिरिक्त अन्य पदार्थ अमूर्तपनेके कारण [5]अविभाज्य होनेसे उनके सावयवपनेकी कल्पना न्यायविरुद्ध (अनुचित) है । आकाश अविभाज्य होने पर भी उसमें 'यह घटाकाश है, यह

---

१. अवयवी=अवयववाला; सावयव; अंशवाला; अंशी; जिनके अवयव (अर्थात् एकसे अधिक प्रदेश) हों ऐसे ।

२. पर्यायका लक्षण परस्पर व्यतिरेक है । वह लक्षण प्रदेशोंमें भी व्याप्त है, क्योंकि एक प्रदेश दूसरे प्रदेशरूप न होनेसे प्रदेशोंमें परस्पर व्यतिरेक है; इसलिये प्रदेश भी पर्यायें कहलाते हैं ।

३. निरवयव=अवयव रहित; अंश रहित; निरंश; एकसे अधिक प्रदेश रहित ।

४. निरपवाद=अपवादरहित; [पाँच अस्तिकायोंको कायपना होनेमें एक भी अपवाद नहीं है; क्योंकि (उपचारसे) परमाणुको भी शक्ति अपेक्षासे अवयव—प्रदेश हैं ।]

५. अविभाज्य=जिनके विभाग न किये जा सकें ऐसे ।

त्रैलोक्यरूपेण निष्पन्नत्वमपि तेषामस्तिकायत्वसाधनपरमुपन्यस्तम् । तथा च—त्रयाणामूर्ध्वाधोमध्यलोकानामुत्पादव्ययध्रौव्यवन्तस्तद्विशेषात्मका भावा भवन्तस्तेषां मूलपदार्थानां गुणपर्याययोगपूर्वकमस्तित्वं साधयन्ति । अनुमीयते च धर्माधर्माकाशानां प्रत्येकमूर्ध्वाधोमध्यलोकविभागरूपेण परिणमनात्कायत्वाख्यं सावयवत्वम् । जीवानामपि प्रत्येकमूर्ध्वाधोमध्यलोकविभाग-

---

अघटाकाश (पटाकाश) है'—ऐसी विभागकल्पना दृष्टिगोचर होती ही है । यदि वहाँ (कथंचित्) विभागकी कल्पना न की जाये तो जो घटाकाश है वही (सर्वथा) अघटाकाश हो जायेगा; और वह तो इष्ट (मान्य) नहीं है । इसलिये कालाणुओंके अतिरिक्त अन्य सर्वमें कायत्वनामका सावयवपना निश्चित करना चाहिये ।

उनकी जो तीन लोकरूप निष्पन्नता (–रचना) कही, वह भी उनका अस्तिकायपना (–अस्तिपना तथा कायपना) सिद्ध करनेके साधनरूपसे कही है। वह इसप्रकार है :—

(१) ऊर्ध्व–अधो–मध्य तीनलोकके उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यवाले भाव—कि जो तीन लोकके विशेषस्वरूप हैं वे—भवते हुए (परिणमित होते हुए) अपने मूल पदार्थोंका गुणपर्याययुक्त अस्तित्व सिद्ध करते हैं । (तीन लोकके भाव सदैव कथंचित् सदृश रहते हैं और कथंचित् बदलते रहते हैं वे ऐसा सिद्ध करते हैं कि तीन लोकके मूल पदार्थ कथंचित् सदृश रहते हैं और कथंचित् परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् उन मूल पदार्थों-का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला अथवा गुणपर्यायवाला अस्तित्व है ।)

(२) पुनश्च, धर्म, अधर्म और आकाश—यह प्रत्येक पदार्थ ऊर्ध्व–अधो–मध्य ऐसे लोकके (तीन) *विभागरूपसे परिणमित होनेसे उनके कायत्व नामका सावयवपना है ऐसा अनुमान किया जा सकता है। प्रत्येक जीव के भी ऊर्ध्व–

---

* यदि लोकके ऊर्ध्व, अधः और मध्य—ऐसे तीन भाग हैं तो फिर 'यह ऊर्ध्वलोकका आकाश-भाग है, यह अधोलोकका आकाशभाग है और यह मध्यलोकका आकाशभाग है'—इसप्रकार आकाशके भी विभाग किये जा सकते हैं और इसलिये वह सावयव अर्थात् कायत्ववाला है ऐसा सिद्ध होता है । इसीप्रकार धर्म और अधर्म भी सावयव अर्थात् कायत्ववाले हैं ।

रूपेण परिणमनाल्लोकपूरणावस्थाव्यवस्थितव्यक्तेस्सदा सन्निहितशक्तेस्तदनुमीयत एव । पुद्गलानामप्यूर्ध्वाधोमध्यलोकविभागरूपपरिणतमहास्कन्धत्वप्राप्तिव्यक्तिशक्तियोगित्वात्तथाविधा सावयवत्वसिद्धिरस्त्येवेति ।। ५ ।।

ते चेव अत्थिकाया तेक्कालियभावपरिणदा णिच्चा ।
गच्छंति दवियभावं परियट्टणलिंगसंजुत्ता ।। ६ ।।

ते चैवास्तिकायाः त्रैकालिकभावपरिणता नित्याः ।
गच्छन्ति द्रव्यभावं परिवर्तनलिङ्गसंयुक्ताः ।। ६ ।।

अत्र पंचास्तिकायानां कालस्य च द्रव्यत्वमुक्तम् । द्रव्याणि हि सहक्रमभुवां गुणपर्यायाणामनन्यतयाधारभूतानि भवन्ति । ततो वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणानां भावानां पर्यायाणां

अधो-मध्य ऐसे तीन लोकके (तीन) विभागरूपसे परिणमित *लोकपूरण अवस्थारूप व्यक्तिकी शक्तिका सदैव सद्भाव होनेसे जीवोंको भी कायत्व नामका सावयवपना है ऐसा अनुमान किया ही जा सकता है । पुद्गल भी ऊर्ध्व-अधो-मध्य ऐसे लोकके (तीन) विभागरूप परिणत महास्कन्धपनेकी प्राप्तिकी व्यक्तिवाले अथवा शक्तिवाले होनेसे उन्हें भी वैसी (कायत्व नामकी) सावयवपनेकी सिद्धि ही है । ५ ।

गाथा ६

अन्वयार्थः—[त्रैकालिकभावपरिणताः] जो तीन कालके भावोंरूप परिणमित होते हैं तथा [नित्याः] नित्य हैं [ते च एव अस्तिकायाः] ऐसे वे ही अस्तिकाय; [परिवर्तनलिङ्गसंयुक्ताः] परिवर्तनलिंग (काल) सहित, [द्रव्यभावं गच्छन्ति] द्रव्यत्वको प्राप्त होते हैं (अर्थात् वे छहों द्रव्य हैं ।)

टीकाः—यहाँ पाँच अस्तिकायोंको तथा कालको द्रव्यपना कहा है ।

---

* लोकपूरण=लोकव्यापी । [केवलसमुद्घातके समय जीवकी त्रिलोकव्यापी दशा होती है । उस समय 'यह ऊर्ध्वलोकका जीवभाग है, यह अधोलोकका जीवभाग है और यह मध्यलोकका जीवभाग है' ऐसे विभाग किये जा सकते हैं । ऐसी त्रिलोकव्यापी दशा (-अवस्था) की शक्ति तो जीवोंमें सदैव है इसलिये जीव सदैव सावयव अर्थात् कायत्ववाले हैं—ऐसा सिद्ध होता है ।]

ते अस्तिकाय त्रिकालभावे परिणमे छे, नित्य छे ।
ए पांच तेम ज काल वर्तनलिंग सर्वे द्रव्य छे ।। ६ ।।

स्वरूपेण परिणतत्वादस्तिकायानां परिवर्तनलिंगस्य कालस्य चास्ति द्रव्यत्वम्। न च तेषां भूतभवद्भविष्यद्भावात्मना परिणममानानामनित्यत्वम् यतस्ते भूतभवद्भविष्यद्भावावस्थास्वपि प्रतिनियतस्वरूपापरित्यागान्नित्या एव। अत्र कालः पुद्गलादिपरिवर्तनहेतुत्वात्पुद्गलादिपरिवर्तन-

---

द्रव्य वास्तवमें सहभावी गुणोंको तथा क्रमभावी पर्यायोंको [1]अनन्यरूपसे आधारभूत हैं। इसलिये जो वर्त चुके हैं, वर्त रहे हैं और भविष्यमें वर्तेंगे उन भावों–पर्यायोंरूप परिणमित होनेके कारण (पाँच) अस्तिकाय और [2]परिवर्तनलिंग काल (वे छहों) द्रव्य हैं। भूत, वर्तमान और भावी भावोंस्वरूप परिणमित होनेसे वे कहीं अनित्य नहीं हैं, क्योंकि भूत, वर्तमान और भावी भावरूप अवस्थाओंमें भी प्रतिनियत (–अपने–अपने निश्चित) स्वरूपको नहीं छोड़ते इसलिये वे नित्य ही हैं।

यहाँ काल पुद्गलादिके परिवर्तनका हेतु होनेसे तथा पुद्गलादिके परिवर्तन द्वारा उसकी पर्यायें गम्य (ज्ञात) होती हैं इसलिये उसका अस्तिकायोंमें समावेश करनेके हेतु उसे [3]'परिवर्तनलिंग' कहा है। [पुद्गलादि अस्तिकायोंका वर्णन करते हुए उनके परिवर्तन (परिणमन) का वर्णन करना चाहिये और उनके परिवर्तनका वर्णन करते हुए उस परिवर्तनमें निमित्तभूत पदार्थका (कालका) अथवा उस परिवर्तन द्वारा जिनकी पर्यायें व्यक्त होती हैं उस पदार्थका (कालका) वर्णन करना अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार पंचास्तिकायके वर्णनमें कालके वर्णनका

---

१. अनन्यरूप=अभिन्नरूप। [जिसप्रकार अग्नि आधार है और उष्णता आधेय है तथापि वे अभिन्न हैं; उसीप्रकार द्रव्य आधार है और गुण–पर्यायें आधेय हैं तथापि वे अभिन्न हैं।]

२. परिवर्तनलिंग=पुद्गलादिका परिवर्तन जिसका लिंग है; पुद्गलादिके परिणमन द्वारा जो ज्ञात होता है। (लिंग=चिह्न; सूचक; गमक; गम्य करानेवाला; बतलानेवाला; पहिचान करानेवाला।)

३. (१) यदि पुद्गलादिका परिवर्तन होता है तो उसका कोई निमित्त होना चाहिये–इसप्रकार परिवर्तनरूपी चिह्न द्वारा कालका अनुमान होता है (जिसप्रकार धुआँरूपी चिह्न द्वारा अग्निका अनुमान होता है उसीप्रकार); इसलिये काल 'परिवर्तनलिंग' है। (२) और पुद्गलादिके परिवर्तन द्वारा कालकी पर्यायें (–'कम समय', 'अधिक समय' ऐसी कालकी अवस्थाएँ) गम्य होती हैं इसलिये भी काल 'परिवर्तनलिंग' है।

गम्यमानपर्यायत्वाच्चास्तिकायेष्वन्तर्भावार्थं स परिवर्तनलिंग इत्युक्त इति ॥६॥

अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स ।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति ॥७॥

अन्योऽन्यं प्रविशन्ति ददन्त्यवकाशमन्योऽन्यस्य ।
मिलन्त्यपि च नित्यं स्वकं स्वभावं न विजहन्ति ॥७॥

अत्र षण्णां द्रव्याणां परस्परमत्यन्तसंकरेऽपि प्रतिनियतस्वरूपादप्रच्यवनमुक्तम् । अत एव तेषां परिणामवत्त्वेऽपि प्राग्नित्यत्वमुक्तम् । अत एव च न तेषामेकत्वापत्तिर्न च जीवकर्मणोर्व्यवहारनयादेशादेकत्वेऽपि परस्परस्वरूपोपादानमिति ॥७॥

समावेश करना अनुचित नहीं है—ऐसा दर्शानेके हेतु इस गाथासूत्रमें कालके लिये 'परिवर्तनलिंग' शब्दका उपयोग किया है।] । ६ ।

गाथा ७

अन्वयार्थः—[अन्योन्यं प्रविशन्ति] वे एक-दूसरेमें प्रवेश करते हैं, [अन्योन्यस्य] अन्योन्य [अवकाशम् ददन्ति] अवकाश देते हैं, [मिलन्ति] परस्पर (क्षीर-नीरवत्) मिल जाते हैं, [अपि च] तथापि [नित्यं] सदा [स्वकं स्वभावं] अपने-अपने स्वभावको [न विजहन्ति] नहीं छोड़ते ।

टीकाः—यहाँ छह द्रव्योंको परस्पर अत्यन्त *संकर होने पर भी वे प्रतिनियत (—अपने-अपने निश्चित) स्वरूपसे च्युत नहीं होते ऐसा कहा है । इसीलिये (—अपने-अपने स्वभावसे च्युत नहीं होते इसीलिये), परिणामवाले होने पर भी वे नित्य हैं—ऐसा पहले (छठवीं गाथामें) कहा था; और इसीलिये वे एकत्वको प्राप्त नहीं होते; और यद्यपि जीव तथा कर्मको व्यवहारनयके कथनसे एकत्व (कहा जाता) है तथापि वे (जीव तथा कर्म) एक-दूसरेके स्वरूपको ग्रहण नहीं करते । ७ ।

---

* संकर=मिलन; मिलाप (अन्योन्य-अवगाहरूप) मिश्रितपना ।

अन्योन्य थाय प्रवेश, ए अन्योन्य दे अवकाशने ।
अन्योन्य मिलन, छतां कदी छोडे न आपस्वभावने ॥७॥

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एवका ॥ ८ ॥

सत्ता सर्वपदार्था सविश्वरूपा अनंतपर्याया ।
भङ्गोत्पादध्रौव्यात्मिका सप्रतिपक्षा भवत्येका ॥८॥

अत्रास्तित्वस्वरूपमुक्तम् । अस्तित्वं हि सत्ता नाम सतो भावः सत्त्वम् । न सर्वथा नित्यतया सर्वथा क्षणिकतया वा विद्यमानमात्रं वस्तु । सर्वथा नित्यस्य वस्तुनस्तत्त्वतः क्रमभुवां भावानामभावात्कुतो विकारवत्त्वम् । सर्वथा क्षणिकस्य च तत्त्वतः प्रत्यभिज्ञानाभावात् कुत एकसंतानत्वम् । ततः प्रत्यभिज्ञानहेतुभूतेन केनचित्स्वरूपेण ध्रौव्यमालम्ब्यमानं काभ्यांचित्क्रमप्रवृत्ताभ्यां स्वरूपाभ्यां प्रलीयमानमुपजायमानं चैककालमेव

गाथा ८

अन्वयार्थः—[सत्ता] सत्ता [भङ्गोत्पादध्रौव्यात्मिका] उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, [एका] एक, [सर्वपदार्था] सर्वपदार्थस्थित, [सविश्वरूपा] सविश्वरूप, [अनन्तपर्याया] अनन्तपर्यायमय और [सप्रतिपक्षा] सप्रतिपक्ष [भवति] है ।

टीकाः—यहाँ अस्तित्वका स्वरूप कहा है ।

अस्तित्व अर्थात् सत्ता नामक सत्का भाव अर्थात् [1]सत्त्व ।

विद्यमानमात्र वस्तु न तो सर्वथा नित्यरूप होती है और न सर्वथा क्षणिकरूप होती है । सर्वथा नित्यवस्तुको वास्तवमें क्रमभावी भावोंका अभाव होनेसे विकार (–परिवर्तन, परिणाम) कहांसे होगा ? और सर्वथा क्षणिक वस्तुमें वास्तवमें प्रत्यभिज्ञान*का अभाव होनेसे एकप्रवाहपना कहाँसे रहेगा ? इसलिये प्रत्यभिज्ञानके हेतुभूत किसी स्वरूपसे ध्रुव रहती हुई और किन्हीं दो क्रमवर्ती स्वरूपोंसे नष्ट होती हुई तथा उत्पन्न होती हुई—इसप्रकार परमार्थतः एक ही कालमें तिगुनी (तीन अंशवाली) अवस्थाको धारण करती हुई वस्तु सत् जानना । इसीलिये 'सत्ता' भी

---

१. सत्व=सत्पना; अस्तित्वपना; विद्यमानपना; अस्तित्वका भाव; 'है' ऐसा भाव ।

* वस्तु सर्वथा क्षणिक हो तो 'जो पहले देखनेमें (–जाननेमें) आई थी वही यह वस्तु है'—ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता ।

सर्वार्थ प्राप्त, सविश्वरूप, अनंतपर्ययवंत छे ।
सत्ता जनमलय-ध्रौव्यमय छे, अेक छे, सविपक्ष छे ॥८॥

परमार्थतस्त्रितयीमवस्थां बिभ्राणं वस्तु सदवबोध्यम् । अत एव सत्ताप्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मिकाऽवबोद्धव्या, भावभाववतोः कथंचिदेकस्वरूपत्वात् । सा च त्रिलक्षणस्य समस्तस्यापि वस्तुविस्तारस्य सादृश्यसूचकत्वादेका । सर्वपदार्थस्थिता च त्रिलक्षणस्य सदित्यभिधानस्य सदिति प्रत्ययस्य च सर्वपदार्थेषु तन्मूलस्यैवोपलम्भात् सविश्वरूपा च विश्वस्य समस्तवस्तुविस्तारस्यापि रूपैस्त्रिलक्षणैः स्वभावैः सह वर्तमानत्वात्, अनन्तपर्याया चानन्ताभिर्द्रव्यपर्यायव्यक्तिभिस्त्रिलक्षणाभिः परिगम्यमानत्वात् । एवंभूतापि सा न खलु निरंकुशा किन्तु सप्रतिपक्षा । प्रतिपक्षो

'उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक' (त्रिलक्षणा) जानना; क्योंकि [1]भाव और भाववानका कथंचित् एक स्वरूप होता है। और वह (सत्ता) 'एक' है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाले समस्त वस्तुविस्तारका सादृश्य सूचित करती है। और वह (सत्ता) 'सर्वपदार्थस्थित' है; क्योंकि उसके कारण ही (—सत्ताके कारण ही) सर्व पदार्थोंमें त्रिलक्षणकी (—उत्पाद व्ययध्रौव्यकी), 'सत्' ऐसे कथनकी तथा 'सत्' ऐसी प्रतीतिकी उपलब्धि होती है। और वह (सत्ता) 'सविश्वरूप' है, क्योंकि वह विश्वके रूपों सहित अर्थात् समस्त वस्तुविस्तारके त्रिलक्षणवाले स्वभावों सहित वर्तती है। और वह (सत्ता) 'अनन्तपर्यायमय' है, क्योंकि वह त्रिलक्षणवाली अनन्त द्रव्यपर्यायरूप व्यक्तियोंसे व्याप्त है। (इसप्रकार [2]सामान्य-विशेषात्मक सत्ताका उसके सामान्य पक्षकी अपेक्षासे अर्थात् महासत्तारूप पक्षकी अपेक्षासे वर्णन हुआ।)

ऐसी होने पर भी वह वास्तवमें [3]निरंकुश नहीं है किन्तु [4]सप्रतिपक्ष है। (१) सत्ताको असत्ता प्रतिपक्ष है; (२) त्रिलक्षणाको अत्रिलक्षणपना प्रतिपक्ष है; (३) एकको अनेकपना प्रतिपक्ष है; (४) सर्वपदार्थस्थितको एकपदार्थस्थित-

---

१. सत्ता भाव है और वस्तु भाववान है।

२. यहाँ 'सामान्यात्मक' का अर्थ 'महा' समझना चाहिये और 'विशेषात्मक' का अर्थ 'अवान्तर' समझना चाहिये। सामान्य-विशेषके दूसरे अर्थ यहाँ नहीं समझना।

३. निरंकुश=अंकुश रहित; विरुद्ध पक्ष रहित; निःप्रतिपक्ष। [सामान्यविशेषात्मक सत्ताका ऊपर जो वर्णन किया है वैसी होने पर भी सर्वथा वैसी नहीं है; कथंचित् (सामान्य-अपेक्षासे) वैसी है और कथंचित् (विशेष-अपेक्षासे) विरुद्ध प्रकारकी है।

४. सप्रतिपक्ष=प्रतिपक्ष सहित; विपक्ष सहित; विरुद्ध पक्ष सहित।

ह्यसत्ता सत्तायाः, अत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः, अनेकत्वमेकस्याः, एकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः, एकरूपत्वं सविश्वरूपायाः, एकपर्यायत्वमनन्तपर्यायाया इति । द्विविधा हि सत्ता-महासत्तावान्तरसत्ता च । तत्र सर्वपदार्थसार्थव्यापिनी सादृश्यास्तित्वसूचिका महासत्ता प्रोक्तैव । अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता । तत्र महासत्ताऽवान्तरसत्तारूपेणाऽसत्ताऽवान्तरसत्ता च महासत्तारूपेणाऽसत्तेत्यसत्ता सत्तायाः । येन स्वरूपेणोत्पादस्तत्तथो-

---

पना प्रतिपक्ष है; (५) सविश्वरूपको एकरूपपना प्रतिपक्ष है; (६) अनन्तपर्यायमयको एकपर्यायमयपना प्रतिपक्ष है ।

(उपरोक्त सप्रतिपक्षपना स्पष्ट समझाया जाता है:—) सत्ता द्विविध है : महासत्ता और अवान्तरसत्ता । उनमें, सर्वपदार्थसमूहमें व्याप्त होनेवाली, सादृश्य-अस्तित्वको सूचित करनेवाली महासत्ता (सामान्यसत्ता) तो कही जा चुकी है । दूसरी प्रतिनिश्चित (-एकएक निश्चित) वस्तुमें रहनेवाली, स्वरूप-अस्तित्वको सूचित करनेवाली अवान्तरसत्ता (विशेषसत्ता) है । (१) वहाँ, महासत्ता अवान्तरसत्तारूपसे असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूपसे असत्ता है इसलिये सत्ताको असत्ता है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होनेसे 'सत्ता' है वही अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'असत्ता' भी है ।) (२) जिस स्वरूपसे उत्पाद है उसका (-उस स्वरूपका) उसप्रकारसे उत्पाद एक ही लक्षण है; जिस स्वरूपसे व्यय है उसका (-उस स्वरूपका) उसप्रकारसे व्यय एक ही लक्षण है और जिस स्वरूपसे ध्रौव्य है उसका (-उस स्वरूपका) उस प्रकारसे ध्रौव्य एक ही लक्षण है इसलिये वस्तुके उत्पन्न होनेवाले, नष्ट होनेवाले और ध्रुव रहनेवाले स्वरूपोंमेंसे प्रत्येकको त्रिलक्षणका अभाव होनेसे त्रिलक्षणा (सत्ता)को अत्रिलक्षणपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होनेसे 'त्रिलक्षणा' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'अत्रिलक्षणा' भी है ।) (३) एक वस्तुकी स्वरूपसत्ता अन्य वस्तुकी स्वरूपसत्ता नहीं है इसलिये एक (सत्ता) को अनेकपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूपसे होनेसे 'एक' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'अनेक' भी है ।) (४) प्रतिनिश्चित (-व्यक्तिगत निश्चित) पदार्थमें स्थित सत्ताओं द्वारा ही पदार्थोंका प्रतिनिश्चितपना (-भिन्नभिन्न निश्चित व्यक्तित्व) होता है इसलिये सर्वपदार्थस्थित

त्पादैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेणोच्छेदस्तत्तथोच्छेदैकलक्षणमेव, येन स्वरूपेण ध्रौव्यं तत्तथा ध्रौव्यैकलक्षणमेव, तत उत्पद्यमानोच्छिद्यमानावतिष्ठमानानां वस्तुनः स्वरूपाणां प्रत्येकं त्रैलक्षण्याभावादत्रिलक्षणत्वं त्रिलक्षणायाः। एकस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता नान्यस्य वस्तुनः स्वरूपसत्ता भवतीत्यनेकत्वमेकस्याः। प्रतिनियतपदार्थस्थिताभिरेव सत्ताभिः पदार्थानां प्रतिनियमो भवतीत्येकपदार्थस्थितत्वं सर्वपदार्थस्थितायाः। प्रतिनियतैकरूपाभिरेव सत्ताभिः प्रतिनियतैकरूपत्वं वस्तूनां

(सत्ता)को एकपदार्थस्थितपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होनेसे 'सर्वपदार्थस्थित' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'एकपदार्थस्थित' भी है।) (५) प्रतिनिश्चित एक-एक रूपवाली सत्ताओं द्वारा ही वस्तुओंका प्रतिनिश्चित एक-एकरूप होता है इसलिये सविश्वरूप (सत्ता)को एकरूपपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होनेसे 'सविश्वरूप' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'एकरूप' भी है।) (६) प्रत्येक पर्यायमें स्थित (व्यक्तिगत भिन्नभिन्न) सत्ताओं द्वारा ही प्रतिनिश्चित एक-एक पर्यायोंका अनंतपना होता है इसालये अनंतपर्यायमय (सत्ता)को एकपर्यायमयपना है (अर्थात् जो सामान्यविशेषात्मक सत्ता महासत्तारूप होनेसे 'अनंतपर्यायमय' है वही यहाँ कही हुई अवान्तरसत्तारूप भी होनेसे 'एकपर्यायमय' भी हैं।)

इस प्रकार सब निरवद्य है (अर्थात् ऊपर कहा हुआ सर्व स्वरूप निर्दोष है, निर्बाध है, किंचित् विरोधवाला नहीं है) क्योंकि उसका (सत्ताके स्वरूपका) कथन सामान्य और विशेषकी प्ररूपणाकी ओर ढलते हुए दो नयोंके आधीन है।

भावार्थः—सामान्यविशेषात्मक सत्ताके दो पक्ष हैं—एक पक्ष वह महासत्ता और दूसरा पक्ष वह अवान्तरसत्ता। (१) महासत्ता अवान्तरसत्तारूपसे असत्ता है और अवान्तरसत्ता महासत्तारूपसे असत्ता है; इसलिये यदि महासत्ताको 'सत्ता' कहें तो अवान्तरसत्ताको 'असत्ता' कहा जायेगा। (२) महासत्ता उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ऐसे तीन लक्षणवाली है इसलिये वह 'त्रिलक्षणा' है। वस्तुके उत्पन्न होनेवाले स्वरूपका उत्पाद ही एक लक्षण है, नष्ट होनेवाले स्वरूपका व्यय ही एक लक्षण है और ध्रुव रहनेवाले स्वरूपका ध्रौव्य ही एक लक्षण है इसलिये उन तीन स्वरूपोंमेंसे प्रत्येककी अवान्तरसत्ता एक ही लक्षणवाली होनेसे 'अत्रिलक्षणा' है। (३) महासत्ता

भवतीत्येकरूपत्वं सविश्वरूपायाः। प्रतिपर्यायनियताभिरेव सत्ताभिः प्रतिनियतैकपर्यायाणामानन्त्यं भवतीत्येकपर्यायत्वमनन्तपर्यायायाः। इति सर्वमनवद्यं सामान्यविशेषप्ररूपणप्रवणनयद्वयायत्तत्वात्तद्देशनायाः ॥ ८ ॥

दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं जं।
दवियं तं भण्णंते अणण्णभूदं तु सत्तादो ॥ ९ ॥

समस्त पदार्थसमूहमें 'सत्, सत्, सत्' ऐसा समानपना दर्शाती है इसलिये एक है। एक वस्तुकी स्वरूपसत्ता अन्य किसी वस्तुकी स्वरूपसत्ता नहीं है, इसलिये जितनी वस्तुएँ उतनी स्वरूपसत्ताएँ; इसलिये ऐसी स्वरूपसत्ताएँ अथवा अवान्तरसत्ताएँ 'अनेक' हैं। (४) सर्व पदार्थ सत् हैं इसलिये महासत्ता 'सर्व पदार्थोंमें स्थित' है। व्यक्तिगत पदार्थोंमें स्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत सत्ताओं द्वारा ही पदार्थोंका भिन्न-भिन्न निश्चित व्यक्तित्व रह सकता है, इसलिये उस-उस पदार्थकी अवान्तरसत्ता उस-उस 'एक पदार्थमें ही स्थित' है। (५) महासत्ता समस्त वस्तुसमूहके रूपों (स्वभावों) सहित है इसलिये वह 'सविश्वरूप' (सर्वरूपवाली) है। वस्तुकी सत्ताका (कथंचित्) एक रूप हो तभी उस वस्तुका निश्चित एक रूप (-निश्चित एक स्वभाव) रह सकता है, इसलिये प्रत्येक वस्तुकी अवान्तरसत्ता निश्चित 'एक रूपवाली' ही है। (६) महासत्ता सर्व पर्यायोंमें स्थित है इसलिये वह 'अनन्तपर्यायमय' है। भिन्न-भिन्न पर्यायोंमें (कथंचित्) भिन्न-भिन्न सत्ताएँ हों तभी प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न रहकर अनन्त पर्यायें सिद्ध होंगी, नहीं तो पर्यायोंका अनन्तपना ही नहीं रहेगा—एकपना हो जायेगा; इसलिये प्रत्येक पर्यायकी अवान्तरसत्ता उस-उस 'एकपर्यायमय' ही है।

इस प्रकार सामान्यविशेषात्मक सत्ता, महासत्तारूप तथा अवान्तरसत्तारूप होनेसे, (१) सत्ता भी है और असत्ता भी है, (२) त्रिलक्षणा भी है और अत्रिलक्षणा भी है, (३) एक भी है और अनेक भी है, (४) सर्वपदार्थस्थित भी है और एकपदार्थस्थित भी है, (५) सविश्वरूप भी है और एकरूप भी है, (६) अनन्तपर्यायमय भी है और एकपर्यायमय भी है।८।

ते ते विविध सद्भावपर्ययने द्रवे—व्यापे—लहे।
तेने कहे छे द्रव्य, जे सत्ता थकी नहि अन्य छे ॥९॥

द्रवति गच्छति तांस्तान् सद्भावपर्यायान् यत् ।
द्रव्यं तत् भणन्ति अनन्यभूतं तु सत्तातः ॥ ९ ॥

अत्र सत्ताद्रव्ययोरर्थान्तरत्वं प्रत्याख्यातम् । द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यनुगतार्थया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम् । द्रव्यं च लक्ष्यलक्षणभावादिभ्यः कथञ्चिद्भेदेऽपि वस्तुतः सत्ताया अपृथग्भूतमेवेति मन्तव्यम् । ततो यत्पूर्वं सत्त्वमसत्त्वं त्रिलक्षणत्वमत्रिलक्षणत्वमेकत्वमनेकत्वं सर्वपदार्थस्थितत्वमेकपदार्थस्थितत्वं विश्वरूपत्वमेकरूपत्वमनन्तपर्यायत्वमेकपर्यायत्वं च प्रतिपादितं

गाथा ९

अन्वयार्थः—[तान् तान् सद्भावपर्यायान्] उन-उन सद्भावपर्यायोंको [यत्] जो [द्रवति] द्रवित होता है—[गच्छति] प्राप्त होता है, [तत्] उसे [द्रव्यं भणन्ति] (सर्वज्ञ) द्रव्य कहते हैं—[सत्तातः अनन्यभूतं तु] जो कि सत्तासे अनन्य-भूत है ।

टीकाः—यहाँ सत्ताको और द्रव्यको अर्थान्तरपना (भिन्नपदार्थपना, अनन्य-पदार्थपना) होनेका खंडन किया है ।

'उन-उन क्रमभावी और सहभावी सद्भावपर्यायोंको अर्थात् स्वभावविशेषोंको जो [1]द्रवित होता है—प्राप्त होता है—सामान्यरूप स्वरूपसे व्याप्त होता है वह द्रव्य है'—इसप्रकार [2]अनुगत अर्थवाली निरुक्तिसे द्रव्यकी व्याख्या की गई । और यद्यपि [3]लक्ष्यलक्षण भावादिक द्वारा द्रव्यको सत्तासे कथंचित भेद है तथापि वस्तुतः (परमार्थतः) द्रव्य सत्तासे अपृथक् ही है ऐसा मानना । इसलिये पहले (८ वीं गाथा-में) सत्ताको जो सत्पना, असत्पना, त्रिलक्षणपना, अत्रिलक्षणपना, एकपना, अनेक-पना, सर्वपदार्थस्थितपना, एकपदार्थस्थितपना, विश्वरूपपना, एकरूपपना, अनंतपर्याय-

---

१. श्री जयसेनाचार्यदेवकी टीकामें भी यहाँ की भाँति ही 'द्रवति गच्छति' का एक अर्थ तो 'द्रवित होता है अर्थात् प्राप्त होता है'—ऐसा किया गया है; तदुपरान्त 'द्रवति अर्थात् स्वभावपर्यायोंको द्रवित होता है और गच्छति अर्थात् विभावपर्यायोंको प्राप्त होता है'—ऐसा दूसरा अर्थ भी वहाँ किया गया है ।

२. यहाँ द्रव्य की जो निरुक्ति की गई है वह 'द्रु' धातुका अनुसरण करते हुए (-मिलते हुए) अर्थवाली है ।

३. सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है ।

सत्तायास्तत्सर्वं तदनर्थान्तरभूतस्य द्रव्यस्यैव द्रष्टव्यम् । ततो न कश्चिदपि तेषु सत्ताविशेषोऽवशिष्येत यः सत्तां वस्तुतो द्रव्यात्पृथक् व्यवस्थापयेदिति ॥९॥

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ॥१०॥

द्रव्यं सल्लक्षणकं उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तम् ।
गुणपर्यायाश्रयं वा यत्तद्भणन्ति सर्वज्ञाः ॥१०॥

अत्र त्रेधा द्रव्यलक्षणमुक्तम् । सद्द्रव्यलक्षणम् । उक्तलक्षणायाः सत्ताया अविशेषाद्द्रव्यस्य सत्स्वरूपमेव लक्षणम् । न चानेकान्तात्मकस्य द्रव्यस्य सन्मात्रमेव स्वं रूपं यतो लक्ष्य-

---

मयपना और एकपर्यायमयपना कहा गया वह सब सत्तासे अनर्थान्तरभूत (—अभिन्नपदार्थभूत, अनन्यपदार्थभूत) द्रव्यको ही देखना (अर्थात् सत्पना, असत्पना, त्रिलक्षणपना, अत्रिलक्षणपना आदि समस्त सत्ताके विशेष द्रव्यके ही हैं ऐसा मानना ।) इसलिये उनमें (—उन सत्ताके विशेषोंमें) कोई सत्ताविशेष शेष नहीं रहता जो कि सत्ताको वस्तुतः (परमार्थतः) द्रव्यसे पृथक् स्थापित करे । ९ ।

गाथा १०

अन्वयार्थः—[यत्] जो [सल्लक्षणकम्] 'सत्' लक्षणवाला है, [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंयुक्तम्] जो उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त है [वा] अथवा [गुणपर्यायाश्रयम्] जो गुणपर्यायोंका आश्रय है, [तद्] उसे [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ [द्रव्यं] द्रव्य [भणन्ति] कहते हैं ।

टीकाः—यहाँ तीन प्रकारसे द्रव्यका लक्षण कहा है ।

'सत्' द्रव्यका लक्षण है । पूर्वोक्त लक्षणवाली सत्तासे द्रव्य अभिन्न होनेके कारण 'सत्' स्वरूप ही द्रव्यका लक्षण है । और अनेकान्तात्मक द्रव्यका सत्मात्र ही स्वरूप नहीं है कि जिससे लक्ष्यलक्षणके विभागका अभाव हो । (सत्तासे द्रव्य अभिन्न

छे सत्त्व लक्षण जेहनुं, उत्पादव्ययध्रुवयुक्त जे ।
गुणपर्ययाश्रय जेह, तेने द्रव्य सर्वज्ञो कहे ॥१०॥

लक्षणविभागाभाव इति । उत्पादव्ययध्रौव्याणि वा द्रव्यलक्षणम् । एकजात्यविरोधिनि क्रमभुवां भावानां संताने पूर्वभावविनाशः समुच्छेदः, उत्तरभावप्रादुर्भावश्च समुत्पादः, पूर्वोत्तरभावोच्छेदोत्पादयोरपि स्वजातेरपरित्यागो ध्रौव्यम् । तानि सामान्यादेशादभिन्नानि विशेषादेशाद्भिन्नानि युगपद्भावीनि स्वभावभूतानि द्रव्यस्य लक्षणं भवन्तीति । गुणपर्याया वा द्रव्यलक्षणम् । अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनोऽन्वयिनो विशेषा गुणा व्यतिरेकिणः पर्यायास्ते द्रव्ये यौगपद्येन क्रमेण च प्रवर्तमानाः कथंचिद्भिन्नाः कथंचिदभिन्नाः स्वभावभूताः द्रव्यलक्षणतामापद्यन्ते ।

है इसलिये द्रव्यका जो सत्तारूप स्वरूप वही द्रव्यका लक्षण है । प्रश्नः—यदि सत्ता और द्रव्य अभिन्न हैं—सत्ता द्रव्यका स्वरूप ही है, तो 'सत्ता लक्षण है और द्रव्य लक्ष्य है'—ऐसा विभाग किसप्रकार घटित होता है ? उत्तरः—अनेकान्तात्मक द्रव्यके अनन्त स्वरूप हैं, उनमेंसे सत्ता भी उसका एक स्वरूप है; इसलिये अनन्तस्वरूपवाला द्रव्य लक्ष्य है और उसका सत्ता नामका स्वरूप लक्षण है—ऐसा लक्ष्यलक्षणविभाग अवश्य घटित होता है । इसप्रकार अबाधितरूपसे सत् द्रव्यका लक्षण है ।)

अथवा, उत्पादव्ययध्रौव्य द्रव्यका लक्षण है । [1]एक जातिका अविरोधक ऐसा जो क्रमभावी भावोंका प्रवाह उसमें पूर्व भावका विनाश सो व्यय है, उत्तर भावका प्रादुर्भाव (—बादके भावकी अर्थात् वर्तमान भावकी उत्पत्ति) सो उत्पाद है और पूर्व-उत्तर भावोंके व्यय-उत्पाद होने पर भी स्वजातिका अत्याग सो ध्रौव्य है । वे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—जो कि सामान्य आदेशसे अभिन्न हैं (अर्थात् सामान्य कथनसे द्रव्यसे अभिन्न हैं), विशेष आदेशसे (द्रव्यसे) भिन्न हैं, युगपद् वर्तते हैं और स्वभावभूत हैं वे—द्रव्यका लक्षण है ।

अथवा, गुणपर्यायें द्रव्यका लक्षण है । अनेकान्तात्मक वस्तुके [2]अन्वयी विशेष वे गुण हैं और व्यतिरेकी विशेष वे पर्यायें हैं । वे गुणपर्यायें (गुण और पर्यायें)—जो कि द्रव्यमें एक ही साथ तथा क्रमशः प्रवर्तते हैं, (द्रव्यसे) कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं तथा स्वभावभूत हैं वे—द्रव्यका लक्षण है ।

---

१. द्रव्यमें क्रमभावी भावोंका प्रवाह एक जातिको खंडित नहीं करता—तोड़ता नहीं है अर्थात् जाति-अपेक्षासे सदैव एकत्व ही रखता है ।

२. अन्वय और व्यतिरेकके अर्थके लिये पृष्ठ १४ पर टिप्पणी देखिये ।

त्रयाणामप्यमीषां द्रव्यलक्षणानामेकस्मिन्नभिहितेऽन्यदुभयमर्थादेवापद्यते । सच्चेदुत्पादव्ययध्रौव्यवच्च गुणपर्यायवच्च । उत्पादव्ययध्रौव्यवच्चेत्सच्च गुणपर्यायवच्च । गुणपर्यायवच्चेत्सच्चोत्पादव्ययध्रौव्यवच्चेति । सद्धि नित्यानित्यस्वभावत्वाद् ध्रुवत्वमुत्पादव्ययात्मकतां च प्रथयति, ध्रुवत्वात्मकैर्गुणैरुत्पादव्ययात्मकैः पर्यायैश्च सहैकत्वं चाख्याति । उत्पादव्ययध्रौव्याणि तु नित्यानित्यस्वरूपं परमार्थं सदावेदयन्ति, गुणपर्यायांश्चात्मलाभनिबन्धनभूतान् प्रथयन्ति । गुण-

---

द्रव्यके इन तीनों लक्षणोंमेंसे (—सत्, उत्पादव्ययध्रौव्य तथा गुणपर्यायें इन तीन लक्षणोंमेंसे) एकका कथन करने पर शेष दोनों (बिना कथन किये) अर्थसे ही आजाते हैं। यदि द्रव्य सत् हो, तो वह (१) उत्पादव्ययध्रौव्यवाला और (२) गुणपर्यायवाला होगा; यदि उत्पादव्ययध्रौव्यवाला हो, तो वह (१) सत् और (२) गुणपर्यायवाला होगा; यदि गुणपर्यायवाला हो, तो वह (१) सत् और (२) उत्पादव्ययध्रौव्यवाला होगा। वह इस प्रकार:—सत् नित्यानित्यस्वभाववाला होनेसे (१) ध्रौव्यको और उत्पादव्ययात्मकताको प्रगट करता है तथा (२) ध्रौव्यात्मक गुणों और उत्पादव्ययात्मक पर्यायोंके साथ एकत्व दर्शाता है। उत्पादव्ययध्रौव्य (१) नित्यानित्यस्वरूप [1]पारमार्थिक सत्को बतलाते हैं तथा (२) [2]अपने स्वरूपकी प्राप्तिके कारणभूत गुणपर्यायोंको प्रगट करते हैं। [3]गुणपर्यायें अन्वय और व्यतिरेक-

---

१. पारमार्थिक=वास्तविक; यथार्थ; सच्चा। (वास्तविक सत् नित्यानित्यस्वरूप होता है। उत्पादव्यय अनित्यताको और ध्रौव्य नित्यताको बतलाता है इसलिये उत्पादव्ययध्रौव्य नित्यानित्यस्वरूप वास्तविक सत्को बतलाते हैं। इसप्रकार 'द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यवाला है'—ऐसा कहनेसे 'वह सत् है'—ऐसा भी बिना कहे ही आजाता है।

२. अपने=उत्पादव्ययध्रौव्यके (यदि गुण हो तभी ध्रौव्य होता है, और यदि पर्यायें हों तभी उत्पादव्यय होता है; इसलिये यदि गुणपर्यायें न हों तो उत्पादव्ययध्रौव्य अपने स्वरूपको प्राप्त हो ही नहीं सकते। इसप्रकार 'द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यवाला है'—ऐसा कहनेसे वह गुणपर्यायवाला भी सिद्ध हो जाता है।)

३. प्रथम तो, गुणपर्यायें अन्वय द्वारा ध्रौव्यको सूचित करते हैं और व्यतिरेक द्वारा उत्पादव्ययको सूचित करते हैं; इसप्रकार वे उत्पादव्ययध्रौव्यको सूचित करते हैं। दूसरे, गुणपर्यायें अन्वय द्वारा नित्यताको बतलाते हैं और व्यतिरेक द्वारा अनित्यताको बतलाते हैं;—इसप्रकार वे नित्यानित्यस्वरूप सत्को बतलाते हैं।

पर्यायास्त्वन्वयव्यतिरेकित्वाद् ध्रौव्योत्पत्तिविनाशान् सूचयन्ति, नित्यानित्यस्वभावं परमार्थं सच्चोपलक्षयन्तीति ॥ १० ॥

उप्पत्ती व विणासो दव्वस्स य णत्थि अत्थि सब्भावो ।
विगमुप्पादधुवत्तं करेंति तस्सेव पज्जाया ॥ ११ ॥

उत्पत्तिर्वा विनाशो द्रव्यस्य च नास्त्यस्ति सद्भावः ।
विगमोत्पादध्रुवत्वं कुर्वन्ति तस्यैव पर्यायाः ॥११॥

अत्रोभयनयाभ्यां द्रव्यलक्षणं प्रविभक्तम् । द्रव्यस्य हि सहक्रमप्रवृत्तगुणपर्यायसद्भावरूपस्य त्रिकालावस्थायिनोऽनादिनिधनस्य न समुच्छेदसमुदयौ युक्तौ । अथ तस्यैव पर्यायाणां

वाले होनेसे (१) ध्रौव्यको और उत्पादव्ययको सूचित करते हैं तथा (२) नित्यानित्यस्वभाववाले पारमार्थिक सत्को बतलाते हैं ।

भावार्थः—द्रव्यके तीन लक्षण हैं; सत्, उत्पादव्ययध्रौव्य और गुण पर्यायें । ये तीनों लक्षण परस्पर अविनाभावी हैं; जहाँ एक हो वहाँ शेष दोनों नियमसे होते ही हैं । १० ।

गाथा ११

अन्वयार्थः—[द्रव्यस्य च] द्रव्यका [उत्पत्तिः] उत्पाद [वा] या [विनाशः] विनाश [न अस्ति] नहीं है, [सद्भावः अस्ति] सद्भाव है । [तस्य एव पर्यायाः] उसीकी पर्यायें [विगमोत्पादध्रुवत्वं] विनाश, उत्पाद और ध्रुवता [कुर्वन्ति] करती हैं ।

टीकाः—यहाँ दोनों नयों द्वारा द्रव्यका लक्षण विभक्त किया है (अर्थात् दो नयोंकी अपेक्षासे द्रव्यके लक्षणके दो विभाग किये गये हैं ।)

सहवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायोंके सद्भावरूप, त्रिकाल-अवस्थायी (त्रिकाल स्थित रहनेवाले), अनादि-अनन्त द्रव्यके विनाश और उत्पाद उचित नहीं

नहि द्रव्यनो उत्पाद अथवा नाश नहि, सद्भाव छे ।
तेना ज जे पर्याय ते उत्पाद-लय-ध्रुवता करे ॥११॥

सहप्रवृत्तिभाजां केषांचित् ध्रौव्यसंभवेऽप्यपरेषां क्रमप्रवृत्तिभाजां विनाशसंभवसंभावनमुपपन्नम्। ततो द्रव्यार्थार्पणायामनुत्पादमनुच्छेदं सत्स्वभावमेव द्रव्यं, तदेव पर्यायार्थार्पणायां सोत्पादं सोच्छेदं चावबोद्धव्यम्। सर्वमिदमनवद्यं च द्रव्यपर्यायाणामभेदात् ॥ ११ ॥

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूवेंति ॥ १२ ॥

पर्ययवियुतं द्रव्यं द्रव्यवियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति।
द्वयोरनन्यभूतं भावं श्रमणाः प्ररूपयन्ति ॥ १२ ॥

अत्र द्रव्यपर्यायाणामभेदो निर्दिष्टः। दुग्धदधिनवनीतघृतादिवियुतगोरसवत्पर्यायवियुतं द्रव्यं नास्ति। गोरसवियुक्तदुग्धदधिनवनीतघृतादिवद्द्रव्यवियुक्ताः पर्याया न सन्ति।

हैं। परन्तु उसीकी पर्यायोंके—सहवर्ती कुछ (पर्यायों) का ध्रौव्य होने पर भी अन्य क्रमवर्ती (पर्यायों) के—विनाश और उत्पाद होना घटित होते हैं। इसलिये द्रव्य द्रव्यार्थिक आदेशसे (–कथनसे) उत्पादरहित, विनाशरहित, सत् स्वभाववाला ही जानना चाहिये और वही (द्रव्य) पर्यायार्थिक आदेशसे उत्पादवाला तथा विनाशवाला जानना चाहिये।

—यह सब निरवद्य (–निर्दोष, निर्बाध, अविरुद्ध) है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायोंका अभेद (–अभिन्नपना) है। ११।

गाथा १२

अन्वयार्थः—[**पर्ययवियुतं**] पर्यायोंरहित [**द्रव्यं**] द्रव्य [**च**] और [**द्रव्यवियुक्ताः**] द्रव्यरहित [**पर्यायाः**] पर्यायें [**न सन्ति**] नहीं होती; [**द्वयोः**] दोनोंका [**अनन्यभूतं भावं**] अनन्यभाव (-अनन्यपना) [**श्रमणाः**] श्रमण [**प्ररूपयन्ति**] प्ररूपित करते हैं।

टीकाः—यहाँ द्रव्य और पर्यायोंका अभेद दर्शाया है।

जिसप्रकार दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादिसे रहित गोरस नहीं होता उसीप्रकार पर्यायोंसे रहित द्रव्य नहीं होता; जिसप्रकार गोरससे रहित दूध, दही, मक्खन,

---

पर्यायविरहित द्रव्य नहि, नहि द्रव्यहीन पर्याय छे।
पर्याय तेम ज द्रव्य केरी अनन्यता श्रमणो कहे ॥१२॥

ततो द्रव्यस्य पर्यायाणां चादेशवशात्कथंचिद्भेदेऽप्येकास्तित्वनियतत्वादन्योन्याजहद्वृत्तीनां वस्तुत्वेनाभेद इति ॥ १२ ॥

दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।
अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ॥ १३ ॥

द्रव्येण विना न गुणा गुणैर्द्रव्यं विना न सम्भवति ।
अव्यतिरिक्तो भावो द्रव्यगुणानां भवति तस्मात् ॥ १३ ॥

अत्र द्रव्यगुणानामभेदो निर्दिष्टः । पुद्गलपृथग्भूतस्पर्शरसगन्धवर्णवद्द्रव्येण विना न गुणाः संभवन्ति । स्पर्शरसगंधवर्णपृथग्भूतपुद्गलवद्गुणैर्विना द्रव्यं न संभवति । ततो

घी इत्यादि नहीं होते उसीप्रकार द्रव्यसे रहित पर्यायें नहीं होतीं । इसलिये, यद्यपि द्रव्य और पर्यायोंका आदेशवशात् (-कथनके वश) कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अस्तित्वमें नियत (दृढ़रूपसे स्थित) होनेके कारण *अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ती इसलिये वस्तुरूपसे उनका अभेद है । १२ ।

गाथा १३

अन्वयार्थः—[द्रव्येण विना] द्रव्य विना [गुणाः न] गुण नहीं होते, [गुणैः-विना] गुणों विना [द्रव्यं न सम्भवति] द्रव्य नहीं होता; [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यगुणानाम्] द्रव्य और गुणोंका [अव्यतिरिक्तः भावः] अव्यतिरिक्तभाव (अभिन्न-पना) [भवति] है ।

टीकाः—यहाँ द्रव्य और गुणोंका अभेद दर्शाया है ।

जिसप्रकार पुद्गलसे पृथक् स्पर्श-रस-गंध-वर्ण नहीं होते उसीप्रकार द्रव्यके विना गुण नहीं होते; जिसप्रकार स्पर्श-रस-गंध-वर्णसे पृथक् पुद्गल नहीं होता उसी-

---

* अन्योन्यवृत्ति=एक-दूसरेके आश्रयसे निर्वाह करना; एक-दूसरेके आधारसे स्थित रहना; एक-दूसरेके कारण बना रहना ।

नहि द्रव्य विण गुण होय, गुण विण द्रव्य पण नहि होय छे ।
तेथी गुणो ने द्रव्य केरी अभिन्नता निर्दिष्ट छे ॥ १३ ॥

द्रव्यगुणानामप्यादेशवशात् कथंचिद्भेदेऽप्येकास्तित्वनियतत्वादन्योन्याजहद्वृत्तीनां वस्तुत्वेनाभेद इति ॥ १३ ॥

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ १४ ॥

स्यादस्ति नास्त्युभयमवक्तव्यं पुनश्च तत्त्रितयम् ।
द्रव्यं खलु सप्तभंगमादेशवशेन सम्भवति ॥ १४ ॥

अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभंगी । स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्यादवक्तव्यं द्रव्यं, स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति । अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽ-

---

प्रकार गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होता । इसलिये, यद्यपि द्रव्य और गुणोंका आदेशवशात् कथंचित् भेद है तथापि, वे एक अस्तित्वमें नियत होनेके कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोड़ते इसलिये वस्तुरूपसे उनका भी अभेद है (अर्थात् द्रव्य और पर्यायोंकी भांति द्रव्य और गुणोंका भी वस्तुरूपसे अभेद है ।) । १३ ।

गाथा १४

अन्वयार्थः—[**द्रव्यं**] द्रव्य [**आदेशवशेन**] आदेशवशात् (-कथनके वश) [**खलु**] वास्तवमें [**स्यात् अस्ति**] स्यात् अस्ति, [**नास्ति**] स्यात् नास्ति, [**उभयम्**] स्यात् अस्ति-नास्ति, [**अवक्तव्यम्**] स्यात् अवक्तव्य [**पुनः च**] और फिर [**तत्त्रितयम्**] अवक्तव्यतायुक्त तीन भंगवाला (-स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य और स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य)–[**सप्तभङ्गम्**] इसप्रकार सात भंगवाला [**सम्भवति**] है ।

टीकाः—यहाँ द्रव्यके आदेशके वश सप्तभंगी कही है ।

(१) द्रव्य 'स्यात् अस्ति' है; (२) द्रव्य 'स्यात् नास्ति' है; (३) द्रव्य 'स्यात् अस्ति और नास्ति' है; (४) द्रव्य 'स्यात् अवक्तव्य' है; (५) द्रव्य 'स्यात्

छे अस्ति, नास्ति, उभय तेम अवाच्य आदिक भंग जे ।
आदेशवश ते सात भंगे युक्त सर्वे द्रव्य छे ॥ १४ ॥

नेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च क्रमेणादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति च

अस्ति और अवक्तव्य' है; (६) द्रव्य 'स्यात् नास्ति और अवक्तव्य' है; (७) द्रव्य 'स्यात् अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' है।

यहाँ (सप्तभंगीमें) सर्वथापनेका निषेधक, अनेकान्तका द्योतक '[1]स्यात्' शब्द 'कथंचित्' ऐसे अर्थमें अव्ययरूपसे प्रयुक्त हुआ है। वहाँ—(१) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कथन किया जाने पर 'अस्ति' है; (२) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कथन किया जाने पर 'नास्ति' है, (३) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे क्रमशः कथन किया जाने पर 'अस्ति और नास्ति' है; (४) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे युगपद् कथन किया जाने पर '[2]अवक्तव्य' है; (५) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे और युगपद् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल भावसे कथन किया जानेपर 'अस्ति और अवक्तव्य' है; (६) द्रव्य परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कथन किया जाने पर 'नास्ति और अवक्तव्य' है; (७) द्रव्य स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे और युगपद् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे कथन किया जाने पर 'अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' है।—यह (उपरोक्त बात) अयोग्य नहीं है, क्योंकि सर्व वस्तु (१) स्वरूपादिसे '[3]अशून्य' है, (२) पररूपादिसे '[4]शून्य' है, (३) दोनोंसे (स्वरूपादिसे और पर-

---

१. स्यात्=कथंचित्; किसी प्रकार; किसी अपेक्षासे। ('स्यात्' शब्द सर्वथापनेका निषेध करता है और अनेकान्तको प्रकाशित करता है—दर्शाता है।)

२. अवक्तव्य=जो कहा न जा सके; अवाच्य। (एक ही साथ स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टयकी अपेक्षासे द्रव्य कथनमें नहीं आसकता इसलिये 'अवक्तव्य' है।)

३. अशून्य=जो शून्य नहीं है ऐसा; अस्तित्ववाला; सत्।

४. शून्य=जिसका अस्तित्व नहीं है ऐसा; असत्।

नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति । न चैतदनुपपन्नम्; सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्, पररूपादिना शून्यत्वात्, उभाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वात्, शून्यावाच्यत्वात्, अशून्यशून्यावाच्यत्वाच्चेति ।। १४ ।।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जएसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ।। १५ ।।

भावस्य नास्ति नाशो नास्ति अभावस्य चैव उत्पादः ।
गुणपर्यायेषु भावा उत्पादव्ययान् प्रकुर्वन्ति ।। १५ ।।

रूपादिसे) 'अशून्य और शून्य' है, (४) दोनोंसे (स्वरूपादिसे और पररूपादिसे) एक ही साथ 'अवाच्य' है, भंगोंके संयोगसे कथन करने पर (५) 'अशून्य और अवाच्य' है, (६) 'शून्य और अवाच्य' है, (७) 'अशून्य, शून्य और अवाच्य' है ।

भावार्थः—(१) द्रव्य *स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे 'है ।' (२) द्रव्य परचतुष्टयकी अपेक्षासे 'नहीं है ।' (३) द्रव्य क्रमशः स्वचतुष्टयकी और परचतुष्टयकी अपेक्षासे 'है और नहीं है ।' (४) द्रव्य युगपद् स्वचतुष्टयकी और परचतुष्टयकी अपेक्षासे 'अवक्तव्य है ।' (५) द्रव्य स्वचतुष्टयकी और युगपद् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे 'है और अवक्तव्य है ।' (६) द्रव्य परचतुष्टयकी और युगपद् स्वपरचतुष्टयको अपेक्षासे 'नहीं और अवक्तव्य है ।' (७) द्रव्य स्वचतुष्टयकी, परचतुष्टयकी और युगपद् स्वपरचतुष्टयकी अपेक्षासे 'है, नहीं है और अवक्तव्य है ।'—इसप्रकार यहाँ सप्तभंगी कही गई ।१४।

गाथा १५

अन्वयार्थः—[भावस्य] भावका (सत्‌का) [नाशः] नाश [न अस्ति] नहीं है [च एव] तथा [अभावस्य] अभावका (असत्‌का) [उत्पादः] उत्पाद [न अस्ति] नहीं है; [भावाः] भाव (सत् द्रव्यों) [गुणपर्यायेषु] गुणपर्यायोंमें [उत्पादव्ययान्] उत्पादव्यय [प्रकुर्वन्ति] करते हैं ।

---

* स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावको स्वचतुष्टय कहा जाता है । स्वद्रव्य अर्थात् निज गुणपर्यायोंके आधारभूत वस्तु स्वयं; स्वक्षेत्र अर्थात् वस्तुका निज विस्तार अर्थात् स्वप्रदेशसमूह; स्वकाल अर्थात् वस्तुकी अपनी वर्तमान पर्याय; स्वभाव अर्थात् निजगुणस्वशक्ति ।

नहि 'भाव' केरो नाश होय, 'अभाव'नो उत्पाद ना ।
'भावो' करे छे नाश ने उत्पाद गुणपर्यायमां ।।१५।।

अत्रासत्प्रादुर्भावत्वमुत्पादस्य सदुच्छेदत्वं विगमस्य निषिद्धम् । भावस्य सतो हि द्रव्यस्य न द्रव्यत्वेन विनाशः, अभावस्यासतोऽन्यद्रव्यस्य न द्रव्यत्वेनोत्पादः, किन्तु भावाः सन्ति द्रव्याणि सदुच्छेदमसदुत्पादं चान्तरेणैव गुणपर्यायेषु विनाशमुत्पादं चारभन्ते । यथा हि घृतोत्पत्तौ गोरसस्य सतो न विनाशः, न चापि गोरसव्यतिरिक्तस्यार्थान्तरस्यासतः उत्पादः किन्तु गोरसस्यैव सदुच्छेदमसदुत्पादं चानुपलभमानस्य स्पर्शरसगन्धवर्णादिषु परिणामिषु गुणेषु पूर्वावस्थया विनश्यत्सूत्तरावस्थया प्रादुर्भवत्सु नश्यति च नवनीतपर्यायो घृतपर्याय उत्पद्यते, तथा सर्वभावानामपीति ॥१५॥

टीकाः—यहां उत्पादमें असत्के प्रादुर्भावका और व्ययमें सत्के विनाशका निषेध किया है (अर्थात् उत्पाद होनेसे कहीं असत्की उत्पत्ति नहीं होती और व्यय होनेसे कहीं सत्का विनाश नहीं होता—ऐसा इस गाथामें कहा है ।)

भावका—सत् द्रव्यका—द्रव्यरूपसे विनाश नहीं है, अभावका—असत् अन्य द्रव्यका—द्रव्यरूपसे उत्पाद नहीं है; परन्तु भाव–सत् द्रव्यों, सत्के विनाश और असत्के उत्पाद बिना ही, गुणपर्यायोंमें विनाश और उत्पाद करते हैं । जिसप्रकार घीकी उत्पत्तिमें गोरसका—सत्का—विनाश नहीं है तथा गोरससे भिन्न पदार्थान्तरका—असत्का—उत्पाद नहीं है, किन्तु गोरसको ही सत्का विनाश और असत्का उत्पाद किये बिना ही, पूर्व अवस्थासे विनाशको प्राप्त होनेवाले और उत्तर अवस्थासे उत्पन्न होनेवाले स्पर्श-रस-गंध-वर्णादिक परिणामी गुणोंमें मक्खनपर्याय विनाशको प्राप्त होती है तथा घीपर्याय उत्पन्न होती है; उसीप्रकार सर्व भावोंका भी वैसा ही है [अर्थात् समस्त द्रव्योंको नवीन पर्यायकी उत्पत्तिमें सत्का विनाश नहीं है तथा असत्का उत्पाद नहीं है; किन्तु सत्का विनाश और असत्का उत्पाद किये बिना ही, पहलेकी (पुरानी) अवस्थासे विनाशको प्राप्त होनेवाले और बादकी (नवीन) अवस्थासे उत्पन्न होनेवाले *परिणामी गुणोंमें पहलेकी पर्यायका विनाश और बादकी पर्यायकी उत्पत्ति होती है ।]

---

* परिणामी=परिणमित होनेवाले; परिणामवाले । (पर्यायार्थिकनयसे गुण परिणामी हैं अर्थात् परिणमित होते हैं ।)

भावा जीवादीया जीवगुणा चेदणा य उवओगो ।
सुरणरणारयतिरिया जीवस्स य पज्जया बहुगा ।।१६।।

भावा जीवाद्या जीवगुणाश्चेतना चोपयोगः ।
सुरनरनारकतिर्यञ्चो जीवस्य च पर्यायाः बहवः ।।१६।।

अत्र भावगुणपर्यायाः प्रज्ञापिताः । भावा हि जीवादयः षट् पदार्थाः । तेषां गुणाः पर्यायाश्च प्रसिद्धाः । तथापि जीवस्य वक्ष्यमाणोदाहरणप्रसिद्ध्यर्थमभिधीयन्ते । गुणा हि

गाथा १६

अन्वयार्थः—[जीवाद्याः] जीवादि (द्रव्य) वे [भावाः] 'भाव' हैं । [जीवगुणाः] जीवके गुण [चेतना च उपयोगः] चेतना तथा उपयोग हैं [च] और [जीवस्य पर्यायाः] जीवकी पर्यायें [सुरनरनारकतिर्यञ्चः] देव-मनुष्य-नारक-तिर्यञ्चरूप [बहवः] अनेक है ।

टीकाः—यहाँ भावों (-द्रव्यों), गुणों और पर्यायें बतलाये हैं ।

जीवादि छह पदार्थ वे 'भाव' हैं । उनके गुण और पर्यायें प्रसिद्ध हैं; तथापि [1]आगे (अगली गाथामें) जो उदाहरण देना है उसकी प्रसिद्धिके हेतु जीवके गुणों और पर्यायोंका कथन किया जाता हैः—

जीवके गुणों [2]ज्ञानानुभूतिस्वरूप शुद्धचेतना तथा कार्यानुभूतिस्वरूप और कर्मफलानुभूतिस्वरूप अशुद्धचेतना हैं और [3]चैतन्यानुविधायी-परिणामस्वरूप, सविकल्प-

१. अगली गाथामें जीवकी बात उदाहरणके रूपमें लेना है; इसलिये उस उदाहरणको प्रसिद्ध करनेके लिये यहाँ जीवके गुणों और पर्यायोंका कथन किया गया है ।

२. शुद्धचेतना ज्ञानकी अनुभूति स्वरूप है और अशुद्धचेतना कर्मकी तथा कर्मफलकी अनुभूति-स्वरूप है ।

३. चैतन्य-अनुविधायी परिणाम अर्थात् चैतन्यका अनुसरण करनेवाला परिणाम वह उपयोग है । सविकल्प उपयोगको ज्ञान और निर्विकल्प उपयोगको दर्शन कहा जाता है । ज्ञानोपयोगके भेदोंमेंसे मात्र केवलज्ञान ही शुद्ध होनेसे सकल (अखण्ड, परिपूर्ण) है और अन्य सब अशुद्ध होनेसे विकल (खण्डित, अपूर्ण) हैं; दर्शनोपयोगके भेदोंमेंसे मात्र केवलदर्शन ही शुद्ध होनेसे सकल है और अन्य सब अशुद्ध होनेसे विकल हैं ।

जीवादि सौ छे 'भाव', जीवगुण चेतना उपयोग छे ।
जीवपर्ययो तिर्यंच-नारक-देव-मनुज अनेक छे ।।१६।।

जीवस्य ज्ञानानुभूतिलक्षणा शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा चाशुद्धचेतना, चैतन्यानुविधायिपरिणामलक्षणः सविकल्पनिर्विकल्परूपः शुद्धाशुद्धतया सकलविकलतां दधानो द्वेधोपयोगश्च । पर्यायास्त्वगुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्ताः शुद्धाः, सूत्रोपात्तास्तु सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणाः परद्रव्यसंबन्धनिर्वृत्तत्वादशुद्धाश्चेति ।। १६ ।।

मणुसत्तणेण णट्ठो देही देवो हवेदि इदरो वा ।
उभयत्थ जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो ।।१७।।

मनुष्यत्वेन नष्टो देही देवो भवतीतरो वा ।
उभयत्र जीवभावो न नश्यति न जायतेऽन्यः ।।१७।।

इदं भावनाशाभावोत्पादनिषेधोदाहरणम् । प्रतिसमयसंभवदगुरुलघुगुणहानिवृद्धिनिर्वृत्त-

---

निर्विकल्परूप, शुद्धता-अशुद्धताके कारण सकलता-विकलता धारण करनेवाला दो प्रकारका उपयोग है (अर्थात् जीवके [1]गुणों शुद्ध-अशुद्ध चेतना तथा दो प्रकारके उपयोग हैं ।)

जीवकी पर्यायें इसप्रकार हैं:—अगुरुलघुगुणकी हानिवृद्धिसे उत्पन्न होनेवाली पर्यायें शुद्ध पर्यायें हैं और सूत्रमें (—इस गाथामें) कही हुई, देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्य-स्वरूप पर्यायें परद्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होती हैं इसलिये अशुद्ध पर्यायें हैं ।१६।

गाथा १७

अन्वयार्थः—[**मनुष्यत्वेन**] मनुष्यत्वसे [**नष्टः**] नष्ट हुआ [**देही**] देही (जीव) [**देवः वा इतरः**] देव अथवा अन्य [**भवति**] होता है; [**उभयत्र**] उन दोनोंमें [**जीवभावः**] जीवभाव [**न नश्यति**] नष्ट नहीं होता और [**अन्यः**] दूसरा जीवभाव [**न जायते**] उत्पन्न नहीं होता ।

टीकाः—'भावका नाश नहीं होता और अभावका उत्पाद नहीं होता' उसका यह उदाहरण है ।

---

१. पर्यायार्थिकनयसे गुण भी परिणामी हैं । (देखिये, १५ वीं गाथा की टीका ।)

मनुजत्वथी व्यय पामीने देवादि देही थाय छे ।
त्यां जीव भाव न नाश पामे, अन्य नहि उद्भव लहे ।।१७।।

स्वभावपर्यायसंतत्यविच्छेदकेनैकेन सोपाधिना मनुष्यत्वलक्षणेन पर्यायेण विनश्यति जीवः, तथाविधेन देवत्वलक्षणेन नारकतिर्यक्त्वलक्षणेन वान्येन पर्यायेणोत्पद्यते। न च मनुष्यत्वेन नाशे जीवत्वेनापि नश्यति, देवत्वादिनोत्पादे जीवत्वेनाप्युत्पद्यते; किंतु सदुच्छेदमसदुत्पादमन्तरेणैव तथा विवर्तत इति ॥ १७ ॥

सो चेव जादि मरणं जादि ण णट्ठो ण चेव उप्पण्णो।
उप्पण्णो य विणट्ठो देवो मणुसो त्ति पज्जाओ ॥१८॥

स च एव याति मरणं याति न नष्टो न चैवोत्पन्नः।
उत्पन्नश्च विनष्टो देवो मनुष्य इति पर्यायः ॥१८॥

अत्र कथंचिद्व्ययोत्पादवत्त्वेऽपि द्रव्यस्य सदाविनष्टानुत्पन्नत्वं ख्यापितम्। यदेव पूर्वोत्तरपर्यायविवेकसंपर्कापादितामुभयीमवस्थामात्मसात्कुर्वाणमुच्छिद्यमानमुत्पद्यमानं च द्रव्य-

---

प्रतिसमय होनेवाली अगुरुलघुगुणकी हानिवृद्धिसे उत्पन्न होनेवाली स्वभाव-पर्यायोंकी संततिका विच्छेद न करनेवाली एक सोपाधिक मनुष्यत्वस्वरूप पर्यायसे जीव विनाशको प्राप्त होता है और तथाविध (—स्वभावपर्यायोंके प्रवाहको न तोड़नेवाली सोपाधिक) देवत्वस्वरूप, नारकत्वस्वरूप या तिर्यंचत्वस्वरूप अन्य पर्यायसे उत्पन्न होता है। वहाँ ऐसा नहीं है कि मनुष्यत्वसे विनष्ट होने पर जीवत्वसे भी नष्ट होता है और देवत्व आदिसे उत्पाद होने पर जीवत्वसे भी उत्पन्न होता है, किन्तु सत्के उच्छेद और असत्के उत्पाद बिना ही तदनुसार विवर्तन (-परिवर्तन, परिणमन) करता है। १७।

गाथा १८

अन्वयार्थः—[**सः च एव**] वही [**याति**] जन्म लेता है और [**मरणं याति**] मृत्यु प्राप्त करता है तथापि [**न एव उत्पन्नः**] वह उत्पन्न नहीं होता [**च**] और [**न नष्टः**] नष्ट नहीं होता; [**देवः मनुष्यः**] देव, मनुष्य [**इति पर्यायः**] ऐसी पर्याय [**उत्पन्नः**] उत्पन्न होती है [**च**] और [**विनष्टः**] विनष्ट होती है।

टीकाः—यहाँ, द्रव्य कथंचित् व्यय और उत्पादवाला होने पर भी उसका सदैव अविनष्टपना और अनुत्पन्नपना कहा है।

जन्मे मरे छे ते ज, तोपण नाश-उद्भव नव लहे।
सुर-मानवादिक पर्ययो उत्पन्न ने लय थाय छे ॥१८॥

मालक्ष्यते, तदेव तथाविधोभयावस्थाव्यापिना प्रतिनियतैकवस्तुत्वनिबन्धनभूतेन स्वभावेनाविनष्ट-मनुत्पन्नं वा वेद्यते । पर्यायास्तु तस्य पूर्वपूर्वपरिणामोपमर्दोत्तरोत्तरपरिणामोत्पादरूपाः प्रणाश-संभवधर्माणोऽभिधीयन्ते । ते च वस्तुत्वेन द्रव्यादपृथग्भूता एवोक्ताः । ततः पर्यायैः सहैकवस्तु-त्वाज्जायमानं म्रियमाणमपि जीवद्रव्यं सर्वदानुत्पन्नाविनष्टं द्रष्टव्यम् । देवमनुष्यादिपर्यायास्तु क्रमवर्तित्वादुपस्थितातिवाहितस्वसमया उत्पद्यन्ते विनश्यन्ति चेति ॥१८॥

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स णत्थि उप्पादो ।
तावदिओ जीवाणं देवो मणुसो त्ति गदिणामो ॥१६॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य नास्त्युत्पादः ।
तावज्जीवानां देवो मनुष्य इति गतिनाम ॥१९॥

जो द्रव्य [1]पूर्व पर्यायके वियोगसे और [2]उत्तर पर्यायके संयोगसे होनेवाली उभय अवस्थाओंको आत्मसात् (अपने रूप) करता हुआ विनष्ट होता और उपजता दिखाई देता है, वही (द्रव्य) वैसी उभय अवस्थाओंमें व्याप्त होनेवाला जो प्रतिनियत–एकवस्तुत्वके कारणभूत स्वभाव उसके द्वारा (–उस स्वभावकी अपेक्षासे) अविनष्ट एवं अनुत्पन्न ज्ञात होता है; उसकी पर्यायें पूर्व-पूर्व परिणामके नाशरूप और उत्तर-उत्तर परिणामके उत्पादरूप होनेसे विनाश-उत्पादधर्मवाली (-विनाश एवं उत्पादरूप धर्म-वाली) कही जाती हैं; और वे (पर्यायें) वस्तुरूपसे द्रव्यसे अपृथग्भूत ही कही गई हैं । इसलिये, पर्यायोंके साथ एकवस्तुपनेके कारण जन्मता और मरता होने पर भी जीवद्रव्य सर्वदा अनुत्पन्न एवं अविनष्ट ही देखना (–श्रद्धा करना); देव-मनुष्यादि पर्यायें उपजती हैं और विनष्ट होती हैं क्योंकि वे क्रमवर्ती होनेसे उनका स्वसमय उपस्थित होता है और बीत जाता है । १८ ।

गाथा १९

अन्वयार्थः—[एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीवको [सतः विनाशः] सत्का विनाश और [असतः उत्पादः] असत्का उत्पाद [न अस्ति] नहीं है; ('देव जन्मता है

---

१. पूर्व=पहलेकी । २. उत्तर=बादकी ।

अे रीत सत् व्यय ने असत्-उत्पाद होय न जीवने ।
सुरनरप्रमुख गतिनामनो हदयुक्त काल ज होय छे ॥१९॥

अत्र सदसतोरविनाशानुत्पादौ स्थितिपक्षत्वेनोपन्यस्तौ । यदि हि जीवो य एव म्रियते स एव जायते, य एव जायते स एव म्रियते, तदेवं सतो विनाशोऽसत उत्पादश्च नास्तीति व्यवतिष्ठते । यत्तु देवो जायते मनुष्यो म्रियते इति व्यपदिश्यते तदवधृतकालदेवमनुष्यत्वपर्याय निर्वर्तकस्य देवमनुष्यगतिनाम्नस्तन्मात्रत्वादविरुद्धम् । यथा हि महतो वेणुदण्डस्यैकस्य क्रमवृत्तीन्यनेकानि पर्वाण्यात्मीयात्मीयप्रमाणावच्छिन्नत्वात् पर्वान्तरमगच्छन्ति स्वस्थानेषु भावभाञ्जि परस्थानेष्वभावभाञ्जि भवन्ति, वेणुदण्डस्तु सर्वेष्वपि पर्वस्थानेषु भावभागपि पर्वान्तरसंबन्धेन पर्वान्तरसंबन्धाभावादभावभाग्भवति; तथा निरवधित्रिकालावस्थायिनो जीवद्रव्यस्यैकस्य क्रमवृत्तयोऽनेके मनुष्यत्वादिपर्याया आत्मीयात्मीयप्रमाणावच्छिन्नत्वात् पर्यायान्तरमगच्छन्तः

और मनुष्य मरता है'—ऐसा कहा जाता है उसका यह कारण है कि) [जीवानाम्] जीवोंको [देवः मनुष्यः] देव, मनुष्य [इति गतिनाम] ऐसा गतिनामकर्म [तावत्] उतने ही कालका होता है ।

टीकाः—यहाँ सत्का अविनाश और असत्का अनुत्पाद ध्रुवताके पक्षसे कहा है (अर्थात् ध्रुवताकी अपेक्षासे सत्का विनाश या असत्का उत्पाद नहीं होता—ऐसा इस गाथामें कहा है ।)

यदि वास्तवमें जो जीव मरता है वही जन्मता है और जो जीव जन्मता है वही मरता है, तो इसप्रकार सत्का विनाश और असत्का उत्पाद नहीं है ऐसा निश्चित होता है । और 'देव जन्मता है तथा मनुष्य मरता है' ऐसा जो कहा जाता है वह (भी) अविरुद्ध है क्योंकि मर्यादित कालकी देवत्वपर्याय और मनुष्यत्वपर्यायको रचनेवाले देवगतिनामकर्म और मनुष्यगतिनामकर्म मात्र उतने काल जितने ही होते हैं । जिसप्रकार एक बड़े बाँसके क्रमवर्ती अनेक [1]पर्व अपने-अपने मापमें मर्यादित होनेसे अन्य पर्वमें न जाते हुए अपने-अपने स्थानोंमें भाववाले (–विद्यमान) हैं और परस्थानोंमें अभाववाले (–अविद्यमान) हैं तथा बाँस तो समस्त पर्वस्थानोंमें भाववाला होने पर भी अन्य पर्वके सम्बन्ध द्वारा अन्य पर्वके सम्बन्धका अभाव होनेसे अभाववाला (भी) है; उसीप्रकार निरवधि त्रिकाल स्थित रहनेवाले एक जीवद्रव्यकी क्रमवर्ती अनेक मनुष्यादिपर्यायें अपने–अपने मापमें मर्यादित होनेसे अन्य पर्यायमें न जाती हुई अपने–अपने स्थानों

---

१. पर्व=एक गाँठसे दूसरी गाँठ तकका भाग; पोर ।

स्वस्थानेषु भावभाजः परस्थानेष्वभावभाजो भवन्ति, जीवद्रव्यं तु सर्वपर्यायस्थानेषु भावभागपि पर्यायान्तरसंबन्धेन पर्यायान्तरसंबन्धाभावादभावभाग्भवति ॥ १९ ॥

णाणावरणादीया भावा जीवेण सुट्ठु अणुबद्धा ।
तेसिमभावं किच्चा अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो ॥२०॥

ज्ञानावरणाद्या भावा जीवेन सुष्ठु अनुबद्धाः ।
तेषामभावं कृत्वाऽभूतपूर्वो भवति सिद्धः ॥ २० ॥

भाववाली हैं और परस्थानोंमें अभाववाली हैं तथा जीव द्रव्य तो सर्वपर्यायस्थानोंमें भाववाला होने पर भी अन्य पर्यायके सम्बन्ध द्वारा अन्य पर्यायके सम्बन्धका अभाव होनेसे अभाववाला (भी) है ।

भावार्थः—जीवको ध्रौव्य अपेक्षासे सत्का विनाश और असत्का उत्पाद नहीं है । 'मनुष्य मरता है और देव जन्मता है'—ऐसा जो कहा जाता है वह बात भी उपरोक्त विवरणके साथ विरोधको प्राप्त नहीं होती । जिसप्रकार एक बड़े बाँसकी अनेक पोरें अपने-अपने स्थानोंमें विद्यमान हैं और दूसरी पोरोंके स्थानोंमें अविद्यमान हैं तथा बाँस तो सर्व पोरोंके स्थानोंमें अन्वयरूपसे विद्यमान होने पर भी प्रथमादि पोरके रूपमें द्वितीयादि पोरमें न होनेसे अविद्यमान भी कहा जाता है; उसीप्रकार त्रिकाल-अवस्थायी एक जीवकी नरनारकादि अनेक पर्यायें अपने-अपने कालमें विद्यमान हैं और दूसरी पर्यायोंके कालमें अविद्यमान हैं तथा जीव तो सर्व पर्यायोंमें अन्वयरूपसे विद्यमान होने पर भी मनुष्यादिपर्यायरूपसे देवादिपर्यायमें न होनेसे अविद्यमान भी कहा जाता है । १९ ।

गाथा २०

अन्वयार्थः—[ज्ञानावरणाद्याः भावाः] ज्ञानावरणादि भाव [जीवेन] जीवके साथ [सुष्ठु] भलीभाँति [अनुबद्धाः] अनुबद्ध हैं; [तेषाम् अभावं कृत्वा] उनका अभाव करके वह [अभूतपूर्वः सिद्धः] अभूतपूर्व सिद्ध [भवति] होता है ।

ज्ञानावरण इत्यादि भावो जीव सह अनुबद्ध छे ।
तेनो करीने नाश, पामे जीव सिद्धि अपूर्वने ॥२०॥

अत्रात्यन्तासदुत्पादत्वं सिद्धस्य निषिद्धम् । यथा स्तोककालान्वयिषु नामकर्मविशेषोदयनिर्वृत्तेषु जीवस्य देवादिपर्यायेष्वेकस्मिन् स्वकारणनिवृत्तौ निवृत्तेऽभूतपूर्व एव चान्यस्मिन्नुत्पन्ने नासदुत्पत्तिः, तथा दीर्घकालान्वयिनि ज्ञानावरणादिकर्मसामान्योदयनिर्वृत्तसंसारित्वपर्याये भव्यस्य स्वकारणनिवृत्तौ निवृत्ते समुत्पन्ने चाभूतपूर्वे सिद्धत्वपर्याये नासदुत्पत्तिरिति । किं च—यथा द्राघीयसि वेणुदण्डे व्यवहिताव्यवहितविचित्रचित्रकिर्मीरताखचिताधस्तनार्धभागे एकान्तव्यवहितसुविशुद्धोर्ध्वार्धभागेऽवतारिता दृष्टिः समन्ततो विचित्रचित्रकिर्मीरताव्याप्तिं पश्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वं, तथा क्वचिदपि जीवद्रव्ये व्यवहिताव्यवहितज्ञा-

---

टीकाः—यहाँ सिद्धको अत्यन्त असत्-उत्पादका निषेध किया है (अर्थात् सिद्धत्व होनेसे सर्वथा असत्का उत्पाद नहीं होता ऐसा कहा है) ।

जिसप्रकार कुछ समय तक अन्वयरूपसे (—साथ-साथ) रहनेवाले नामकर्मविशेषके उदयसे उत्पन्न होनेवाली जो देवादिपर्यायें उनमेंसे जीवको एक पर्याय स्वकारण की निवृत्ति होने पर निवृत्त हो तथा अन्य कोई अभूतपूर्व पर्याय ही उत्पन्न हो, वहाँ असत्की उत्पत्ति नहीं है; उसीप्रकार दीर्घकाल तक अन्वयरूपसे रहनेवाली ज्ञानावरणादिकर्मसामान्यके उदयसे उत्पन्न होनेवाली संसारित्वपर्याय भव्यको स्वकारणकी निवृत्ति होने पर निवृत्त हो और अभूतपूर्व (—पूर्वकालमें नहीं हुई ऐसी) सिद्धत्वपर्याय उत्पन्न हो, वहाँ असत्की उत्पत्ति नहीं है ।

पुनश्च (विशेष समझाया जाता है):—

जिसप्रकार जिसका विचित्र चित्रोंसे चित्रविचित्र नीचेका अर्ध भाग कुछ ढँका हुआ और कुछ विन ढँका हो तथा सुविशुद्ध (—अचित्रित) ऊपरका अर्ध भाग मात्र ढँका हुआ ही हो ऐसे वहुत लम्वे वाँस पर दृष्टि डालनेसे वह दृष्टि सर्वत्र विचित्र चित्रोंसे हुए चित्रविचित्रपनेकी व्याप्तिका निर्णय करती हुई "वह वाँस सर्वत्र अविशुद्ध है (अर्थात् सम्पूर्ण रंगविरंगा है)" ऐसा अनुमान करती है; उसीप्रकार जिसका ज्ञानावरणादि कर्मोंसे हुआ चित्रविचित्रतायुक्त (—विविध विभावपर्यायवाला) वहुत वड़ा नीचेका भाग कुछ ढँका हुआ और कुछ विन ढँका है तथा सुविशुद्ध (सिद्धपर्यायवाला), वहुत वड़ा ऊपरका भाग मात्र ढँका हुआ ही है ऐसे किसी जीवद्रव्यमें वुद्धि लगाने से वह वुद्धि सर्वत्र ज्ञानावरणादि कर्मसे हुए चित्रविचित्रपनेकी व्याप्तिका निर्णय करती हुई 'वह जीव सर्वत्र अविशुद्ध है (अर्थात् सम्पूर्ण संसारपर्यायवाला है)' ऐसा अनुमान

नावरणादिकर्मकिर्मीरताखचितबहुतराधस्तनभागे एकान्तव्यवहितसुविशुद्धबहुतरोर्ध्वभागेऽवतारिता बुद्धिः समन्ततो ज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरताव्याप्तिं व्यवस्यन्ती समनुमिनोति तस्य सर्वत्राविशुद्धत्वम् । यथा च तत्र वेणुदण्डे व्याप्तिज्ञानाभासनिबन्धनविचित्रचित्रकिर्मीरतान्वयः, तथा च क्वचिज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरतान्वयः । यथैव च तत्र वेणुदण्डे विचित्रचित्रकिर्मीर-

---

करती है । पुनश्च, जिसप्रकार उस बाँसमें व्याप्तिज्ञानाभासका कारण (नीचेके खुले भागमें) विचित्र चित्रोंसे हुए चित्रविचित्रपनेका अन्वय (—संतति, प्रवाह) है, उसीप्रकार उस जीवद्रव्यमें व्याप्तिज्ञानाभासका कारण (नीचेके खुले भागमें) ज्ञानावरणादि कर्मसे हुए चित्रविचित्रपनेका अन्वय है । और जिसप्रकार उस बाँसमें (ऊपरके भागमें) सुविशुद्धपना है क्योंकि (वहाँ) विचित्र चित्रोंसे हुए चित्रविचित्रपनेके अन्वयका अभाव है, उसीप्रकार उस जीवद्रव्यमें (ऊपरके भागमें) सिद्धपना है क्योंकि (वहाँ) ज्ञानावरणादि कर्मसे हुए चित्रविचित्रपनेके अन्वयका अभाव है—कि जो अभाव आप्त-आगमके ज्ञानसे, सम्यक् अनुमानज्ञानसे और अतीन्द्रियज्ञानसे ज्ञात होता है ।

भावार्थः—संसारी जीवकी प्रगट संसारी दशा देखकर अज्ञानी जीवको भ्रम उत्पन्न होता है कि—'जीव सदा संसारी ही रहता है, सिद्ध हो ही नहीं सकता; यदि सिद्ध हो तो सर्वथा असत्-उत्पादका प्रसंग उपस्थित हो ।' किन्तु अज्ञानीकी यह बात योग्य नहीं है ।

जिसप्रकार जीवको देवादिरूप एक पर्यायके कारणका नाश होने पर उस पर्यायका नाश होकर अन्य पर्यायकी उत्पत्ति होती है, जीवद्रव्य तो ज्योंका त्यों रहता है; उसीप्रकार जीवको संसारपर्यायके कारणभूत मोहरागद्वेषादिका नाश होने पर संसारपर्यायका नाश होकर सिद्धपर्याय उत्पन्न होती है, जीवद्रव्य तो वही रहता है । संसारपर्याय और सिद्धपर्याय दोनों एक ही जीवद्रव्यकी पर्यायें हैं ।

पुनश्च, अन्य प्रकारसे समझाते हैं:—मान लो कि एक लम्बा बाँस खड़ा रखा गया है; उसका नीचेका कुछ भाग रंगबिरंगा किया गया है और शेष ऊपरका भाग अरंगी (—स्वाभाविक शुद्ध) है । उस बाँसके रंगबिरंगे भागमेंसे कुछ भाग खुला रखा गया है और शेष सारा रंगबिरंगा भाग तथा पूरा अरंगी भाग ढँक दिया गया है । उस बाँसका खुला रंगबिरंगा भाग देखकर अविचारी जीव 'जहाँ-जहाँ बाँस हो वहाँ-वहाँ

तान्वयाभावात्सुविशुद्धत्वं, तथैव च क्वचिज्जीवद्रव्ये ज्ञानावरणादिकर्मकिर्मीरतान्वयाभावादाप्तागमसम्यगनुमानातीन्द्रियज्ञानपरिच्छिन्नात्सिद्धत्वमिति ॥२०॥

एवं भावमभावं भावाभावं अभावभावं च।
गुणपज्जएहिं सहिदो संसरमाणो कुणदि जीवो ॥२१॥

रंगबिरंगापन होता है' ऐसी व्याप्ति (नियम, अविनाभावसम्बन्ध) की कल्पना कर लेता है और ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान खींच लेता है कि 'नीचेसे ऊपर तक सारा बांस रंगबिरंगा है।' यह अनुमान मिथ्या है; क्योंकि वास्तवमें तो उस बांसका ऊपरी भाग रंगबिरंगेपनके अभाववाला, अरंगी है। बाँसके दृष्टांतकी भांति—कोई एक भव्य जीव है; उसका नीचेका कुछ भाग (अर्थात् अनादिकालसे वर्तमान काल तकका और अमुक भविष्य काल तकका भाग) संसारी है और शेष ऊपरका अनंत भाग सिद्धरूप (–स्वाभाविक शुद्ध) है। उस जीवके संसारी भागमेंसे कुछ भाग खुला (प्रगट) है और शेष सारा संसारी भाग तथा पूरा सिद्धरूप भाग ढँका हुआ (अप्रगट) है। उस जीवका खुला (प्रगट) भाग संसारी देखकर अज्ञानी जीव 'जहाँ-जहाँ जीव हो वहाँ-वहाँ संसारीपना होता है' ऐसी व्याप्तिकी कल्पना कर लेता है और ऐसे मिथ्या व्याप्तिज्ञान द्वारा ऐसा अनुमान करता है कि 'अनादि-अनंत सारा जीव संसारी है।' यह अनुमान मिथ्या है; क्योंकि उस जीवका ऊपरका भाग (-अमुक भविष्य कालके बादका अनंत भाग) संसारीपनेके अभाववाला है, सिद्धरूप है—ऐसा सर्वज्ञप्रणीत आगमके ज्ञानसे, सम्यक् अनुमानज्ञानसे तथा अतीन्द्रिय ज्ञानसे स्पष्ट ज्ञात होता है।

—इसतरह अनेक प्रकारसे निश्चित होता है कि जीव संसारपर्याय नष्ट करके सिद्धपर्यायरूप परिणमित हो वहाँ सर्वथा असत्का उत्पाद नहीं होता। २०।

गुणपर्यये संयुक्त जीव संसरण करतो ए रीते।
उद्भव, विलय, वळी भाव-विलय, अभाव-उद्भवने करे ॥२१॥

एवं भावमभावं भावाभावमभावभावं च ।
गुणपर्ययैः सहितः संसरन् करोति जीवः ।।२१।।

जीवस्योत्पादव्ययसदुच्छेदासदुत्पादकर्तृत्वोपपत्त्युपसंहारोऽयम् । द्रव्यं हि सर्वदाऽविनष्टानुत्पन्नमाम्नातम् । ततो जीवद्रव्यस्य द्रव्यरूपेण नित्यत्वमुपन्यस्तम् । तस्यैव देवादिपर्यायरूपेण प्रादुर्भवतो भावकर्तृत्वमुक्तं; तस्यैव च मनुष्यादिपर्यायरूपेण व्ययतोऽभावकर्तृत्वमाख्यातं; तस्यैव च सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुदितं; तस्यैव चासतः पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्याभावभावकर्तृत्वमभिहितम् । सर्वमिदमनवद्यं

गाथा २१

अन्वयार्थः—[एवम्] इसप्रकार [गुणपर्ययैः सहितः] गुणपर्यायों सहित [जीवः] जीव [संसरन्] संसरण करता हुआ [भावम्] भाव, [अभावम्] अभाव, [भावाभावम्] भावाभाव [च] और [अभावभावम्] अभावभावको [करोति] करता है।

टीकाः—यह, जीवको उत्पाद, व्यय, सत्-विनाश और असत्-उत्पादका कर्तृत्व होनेकी सिद्धिरूप उपसंहार है।

द्रव्य वास्तवमें सर्वदा अविनष्ट और अनुत्पन्न आगममें कहा है; इसलिये जीवद्रव्यको द्रव्यरूपसे नित्यपना कहा गया। (१) देवादिपर्यायरूपसे उत्पन्न होता है इसलिये उसीको (—जीवद्रव्यको ही) भावका (—उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है; (२) मनुष्यादिपर्यायरूपसे नाशको प्राप्त होता है इसलिये उसीको अभावका (व्ययका) कर्तृत्व कहा गया है; (३) सत् (विद्यमान) देवादिपर्यायका नाश करता है इसलिये उसीको भावाभावका (सत्के विनाशका) कर्तृत्व कहा गया है; और (४) फिरसे असत् (-अविद्यमान) मनुष्यादिपर्यायका उत्पाद करता है इसलिये उसीको अभावभावका (-असत्के उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है।

—यह सब निरवद्य (निर्दोष, निर्बाध, अविरुद्ध) है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायोंमेंसे एककी गौणतासे और अन्यकी मुख्यतासे कथन किया जाता है। वह इसप्रकार है:—

द्रव्यपर्यायाणामन्यतरगुणमुख्यत्वेन व्याख्यानात् । तथा हि—यदा जीवः पर्यायगुणत्वेन द्रव्यमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा नोत्पद्यते, न विनश्यति, न च क्रमवृत्त्याऽवर्तमानत्वात् सत्पर्यायजातमुच्छिनत्ति, नासदुत्पादयति । यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति, विनश्यति, सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति । स खल्वयं प्रसादोऽनेकान्तवादस्य यदीदृशोऽपि विरोधो न विरोधः ॥२१॥

—इति षड्द्रव्यसामान्यप्ररूपणा ।

जीवा पुग्गलकाया आयासं अत्थिकाइया सेसा ।
अमया अत्थित्तमया कारणभूदा हि लोगस्स ॥२२॥

जीवाः पुद्गलकाया आकाशमस्तिकायौ शेषौ ।
अमया अस्तित्वमयाः कारणभूता हि लोकस्य ॥२२॥

जब जीव, पर्यायकी गौणतासे और द्रव्यकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह (१) उत्पन्न नहीं होता, (२) विनष्ट नहीं होता, (३) क्रमवृत्तिसे वर्तन नहीं करता इसलिये सत् (-विद्यमान) पर्यायसमूहको विनष्ट नहीं करता और (४) असत्को (-अविद्यमान पर्यायसमूहको) उत्पन्न नही करता; और जब जीव, द्रव्यकी गौणतासे तथा पर्यायकी मुख्यतासे विवक्षित होता है तब वह (१) उपजता है, (२) विनष्ट होता है, (३) जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (-विद्यमान) पर्यायसमूहको विनष्ट करता है और (४) जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है (-आ पहुँचा है) ऐसे असत्को (अविद्यमान पर्यायसमूहको) उत्पन्न करता है ।

यह प्रसाद वास्तवमें अनेकान्तवादका है कि ऐसा विरोध भी (सचमुच) विरोध नहीं है ।२१।

इसप्रकार षड्द्रव्यकी सामान्य प्ररूपणा समाप्त हुई ।

गाथा २२

अन्वयार्थः—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय [आकाशम्] आकाश और [शेषौ अस्तिकायौ] शेष दो अस्तिकाय [अमयाः] अकृत हैं, [अस्तित्वमयाः] अस्तित्वमय हैं और [हि] वास्तवमें [लोकस्य कारणभूताः] लोकके कारणभूत हैं ।

जीवद्रव्य, पुद्गलकाय, नभने अस्तिकायो शेष बे ।
अणकृतक छे, अस्तित्वमय छे, लोककारणभूत छे ॥२२॥

अत्र सामान्येनोक्तलक्षणानां षण्णां द्रव्याणां मध्यात् पंचानामस्तिकायत्वं व्यवस्थापितम् । अकृतत्वात् अस्तित्वमयत्वात् विचित्रात्मपरिणतिरूपस्य लोकस्य कारणत्वाच्चाभ्युपगम्यमानेषु षट्सु द्रव्येषु जीवपुद्गलाकाशधर्माधर्माः प्रदेशप्रचयात्मकत्वात् पंचास्तिकायाः । न खलु कालस्तदभावादस्तिकाय इति सामर्थ्यादवसीयत इति ।।२२।।

सब्भावसभावाणं जीवाणं तह य पोग्गलाणं च ।
परियट्टणसंभूदो कालो णियमेण पण्णत्तो ।। २३ ।।

सद्भावस्वभावानां जीवानां तथैव पुद्गलानां च ।
परिवर्तनसम्भूतः कालो नियमेन प्रज्ञप्तः ।।२३।।

टीका:—यहाँ (इस गाथामें), सामान्यतः जिनका स्वरूप (पहले) कहा गया है ऐसे छह द्रव्योंमेंसे पाँचको अस्तिकायपना स्थापित किया गया है ।

अकृत होनेसे, अस्तित्वमय होनेसे और अनेकप्रकारकी *अपनी परिणतिरूप लोकके कारण होनेसे जो स्वीकार (-संमत) किये गये हैं ऐसे छह द्रव्योंमें जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म प्रदेशप्रचयात्मक (-प्रदेशोंके समूहमय) होनेसे वे पाँच अस्तिकाय हैं । कालको प्रदेशप्रचयात्मकपनेका अभाव होनेसे वह वास्तवमें अस्तिकाय नहीं है ऐसा (बिना कथन किये भी) सामर्थ्यसे निश्चित होता है ।२२।

गाथा २३

अन्वयार्थ:—[**सद्भावस्वभावानाम्**] सत्तास्वभाववाले [**जीवानाम् तथा एव पुद्गलानाम् च**] जीवों और पुद्गलोंके [**परिवर्तनसम्भूतः**] परिवर्तनसे सिद्ध होनेवाले [**कालः**] ऐसे कालका [**नियमेन प्रज्ञप्तः**] (सर्वज्ञों द्वारा) नियमसे (निश्चयसे) उपदेश दिया गया है ।

---

* लोक छह द्रव्योंके अनेकविध परिणामरूप (-उत्पादध्रौव्यरूप) है; इसलिये छह द्रव्य सचमुच लोकके कारण हैं ।

सत्तास्वभावी जीवने पुद्गल तणा परिणमनथी ।
छे सिद्धि जेनी, काल ते भाख्यो जिणंदे नियमथी ।।२३।।

अत्रास्तिकायत्वेनानुक्तस्यापि कालस्यार्थापन्नत्वं द्योतितम् । इह हि जीवानां पुद्गलानां च सत्तास्वभावत्वादस्ति प्रतिक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यैकवृत्तिरूपः परिणामः । स खलु सहकारिकारणसद्भावे दृष्टः, गतिस्थित्यवगाहपरिणामवत् । यस्तु सहकारिकारणं स कालः । तत्परिणामान्यथानुपपत्तिगम्यमानत्वादनुक्तोऽपि निश्चयकालोऽस्तीति निश्चीयते । यस्तु निश्चयकालपर्यायरूपो व्यवहारकालः स जीवपुद्गलपरिणामेनाभिव्यज्यमानत्वात्तदायत्त एवाभिगम्यत एवेति ॥ २३ ॥

टीकाः— काल अस्तिकायरूपसे अनुक्त (–कथन नहीं किया गया) होने पर भी उसे अर्थपना (–पदार्थपना) सिद्ध होता है ऐसा यहाँ दर्शाया है ।

इस जगतमें वास्तवमें जीवोंको और पुद्गलोंको सत्तास्वभावके कारण प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकवृत्तिरूप परिणाम वर्तता है । वह (–परिणाम) वास्तवमें सहकारी कारणके सद्भावमें दिखाई देता है, गति–स्थिति–अवगाह परिणामकी भाँति । (जिसप्रकार गति, स्थिति और अवगाहरूप परिणाम धर्म, अधर्म और आकाशरूप सहकारी कारणोंके सद्भावमें होते हैं, उसीप्रकार उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकतारूप परिणाम सहकारी कारणके सद्भावमें होते हैं ।) यह जो सहकारी कारण सो काल है । [1]जीवपुद्गलके परिणामकी [2]अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा ज्ञात होता है इसलिये, निश्चयकाल —(अस्तिकायरूपसे) अनुक्त होने पर भी—(द्रव्यरूपसे) विद्यमान है ऐसा निश्चित होता है । और जो निश्चयकालकी पर्यायरूप व्यवहारकाल वह जीव-पुद्गलोंके परिणामसे व्यक्त (गम्य) होता है इसलिये अवश्य तदाश्रित ही (–जीव तथा पुद्गलके परिणामके आश्रित ही) गिना जाता है ।२३।

---

१. यद्यपि कालद्रव्य जीव-पुद्गलोंके परिणामके अतिरिक्त धर्मास्तिकायादिके परिणामको भी निमित्तभूत है तथापि जीव-पुद्गलोंके परिणाम स्पष्ट ख्यालमें आते हैं इसलिये कालद्रव्यको सिद्ध करनेमें मात्र उन दो के परिणामकी ही बात ली गई है ।

२. अन्यथा अनुपपत्ति=अन्य किसी प्रकारसे नहीं हो सकना । [जीव-पुद्गलोंके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक परिणाम अर्थात् उनकी समयविशिष्ट वृत्ति । वह समयविशिष्ट वृत्ति समयको उत्पन्न करनेवाले किसी पदार्थके विना (–निश्चयकालके विना) नहीं हो सकती । जिसप्रकार आकाश विना द्रव्य अवगाहन प्राप्त नहीं कर सकते अर्थात् उनका विस्तार (तिर्यक्पना) नहीं हो सकता उसीप्रकार निश्चयकाल बिना द्रव्य परिणामको प्राप्त नहीं हो सकते अर्थात् उनका प्रवाह (-ऊर्ध्वपना) नहीं होसकता । इसप्रकार निश्चयकालके अस्तित्व बिना (अर्थात् निमित्तभूत कालद्रव्यके सद्भाव विना) अन्य किसीप्रकार जीव-पुद्गलके परिणाम बन नहीं सकते इसलिये 'निश्चयकाल विद्यमान है' ऐसा ज्ञात होता है—निश्चित होता है] ।

ववगदपणवण्णरसो ववगददोगंधअट्ठफासो य ।
अगुरुलहुगो अमुत्तो वट्टणलक्खो य कालो त्ति ॥२४॥

व्यपगतपंचवर्णरसो व्यपगतद्विगन्धाष्टस्पर्शश्च ।
अगुरुलघुको अमूर्तो वर्तनलक्षणश्च काल इति ॥२४॥

गाथा २४

अन्वयार्थः—[कालः इति] काल (निश्चयकाल) [व्यपगतपञ्चवर्णरसः] पांच वर्ण और पांच रस रहित, [व्यपगतद्विगन्धाष्टस्पर्शः च] दो गंध और आठ स्पर्श रहित, [अगुरुलघुकः] अगुरुलघु, [अमूर्तः] अमूर्त [च] और [वर्तनलक्षणः] वर्तना-लक्षणवाला है ।

भावार्थ*:—यहाँ निश्चयकालका स्वरूप कहा है ।

लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेशमें एक-एक कालाणु (कालद्रव्य) स्थित है । वह कालाणु (कालद्रव्य) सो निश्चयकाल है । अलोकाकाशमें कालाणु (कालद्रव्य) नहीं है ।

वह काल (निश्चयकाल) वर्ण-गंध-रस-स्पर्श रहित है, वर्णादि रहित होनेसे अमूर्त है और अमूर्त होनेसे सूक्ष्म, अतीन्द्रियज्ञानग्राह्य है । और वह षट्गुणहानिवृद्धि-सहित अगुरुलघुत्वस्वभाववाला है । कालका लक्षण वर्तनाहेतुत्व है; अर्थात् जिसप्रकार शीतऋतुमें स्वयं अध्ययनक्रिया करते हुए पुरुषको अग्नि सहकारी (–वहिरंग निमित्त) है और जिसप्रकार स्वयं घूमनेकी क्रिया करते हुए कुम्हारके चाकको नीचेकी कीली सहकारी है उसीप्रकार निश्चयसे स्वयमेव परिणामको प्राप्त जीव-पुद्गलादि द्रव्योंको (व्यवहारसे) कालाणुरूप निश्चयकाल बहिरंग निमित्त है ।

प्रश्नः—अलोकमें कालद्रव्य नहीं है तो वहाँ आकाशकी परिणति किसप्रकार हो सकती है ?

---

* श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने इस २४ वीं गाथाकी टीका नहीं लिखी इसलिये अनुवादमें अन्वयार्थके वाद तुरन्त भावार्थ लिखा गया है ।

रसवर्णपंचक, स्पर्श-अष्टक, गंधयुगल विहीन छे ।
छे मूर्तिहीन, अगुरुलघुक छे, काल वर्तनलिंग छे ॥२४॥

समओ णिमिसो कट्ठा कला य णाली तदो दिवारत्ती ।
मासोदुअयणसंवच्छरो त्ति कालो परायत्तो ॥२५॥

समयो निमिषः काष्ठा कला च नाली ततो दिवारात्रः ।
मासर्त्वयनसंवत्सरमिति कालः परायत्तः ॥ २५ ॥

अत्र व्यवहारकालस्य कथंचित्परायत्तत्वं द्योतितम् । परमाणुप्रचलनायत्तः समयः । नयनपुटघटनायत्तो निमिषः । तत्संख्याविशेषतः काष्ठा कला नाली च । गगनमणिगमनायत्तो

उत्तर:—जिसप्रकार लटकती हुई लम्वी डोरीको, लम्वे वांसको या कुम्हारके चाकको एक ही स्थान पर स्पर्श करने पर भी सर्वत्र चलन होता है, जिसप्रकार मनोज्ञ स्पर्शनेन्द्रियविषयका अथवा रसनेन्द्रियविषयका शरीरके एक ही भागमें स्पर्श होने पर भी सम्पूर्ण आत्मामें सुखानुभव होता है और जिसप्रकार सर्पदंश या व्रण (घाव) आदि शरीरके एक ही भागमें होने पर भी सम्पूर्ण आत्मामें दुःखवेदना होती है, उसीप्रकार कालद्रव्य लोकाकाशमें ही होने पर भी सारे आकाशमें परिणति होती है क्योंकि आकाश अखण्ड एक द्रव्य है ।

यहाँ यह वात मुख्यतः ध्यानमें रखना चाहिये कि काल किसी द्रव्यको परिणमित नहीं करता; सम्पूर्ण स्वतंत्रतासे स्वयमेव परिणमित होनेवाले द्रव्योंको वह बाह्यनिमित्तमात्र है ।

इसप्रकार निश्चयकालका स्वरूप दर्शाया गया ।२४।

गाथा २५

अन्वयार्थः—[**समयः**] समय, [**निमिषः**] निमेष, [**काष्ठा**] काष्ठा, [**कला च**] कला, [**नाली**] घड़ी, [**ततः दिवारात्रः**] अहोरात्र, (–दिवस), [**मासर्त्वयनसंवत्सरम्**] मास, ऋतु, अयन और वर्ष—[**इति कालः**] ऐसा जो काल (अर्थात् व्यवहारकाल) [**परायत्तः**] वह पराश्रित है ।

टीकाः—यहाँ व्यवहारकालका कथंचित् पराश्रितपना दर्शाया है ।

परमाणुके गमनके आश्रित समय है; आँख मिचनेके आश्रित निमेष है; उसकी (–निमेषकी) अमुक संख्यासे काष्ठा, कला और घड़ी होती है; सूर्यके गमनके

जे समय, निमिष, कला, घडी, दिनरात, मास, ऋतु अने ।
जे अयन ने वर्षादि छे, ते काल पर-आयत्त छे ॥२५॥

दिवारात्रः । तत्संख्याविशेषतः मासः, ऋतुः, अयनं, संवत्सरः इति । एवंविधो हि व्यवहारकालः केवलकालपर्यायमात्रत्वेनावधारयितुमशक्यत्वात् परायत्त इत्युपमीयत इति ।।२५।।

णत्थि चिरं वा खिप्पं मत्तारहिदं तु सा वि खलु मत्ता ।
पोग्गलदव्वेण विणा तम्हा कालो पडुच्चभवो ।।२६।।

आश्रित अहोरात्र होता है; और उसकी (–अहोरात्रकी) अमुक संख्यासे मास, ऋतु, अयन और वर्ष होते हैं ।—ऐसा व्यवहारकाल केवल कालकी पर्यायमात्ररूपसे अवधारण करना अशक्य होनेसे (अर्थात् परकी अपेक्षा बिना—परमाणु, आंख, सूर्य आदि पर पदार्थोंकी अपेक्षा बिना—व्यवहारकालका माप निश्चित करना अशक्य होनेसे) उसे 'पराश्रित' ऐसी उपमा दी जाती है ।

भावार्थः—'समय' निमित्तभूत ऐसे मंदगतिसे परिणत पुद्गलपरमाणु द्वारा प्रगट होता है–मापा जाता है (अर्थात् परमाणुको आकाशप्रदेशसे दूसरे अनन्तर एक आकाशप्रदेशमें मंदगतिसे जानेमें जो समय लगे उसे समय कहा जाता है) । 'निमेष' आंखके मिचनेसे प्रगट होता है (अर्थात् खुली आंखके मिचनेमें जो समय लगे उसे निमेष कहा जाता है और वह एक निमेष असंख्यात समयका होता है) । पन्द्रह निमेषकी एक 'काष्ठा', तीस काष्ठाकी एक 'कला' बीससे कुछ अधिक कलाकी एक 'घड़ी' और दो घड़ीका एक 'मुहूर्त' बनता है । 'अहोरात्र' सूर्यके गमनसे प्रगट होता है (और वह एक अहोरात्र तीस मुहूर्तका होता है) । तीस अहोरात्रका एक 'मास', दो मासकी एक 'ऋतु', तीन ऋतुका एक 'अयन' और दो अयनका एक 'वर्ष' बनता है ।—यह सब व्यवहारकाल है । 'पल्योपम', 'सागरोपम' आदि भी व्यवहारकालके भेद हैं ।

उपरोक्त समय-निमेषादि सब वास्तवमें मात्र निश्चयकालकी ही (–कालद्रव्यकी ही) पर्यायें हैं परन्तु वे परमाणु आदि द्वारा प्रगट होती हैं इसलिये (अर्थात् पर पदार्थों द्वारा मापी जा सकती हैं इसलिये) उन्हें उपचारसे पराश्रित कहा जाता है । २५ ।

'चिर' 'शीघ्र' नहि मात्रा विना, मात्रा नहीं पुद्गल विना ।
ते कारणे पर-आश्रये उत्पन्न भाख्यो काळ आ ।।२६।।

नास्ति चिरं वा क्षिप्रं मात्रारहितं तु सापि खलु मात्रा ।
पुद्गलद्रव्येण विना तस्मात्कालः प्रतीत्यभवः ॥ २६ ॥

अत्र व्यवहारकालस्य कथंचित् परायत्तत्वे सदुपपत्तिरुक्ता । इह हि व्यवहारकाले निमिषसमयादौ अस्ति तावत् चिरं इति क्षिप्रं इति संप्रत्ययः । स खलु दीर्घह्रस्वकालनिबंधनं प्रमाणमंतरेण न संभाव्यते । तदपि प्रमाणं पुद्गलद्रव्यपरिणाममन्तरेण नावधार्यते । ततः परपरिणामद्योतमानत्वाद् व्यवहारकालो निश्चयेनानन्याश्रितोऽपि प्रतीत्यभव इत्यभिधीयते । तदत्रास्तिकायसामान्यप्ररूपणायामस्तिकायत्वाभावात्साक्षादनुपन्यस्यमानोऽपि जीवपुद्गलपरिणा-

---

गाथा २६

अन्वयार्थः—[चिरं वा क्षिप्रं] 'चिर' अथवा 'क्षिप्र' ऐसा ज्ञान (—अधिक काल अथवा अल्प काल ऐसा ज्ञान) [मात्रारहितं तु] परिमाण बिना (—कालके माप बिना) [न अस्ति] नहीं होता; [सा मात्रा अपि] और वह परिमाण [खलु] वास्तवमें [पुद्गलद्रव्येण विना] पुद्गलद्रव्यके बिना नहीं होता; [तस्मात्] इसलिये [कालः प्रतीत्यभवः] काल आश्रितरूपसे उपजनेवाला है (अर्थात् व्यवहारकाल परका आश्रय करके उत्पन्न होता है ऐसा उपचारसे कहा जाता है) ।

टीकाः—यहाँ व्यवहारकालके कथंचित् पराश्रितपनेके विषयमें सत्य युक्ति कही गई है ।

प्रथम तो, निमेष-समयादि व्यवहारकालमें 'चिर' और 'क्षिप्र' ऐसा ज्ञान (—अधिक काल और अल्प काल ऐसा ज्ञान) होता है । वह ज्ञान वास्तवमें अधिक और अल्प कालके साथ सम्बन्ध रखनेवाले प्रमाण (—कालपरिमाण) बिना संभवित नहीं होता; और वह प्रमाण पुद्गलद्रव्यके परिणाम बिना निश्चित नहीं होता । इसलिये, व्यवहारकाल परके परिणाम द्वारा ज्ञात होनेके कारण—यद्यपि निश्चयसे वह अन्यके आश्रित नहीं है तथापि—आश्रितरूपसे उत्पन्न होनेवाला (—परके अवलम्बनसे उपजनेवाला) कहा जाता है ।

इसलिये, यद्यपि कालको अस्तिकायपनेके अभावके कारण यहाँ अस्तिकायकी सामान्य प्ररूपणामें उसका साक्षात्* कथन नहीं है तथापि जीव-पुद्गलके परिणामकी

---

* साक्षात्=सीधा । [कालका विस्तृत सीधा कथन श्री प्रवचनसारके द्वितीय श्रुतस्कन्धमें किया गया है; इसलिये कालका स्वरूप विस्तारसे जाननेके इच्छुक जिज्ञासुको वह प्रवचनसारसे जान लेना चाहिये] ।

मान्यथानुपपत्त्या निश्चयरूपस्तत्परिणामायत्ततया व्यवहाररूपः कालोऽस्तिकायपंचकवल्लोक-रूपेण परिणत इति खरतरदृष्ट्याभ्युपगम्यत इति ॥ २६ ॥

अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा सिद्ध होनेवाला निश्चयरूप काल और उनके परिणामके आश्रित निश्चित होनेवाला व्यवहाररूप काल पंचास्तिकायकी भाँति लोकरूपमें परिणत है—ऐसा, अत्यन्त तीक्ष्ण दृष्टिसे जाना जा सकता है।

भावार्थः—'समय' अल्प है, 'निमेष' अधिक है और 'मुहूर्त' उससे भी अधिक है ऐसा जो ज्ञान होता है वह 'समय', 'निमेष' आदिका परिमाण जाननेसे होता है; और वह कालपरिमाण पुद्गलों द्वारा निश्चित होता है। इसलिये व्यवहारकालकी उत्पत्ति पुद्गलों द्वारा होती (उपचारसे) कही जाती है।

इसप्रकार यद्यपि व्यवहारकालका माप पुद्गल द्वारा होता है इसलिये उसे उपचारसे पुद्गलाश्रित कहा जाता है तथापि निश्चयसे वह केवल कालद्रव्यकी ही पर्यायरूप है, पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है—ऐसा समझना। जिसप्रकार दस सेर पानीके मिट्टीमय घड़ेका माप पानी द्वारा होता है तथापि घड़ा मिट्टीकी ही पर्यायरूप है, पानीकी पर्यायरूप नहीं है, उसीप्रकार समय–निमेषादि व्यवहारकालका माप पुद्गल द्वारा होता है तथापि व्यवहारकाल कालद्रव्यकी ही पर्यायरूप है, पुद्गलकी पर्याय-रूप नहीं है।

कालसम्बन्धी गाथासूत्रोंके कथनका संक्षेप इसप्रकार है:—जीवपुद्गलोंके परिणाममें (समयविशिष्ट वृत्तिमें) व्यवहारसे समयकी अपेक्षा आती है; इसलिये समयको उत्पन्न करनेवाला कोई पदार्थ अवश्य होना चाहिये। वह पदार्थ सो कालद्रव्य है। कालद्रव्य परिणमित होनेसे व्यवहारकाल होता है और वह व्यवहारकाल पुद्गल द्वारा मापा जानेसे उसे उपचारसे पराश्रित कहा जाता है। पंचास्तिकायकी भाँति निश्चयव्यवहाररूप काल भी लोकरूपसे परिणत है ऐसा सर्वज्ञोंने देखा है और अति तीक्ष्ण दृष्टि द्वारा स्पष्ट सम्यक् अनुमान भी हो सकता है।

कालसम्बन्धी कथनका तात्पर्यार्थ निम्नोक्तानुसार ग्रहण करने योग्य है:— अतीत अनन्तकालमें जीवको एक चिदानन्दरूपी काल ही (—स्वकाल ही) जिसका स्वभाव है ऐसे जीवास्तिकायकी उपलब्धि नहीं हुई है; उस जीवास्तिकायका ही सम्यक् श्रद्धान, उसीका रागादिरूपसे भिन्नरूप भेदज्ञान और उसीमें रागादिविभावरूप समस्त संकल्प-विकल्पजालके त्याग द्वारा स्थिर परिणति कर्तव्य है। २६।

—इति समयव्याख्यायामन्तर्नीतषड्द्रव्यपंचास्तिकायसामान्यव्याख्यानरूपः पीठबंधः समाप्तः ॥

अथामीषामेव विशेषव्याख्यानम् । तत्र तावत् जीवद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम् ।

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

जीव इति भवति चेतयितोपयोगविशेषितः प्रभुः कर्ता ।
भोक्ता च देहमात्रो न हि मूर्तः कर्मसंयुक्तः ॥२७॥

अत्र संसारावस्थस्यात्मनः सोपाधि निरुपाधि च स्वरूपमुक्तम् । आत्मा हि निश्चयेन

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्रकी श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) समयव्याख्या नामकी टीकामें षड्द्रव्यपंचास्तिकायके सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका समाप्त हुई ।

अब उन्हींका (-षड्द्रव्य और पंचास्तिकायका ही) विशेष व्याख्यान किया जाता है । उसमें प्रथम, जीवद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान है ।

गाथा २७

अन्वयार्थः—[जीवः इति भवति] (संसारस्थित) आत्मा जीव है, [चेतयिता] चेतयिता (चेतनेवाला) है, [उपयोगविशेषितः] उपयोगलक्षित है, [प्रभुः] प्रभु है, [कर्ता] कर्ता है, [भोक्ता] भोक्ता है, [देहमात्रः] देह प्रमाण है, [न हि मूर्तः] अमूर्त है [च] और [कर्मसंयुक्तः] कर्म संयुक्त है ।

टीकाः—यहाँ (इस गाथामें) संसारदशावाले आत्माका *सोपाधि और निरुपाधिस्वरूप कहा है ।

आत्मा निश्चयसे भावप्राणको धारण करता है इसलिये 'जीव' है, व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) द्रव्यप्राणको धारण करता है इसलिये 'जीव' है;

---

* सोपाधि=उपाधि सहित; जिसमें परकी अपेक्षा आती हो ऐसा ।

छे जीव, चेतयिता, प्रभु, उपयोगचिह्न, अमूर्त छे ।
कर्ता अने भोक्ता, शरीर प्रमाण, कर्मे युक्त छे ॥२७॥

भावप्राणधारणाज्जीवः, व्यवहारेण द्रव्यप्राणधारणाज्जीवः। निश्चयेन चिदात्मकत्वात्, व्यवहारेण चिच्छक्तियुक्तत्वाच्चेतयिता। निश्चयेनापृथग्भूतेन, व्यवहारेण पृथग्भूतेन चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेनोपलक्षितत्वादुपयोगविशेषितः। निश्चयेन भावकर्मणां, व्यवहारेण द्रव्यकर्मणामास्रवणबंधनसंवरणनिर्जरणमोक्षणेषु स्वयमीशत्वात् प्रभुः। निश्चयेन पौद्गलिककर्मनिमित्तात्मपरिणामानां, व्यवहारेणात्मपरिणामनिमित्तपौद्गलिककर्मणां कर्तृत्वात्कर्ता। निश्चयेन शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदुःखपरिणामानां, व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसंपादितेष्टानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वाद्भोक्ता। निश्चयेन लोकमात्रोऽपि विशिष्टावगाहपरिणामशक्तियुक्तत्वान्नामकर्मनिर्वृत्तमणु महच्च

---

[1]निश्चयसे चित्स्वरूप होनेके कारण 'चेतयिता' (चेतनेवाला) है, व्यवहारसे, (सद्भूत व्यवहारनयसे) चित्शक्तियुक्त होनेसे 'चेतयिता' है; निश्चयसे [2]अपृथग्भूत ऐसे चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होनेसे 'उपयोगलक्षित' है, व्यवहारसे (सद्भूत व्यवहारनयसे) पृथग्भूत ऐसे चैतन्यपरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होनेसे 'उपयोगलक्षित' है; निश्चयसे भावकर्मोंके आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करनेमें स्वयं ईश (समर्थ) होनेसे 'प्रभु' है, व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) द्रव्यकर्मोंके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करनेमें स्वयं ईश होनेसे 'प्रभु' है; निश्चयसे पौद्गलिक कर्म जिनका निमित्त है ऐसे आत्मपरिणामोंका कर्तृत्व होनेसे 'कर्ता' है, व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) आत्मपरिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पौद्गलिक कर्मोंका कर्तृत्व होनेसे 'कर्ता' है; निश्चयसे शुभाशुभ कर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुखदुःखपरिणामोंका भोक्तृत्व होनेसे 'भोक्ता' है, व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) शुभाशुभ कर्मोंसे सम्पादित (प्राप्त) इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्तृत्व होनेसे 'भोक्ता' है; निश्चयसे लोकप्रमाण होनेपर भी, विशिष्ट अवगाहपरिणामकी शक्तिवाला होनेसे नामकर्मसे रचनेवाले छोटे-बड़े शरीरमें रहता हुआ व्यवहारसे (सद्भूत व्यवहारनयसे) 'देहप्रमाण' है; व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) कर्मोंके साथ एकत्वपरिणामके कारण मूर्त होने पर भी, निश्चयसे अरूपी स्वभाववाला

---

१. निश्चयसे चित्शक्तिको आत्माके साथ अभेद है और व्यवहारसे भेद है; इसलिये निश्चयसे आत्मा चित्शक्तिस्वरूप है और व्यवहारसे चित्शक्तिवान है।

२. अपृथग्भूत=अपृथक्; अभिन्न। (निश्चयसे उपयोग आत्मासे अपृथक् है और व्यवहारसे पृथक् है।)

शरीरमधितिष्ठन् व्यवहारेण देहमात्रः। व्यवहारेण कर्मभिः सहैकत्वपरिणामान्मूर्तोऽपि निश्चयेन नीरूपस्वभावत्वान्न हि मूर्तः। निश्चयेन पुद्गलपरिणामानुरूपचैतन्यपरिणामात्मभिः, व्यवहारेण चैतन्यपरिणामानुरूपपुद्गलपरिणामात्मभिः कर्मभिः संयुक्तत्वात्कर्मसंयुक्त इति ॥ २७ ॥

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अन्तमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

कर्ममलविप्रमुक्त ऊर्ध्वं लोकस्यान्तमधिगम्य।
स सर्वज्ञानदर्शी लभते सुखमनिन्द्रियमनंतम् ॥२८॥

होनेके कारण 'अमूर्त' है; *निश्चयसे पुद्गलपरिणामको अनुरूप चैतन्यपरिणामात्मक कर्मोंके साथ संयुक्त होनेसे 'कर्मसंयुक्त' है, व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहारनयसे) चैतन्यपरिणामको अनुरूप पुद्गलपरिणामात्मक कर्मोंके साथ संयुक्त होनेसे 'कर्मसंयुक्त' है।

भावार्थः—पहली २६ गाथाओंमें षड्द्रव्य और पंचास्तिकायका सामान्य निरूपण करके, अब इस २७ वीं गाथा से उनका विशेष निरूपण प्रारम्भ किया गया है। उसमें प्रथम, जीवका (आत्माका) निरूपण प्रारम्भ करते हुए इस गाथामें संसारस्थित आत्माको जीव (अर्थात् जीवत्ववाला), चेतयिता, उपयोगलक्षण वाला, प्रभु, कर्ता इत्यादि कहा है। जीवत्व, चेतयितृत्व, उपयोग, प्रभुत्व, कर्तृत्व इत्यादिका विवरण अगली गाथाओंमें आयेगा ॥ २७ ॥

गाथा २८

अन्वयार्थः—[**कर्ममलविप्रमुक्तः**] कर्ममलसे मुक्त आत्मा [**ऊर्ध्वं**] ऊपर [**लोकस्य अन्तम्**] लोकके अन्तको [**अधिगम्य**] प्राप्त करके [**सः सर्वज्ञानदर्शी**]

---

* संसारी आत्मा निश्चयसे निमित्तभूत पुद्गलकर्मों को अनुरूप ऐसे नैमित्तिक आत्मपरिणामोंके साथ (अर्थात् भावकर्मोंके साथ) संयुक्त होनेसे कर्मसंयुक्त है और व्यवहारसे निमित्तभूत आत्मपरिणामोंको अनुरूप ऐसे नैमित्तिक पुद्गलकर्मोंके साथ (अर्थात् द्रव्यकर्मोंके साथ) संयुक्त होनेसे कर्मसंयुक्त है।

सौ कर्ममलथी मुक्त आत्मा पामीने लोकाग्रने।
सर्वज्ञदर्शी ते अनंत अनिंद्रि सुखने अनुभवे ॥ २८ ॥

अत्र मुक्तावस्थस्यात्मनो निरुपाधिस्वरूपमुक्तम् । आत्मा हि परद्रव्यत्वात्कर्मरजसा साकल्येन यस्मिन्नेव क्षणे मुच्यते तस्मिन्नेवोर्ध्वगमनस्वभावत्वाल्लोकांतमधिगम्य परतो गतिहेतोरभावादवस्थितः केवलज्ञानदर्शनाभ्यां स्वरूपभूतत्वादमुक्तोऽनंतमतीन्द्रियं सुखमनुभवति । मुक्तस्य चास्य भावप्राणधारणलक्षणं जीवत्वं, चिद्रूपलक्षणं चेतयितृत्वं, चित्परिणामलक्षण उपयोगः, निर्वर्तितसमस्ताधिकारशक्तिमात्रं प्रभुत्वं, समस्तवस्त्वसाधारणस्वरूपनिर्वर्तनमात्रं कर्तृत्वं, स्वरूपभूतस्वातन्त्र्यलक्षणसुखोपलम्भरूपं भोक्तृत्वं, अतीतानंतरशरीरपरिमाणावगाहपरिणामरूपं देहमात्रत्वं, उपाधिसंबन्धविविक्तमात्यन्तिकममूर्तत्वम् । कर्मसंयुक्तत्वं तु द्रव्यभावकर्म-

---

वह सर्वज्ञ-सर्वदर्शी [अनंतम्] अनन्त [अनिन्द्रियम्] अनिन्द्रिय [सुखम्] सुखका [लभते] अनुभव करता है ।

टीकाः—यहाँ मुक्तावस्थावाले आत्माका निरुपाधिस्वरूप कहा है ।

आत्मा (कर्मरजके) परद्रव्यपनेके कारण कर्मरजसे सम्पूर्णरूपसे जिस क्षण छूटता है (–मुक्त होता है), उसी क्षण (अपने) ऊर्ध्वगमनस्वभावके कारण लोकके अन्तको पाकर आगे गतिहेतुका अभाव होनेसे (वहाँ) स्थिर होता हुआ केवलज्ञान और केवलदर्शन (निज) स्वरूपभूत होनेके कारण उनसे न छूटता हुआ अनन्त अतीन्द्रिय सुखका अनुभव करता है । उस मुक्त आत्माको, भावप्राणधारण जिसका लक्षण (स्वरूप) है ऐसा 'जीवत्व' होता है; चिद्रूप जिसका लक्षण (–स्वरूप) है ऐसा 'चेतयितृत्व' होता है; चित्परिणाम जिसका लक्षण (–स्वरूप) है ऐमा 'उपयोग' होता है; प्राप्त किए हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारोंकी [1]शक्तिमात्ररूप 'प्रभुत्व' होता है; समस्त वस्तुओंसे असाधारण ऐसे स्वरूपकी निष्पत्तिमात्ररूप (–निज स्वरूपको रचनेरूप) 'कर्तृत्व' होता है; स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य जिसका लक्षण (–स्वरूप) है ऐसे सुखकी उपलब्धिरूप 'भोक्तृत्व' होता है; अतीत अनन्तर (–अन्तिम) शरीरानुसार अवगाहपरिणामरूप '[2]देहप्रमाणपना' होता है; और उपाधिके सम्बन्धसे [3]विविक्त

---

१ शक्ति=सामर्थ्य; ईशत्व । (मुक्त आत्मा समस्त आत्मिक अधिकारोंको भोगनेमें अर्थात् उनका उपयोग करनेमें स्वयं समर्थ है इसलिये वह प्रभु है) ।

२. मुक्त आत्माकी अवगाहना चरमशरीरप्रमाण होती है इसलिये उस अन्तिम शरीरकी अपेक्षा लेकर उनको 'देहप्रमाणपना' कहा जासकता है ।

३. विविक्त=भिन्न रहित ।

विप्रमोक्षान्न भवत्येव । द्रव्यकर्माणि हि पुद्गलस्कंधा, भावकर्माणि तु चिद्विवर्ताः । विवर्तते हि चिच्छक्तिरनादिज्ञानावरणादिकर्मसंपर्ककूणितप्रचारा परिच्छेद्यस्य विश्वस्यैकदेशेषु क्रमेण व्याप्रियमाणा । यदा तु ज्ञानावरणादिकर्मसंपर्कः प्रणश्यति तदा परिच्छेद्यस्य विश्वस्य सर्वदेशेषु युगपद्व्याप्रृता कथंचित्कौटस्थ्यमवाप्य विषयांतरमनाप्नुवंती न विवर्तते । स खल्वेष निश्चितः सर्वज्ञसर्वदर्शित्वोपलम्भः । अयमेव द्रव्यकर्मनिबंधनभूतानां भावकर्मणां कर्तृत्वोच्छेदः । अयमेव च विकारपूर्वकानुभवाभावादौपाधिकसुखदुःखपरिणामानां भोक्तृत्वोच्छेदः । इदमेव चानादिविवर्त-

---

ऐसा आत्यंतिक (सर्वथा) 'अमूर्तपना' होता है । (मुक्त आत्माको) [1]'कर्मसंयुक्तपना' तो कदापि नहीं होता, क्योंकि द्रव्यकर्मों और भावकर्मोंसे विमुक्ति हुई है । द्रव्यकर्म वे पुद्गलस्कन्ध हैं और भावकर्म वे [2]चिद्‌विवर्त हैं । चित्‌शक्ति अनादि ज्ञानावरणादि-कर्मोंके सम्पर्कसे (सम्बन्धसे) संकुचित व्यापारवाली होनेके कारण ज्ञेयभूत विश्वके (–समस्त-पदार्थोंके) एक-एक देशमें क्रमशः व्यापार करती हुई विवर्तनको प्राप्त होती है । किन्तु जब ज्ञानावरणादिकर्मोंका सम्पर्क विनष्ट होता है तब वह ज्ञेयभूत विश्वके सर्व देशोंमें युगपद्‌ व्यापार करती हुई कथंचित्‌ [3]कूटस्थ होकर, अन्य विषयको प्राप्त न होती हुई विवर्तन नहीं करती । वह यह (चित्‌शक्तिके विवर्तनका अभाव), वास्तवमें निश्चित (–नियत, अचल) सर्वज्ञपनेकी और सर्वदर्शीपनेकी उपलब्धि है । यही, द्रव्यकर्मोंके निमित्तभूत भावकर्मोंके कर्तृत्वका विनाश है; यही, विकारपूर्वक अनुभवके अभावके कारण [4]औपाधिक सुखदुःखपरिणामोंके भोक्तृत्वका विनाश है; और यही, अनादि विवर्तनके खेदके विनाशसे जिसका अनन्त चैतन्य सुस्थित हुआ है ऐसे आत्माको

---

१. पूर्व सूत्रमें कहे हुए 'जीवत्व' आदि नौ विशेषोंमेंसे प्रथम आठ विशेष मुक्तात्माको भी यथासम्भव होते हैं, मात्र एक 'कर्मसंयुक्तपना' नहीं होता ।

२. चिद्‌विवर्त=चैतन्यका परिवर्तन अर्थात्‌ चैतन्यका एक विषयको छोड़कर अन्य विषयको जाननेरूप बदलना; चित्‌शक्तिका अन्य-अन्य ज्ञेयोंको जाननेरूप परिवर्तित होना ।

३. कूटस्थ=सर्वकाल एकरूप रहनेवाली; अचल । [ज्ञानावरणादि कर्मोंका सम्बन्ध नष्ट होने पर कहीं चित्‌शक्ति सर्वथा अपरिणामी नहीं होजाती; किन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयोंको जाननेरूप परिवर्तित नहीं होती–सर्वदा तीनों कालके समस्त ज्ञेयोंको जानती रहती है, इसलिए उसे कथंचित्‌ कूटस्थ कहा है]-।

४. औपाधिक=द्रव्यकर्मरूप उपाधिके साथ सम्बन्धवाले; जिनमें द्रव्यकर्मरूपी उपाधि निमित्त होती है ऐसे; अस्वाभाविक, वैभाविक, विकारी ।

खेदविच्छिचिदुस्थितानंतचैतन्यस्यात्मनः स्वतंत्रस्वरूपानुभूतिलक्षणसुखस्य भोक्तृत्वमिति ।।२८।।

जादो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य ।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वाबाधं सगममुत्तं ।। २९ ।।

जातः स्वयं स चेतयिता सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च ।
प्राप्नोति सुखमनंतमव्याबाधं स्वकममूर्तम् ।। २९ ।।

इदं सिद्धस्य निरुपाधिज्ञानदर्शनसुखसमर्थनम् । आत्मा हि ज्ञानदर्शनसुखस्वभावः संसारावस्थायामनादिकर्मक्लेशसंकोचितात्मशक्तिः परद्रव्यसंपर्केण क्रमेण किंचित् किंचिज्जानाति

स्वतंत्रस्वरूपानुभूतिलक्षण सुखका (–स्वतंत्र स्वरूपकी अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे सुखका) भोक्तृत्व है । २८ ।

गाथा २९

अन्वयार्थः—[सः चेतयिता] वह चेतयिता (चेतनेवाला आत्मा) [सर्वज्ञः] सर्वज्ञ [च] और [सर्वलोकदर्शी] सर्वलोकदर्शी [स्वयं जातः] स्वयं होता हुआ, [स्वकम्] स्वकीय [अमूर्तम्] अमूर्त [अव्याबाधम्] अव्याबाध [अनन्तम्] अनन्त [सुखम्] सुखको [प्राप्नोति] उपलब्ध करता है ।

टीकाः—यह, सिद्धके निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुखका समर्थन है ।

वास्तवमें ज्ञान, दर्शन और सुख जिसका स्वभाव है ऐसा आत्मा संसारदशामें, अनादि कर्मक्लेश द्वारा आत्मशक्ति संकुचित की गई होनेसे, परद्रव्यके सम्पर्क द्वारा (–इन्द्रियादिके सम्बन्ध द्वारा) क्रमशः कुछ-कुछ जानता है और देखता है तथा पराश्रित, मूर्त (इन्द्रियादि) के साथ सम्बन्धवाला, सव्याबाध (–बाधासहित) और सान्त सुखका अनुभव करता है; किन्तु जब उसके कर्मक्लेश समस्तरूपसे विनाशको प्राप्त होते हैं तब, आत्मशक्ति अनर्गल (–निरंकुश) और असंकुचित होनेसे, वह असहायरूपसे (–किसीकी सहायताके बिना) स्वयमेव युगपद् सब (–सर्व द्रव्यक्षेत्र-कालभाव) जानता है और देखता है तथा स्वाश्रित, मूर्त (इन्द्रियादि) के साथ सम्बन्व

स्वयमेव चेतक सर्वज्ञानी-सर्वदर्शी थाय छे ।
ने निज अमूर्त अनंत अव्याबाध सुखने अनुभवे ।।२९।।

पश्यति, परप्रत्ययं मूर्तसंबद्धं सव्याबाधं सांतं सुखमनुभवति च । यदा त्वस्य कर्मक्लेशाः सामस्त्येन प्रणश्यन्ति, तदाऽनर्गलासंकुचितात्मशक्तिरसहायः स्वयमेव युगपत्समग्रं जानाति

रहित, अव्याबाध और अनन्त सुखका अनुभव करता है । इसलिये सब स्वयमेव जानने और देखनेवाले तथा स्वकीय सुखका अनुभवन करनेवाले सिद्धको परसे (कुछ भी) प्रयोजन नहीं है ।

भावार्थः—सिद्धभगवान (तथा केवलीभगवान) स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिरूपसे परिणमित होते हैं; उनके उस परिणमनमें लेशमात्र भी (इन्द्रियादि) परका आलम्बन नहीं है ।

यहाँ कोई सर्वज्ञका निषेध करनेवाला जीव कहे कि—'सर्वज्ञ हैं ही नहीं, क्योंकि देखनेमें नहीं आते;' तो उसे निम्नोक्तानुसार समझाते हैं:—

'हे भाई ! यदि तुम कहते हो कि 'सर्वज्ञ नहीं हैं,' तो हम पूछते हैं कि सर्वज्ञ कहाँ नहीं हैं ? इस क्षेत्रमें और इस कालमें अथवा तीनों लोकमें और तीनों कालमें ? यदि 'इस क्षेत्रमें और इस कालमें सर्वज्ञ नहीं हैं' ऐसा कहो, तो वह संमत ही है । किन्तु यदि 'तीनों लोकमें और तीनों कालमें सर्वज्ञ नहीं हैं' ऐसा कहो, तो हम पूछते हैं कि वह तुमने कैसे जाना ? यदि तीनों लोकको और तीनों कालको सर्वज्ञके विना तुमने देख-जान लिया तो तुम्हीं सर्वज्ञ होगये, क्योंकि जो तीन लोक और तीनों कालको जाने वही सर्वज्ञ है । और यदि सर्वज्ञ रहित तीनों लोक और तीनों कालको तुमने नहीं देखा-जाना है तो फिर 'तीन लोक और तीन कालमें सर्वज्ञ नहीं है, ऐसा तुम कैसे कह सकते हो ? इसप्रकार सिद्ध होता है कि तुम्हारा किया हुआ सर्वज्ञका निषेध योग्य नहीं है ।

हे भाई ! आत्मा एक पदार्थ है और ज्ञान उसका स्वभाव है; इसलिये उस ज्ञानका सम्पूर्ण विकास होने पर ऐसा कुछ नहीं रहता कि जो उस ज्ञानमें अज्ञात रहे । जिसप्रकार परिपूर्ण उष्णतारूप परिणमित अग्नि समस्त दाह्यको जलाती है, उसीप्रकार परिपूर्ण ज्ञानरूप परिणमित आत्मा समस्त ज्ञेयको जानता है । ऐसी सर्वज्ञदशा इस क्षेत्रमें इस कालमें (अर्थात् इस क्षेत्रमें इस कालमें जन्म लेनेवाले जीवोंको) प्राप्त नहीं होती तथापि सर्वज्ञत्वशक्तिवाले निज आत्माका स्पष्ट अनुभव इस क्षेत्रमें इस कालमें भी हो सकता है ।

पश्यति, स्वप्रत्ययममूर्तसम्बद्धमव्याबाधमनंतं सुखमनुभवति च । ततः सिद्धस्य समस्तं स्वयमेव जानतः पश्यतः, सुखमनुभवतश्च स्वं, न परेण प्रयोजनमिति ॥२९॥

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यः खलु जीवितः पूर्वम् ।
स जीवः प्राणाः पुनर्बलमिन्द्रियमायुरुच्छ्वासः ॥ ३० ॥

जीवत्वगुणव्याख्येयम् । इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणाः । तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणाः, पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणाः । तेषामुभयेषामपि त्रिष्वपि

यह शास्त्र अध्यात्मशास्त्र होनेसे यहाँ सर्वज्ञसिद्धिका विस्तार नहीं किया गया है; जिज्ञासुको वह अन्य शास्त्रोंमें देख लेना चाहिए।२९।

गाथा ३०

अन्वयार्थः—[यः खलु] जो [चतुर्भिः प्राणैः] चार प्राणोंसे [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जियेगा और [जीवितः पूर्वम्] पूर्वकालमें जीता था, [सः जीवः] वह जीव है; [पुनः प्राणाः] और प्राण [इन्द्रियम्] इन्द्रिय, [बलम्] बल, [आयुः] आयु तथा [उच्छ्वासः] उच्छ्वास है ।

टीकाः—यह जीवत्वगुणकी व्याख्या है ।

प्राण इन्द्रियं, बल, आयु तथा उच्छ्वासस्वरूप हैं । उनमें (–प्राणोंमें), *चित्सामान्यरूप अन्वयवाले वे भावप्राण हैं और पुद्गलसामान्यरूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण हैं । उन दोनों प्राणोंको त्रिकाल अच्छिन्न-संतानरूपसे (अटूट धारासे)

---

* जिन प्राणोंमें चित्सामान्यरूप अन्वय होता है वे भावप्राण हैं अर्थात् जिन प्राणोंमें सदैव 'चित्सामान्य, चित्सामान्य, चित्सामान्य' ऐसी एकरूपता—सदृशता होती है वे भावप्राण हैं। (जिन प्राणोंमें सदैव 'पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य, पुद्गलसामान्य' ऐसी एकरूपता—सदृशता होती है वे द्रव्यप्राण हैं) ।

जे चार प्राणे जीवतो पूर्वे, जीवे छे, जीवशे ।
ते जीव छे; ने प्राण इन्द्रिय-आयु-बल-उच्छ्वास छे ॥३०॥

कालेष्वनवच्छिन्नसंतानत्वेन धारणात्संसारिणो जीवत्वम् । मुक्तस्य तु केवलानामेव भावप्राणानां धारणात्तदवसेयमिति ।। ३० ।।

अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे ।
देसेहिं असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ।।३१।।
केचित्तु अणावण्णा मिच्छादंसणकसायजोगजुदा ।
विजुदा य तेहिं बहुगा सिद्धा संसारिणो जीवा ।।३२।।

अगुरुलघुका अनंतास्तैरनंतैः परिणताः सर्वे ।
देशैरसंख्याताः स्याल्लोकं सर्वमापन्नाः ।। ३१ ।।
केचित्तु अनापन्ना मिथ्यादर्शनकषाययोगयुताः ।
वियुताश्च तैर्बहवः सिद्धाः संसारिणो जीवाः ।। ३२ ।।

धारण करता है इसलिए संसारीको जीवत्व है । मुक्तको (सिद्धको) तो केवल भावप्राणोंका ही धारण होनेसे जीवत्व है ऐसा समझना । ३० ।

गाथा ३१–३२

अन्वयार्थः—[अनंता अगुरुलघुकाः] अनन्त ऐसे जो अगुरुलघु (गुण, अंश) [तैः अनंतैः] उन अनन्त अगुरुलघु (गुण) रूपसे [सर्वे] सर्व जीव [परिणताः] परिणत हैं; [देशैः असंख्याताः] वे असंख्यात प्रदेशवाले हैं । [स्यात् सर्वम् लोकम् आपन्नाः] कुछ कथंचित् समस्त लोकको प्राप्त होते हैं [केचित् तु] और कुछ [अनापन्नाः] अप्राप्त होते हैं । [बहवः जीवाः] अनेक (–अनंत) जीव [मिथ्यादर्शन-कषाययोगयुताः] मिथ्यादर्शन-कषाय-योगसहित [संसारिणः] संसारी हैं [च] और अनेक (–अनन्तजीव) [तैः वियुताः] मिथ्यादर्शन–कषाय–योग रहित [सिद्धाः] सिद्ध हैं ।

जे अगुरुलघुक अनंत ते-रूप सर्व जीवो परिणमे ।
सौना प्रदेश असंख्य; कतिपय लोकव्यापी होय छे ।।३१।।
अव्यापी छे कतिपय; वणी निर्दोष सिद्ध जीवो घणा ।
मिथ्यात्व-योग-कषाययुत संसारी जीव बहु जाणवा ।।३२।।

अत्र जीवानां स्वाभाविकं प्रमाणं मुक्तामुक्तविभागश्चोक्तः । जीवा ह्यविभागैकद्रव्यत्वाल्लोकप्रमाणैकप्रदेशाः । अगुरुलघवो गुणास्तु तेषामगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबंधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदाः प्रतिसमयसंभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानयोऽनंताः । प्रदेशास्तु अविभागपरमाणुपरिच्छिन्नसूक्ष्मांशरूपा असंख्येयाः । एवंविधेषु तेषु केचित्कथं-

---

टीका:—यहाँ जीवोंका स्वाभाविक *प्रमाण तथा उनका मुक्त और अमुक्त ऐसा विभाग कहा है ।

जीव वास्तवमें अविभागी-एकद्रव्यपनेके कारण लोकप्रमाण–एक-प्रदेशवाले हैं । उनके (–जीवोंके) [1]अगुरुलघुगुण—अगुरुलघुत्व नामका जो स्वरूपप्रतिष्ठत्वके कारणभूत स्वभाव उसके [2]अविभाग परिच्छेद—प्रतिसमय होनेवाली [3]षट्स्थानपतित वृद्धिहानिवाले अनन्त हैं; और (उनके अर्थात् जीवोंके) प्रदेश—जो कि अविभाग परमाणु जितने मापवाले सूक्ष्म अंशरूप हैं वे—असंख्य हैं । ऐसे उन जीवोंमें कुछ कथंचित् (केवलसमुद्घातके कारण) लोकपूरण-अवस्थाके प्रकार द्वारा समस्त लोकमें व्याप्त होते हैं और कुछ समस्त लोकमें अव्याप्त होते हैं । और उन जीवोंमें जो अनादि प्रवाहरूपसे प्रवर्तमान मिथ्यादर्शन-कषाय-योग सहित हैं वे संसारी हैं, जो उनसे विमुक्त

---

* प्रमाण=माप; परिमाण । [जीवके अगुरुलघुत्वस्वभावके छोटे-से छोटे अंश (अविभाग परिच्छेद) करने पर स्वभावसे ही सदैव अनन्त अंश होते हैं, इसलिए जीव सदैव ऐसे (षट्गुण-वृद्धिहानियुक्त) अनन्त अंशों जितना है । और जीवके स्वक्षेत्रके छोटेसे–छोटे अंश करने पर स्वभावसे ही सदैव असंख्य अंश होते हैं, इसलिए जीव सदैव ऐसे असंख्य अंशों जितना है] ।

१. गुण=अंश; अविभाग परिच्छेद । [जीवमें अगुरुलघुत्व नामका स्वभाव है । वह स्वभाव जीवको स्वरूप प्रतिष्ठित्वके (अर्थात् स्वरूपमें रहनेके) कारणभूत है । उसके अविभाग परिच्छेदोंको यहाँ अगुरुलघुगुण (अंश) कहा है] ।

२. किसी गुणमें (अर्थात् गुणकी पर्यायमें) अंशकल्पना की जाने पर, उसका जो छोटे-से छोटा (जघन्य मात्रारूप, निरंश) अंश होता है उसे उस गुणका (अर्थात् गुणकी पर्यायका) अविभाग परिच्छेद कहा जाता है ।

३. षट्स्थानपतित वृद्धिहानि=छह स्थानमें समावेश पानेवाली वृद्धि हानि; षट्गुण वृद्धिहानि । [अगुरुलघुत्वस्वभावके अनन्त अंशोंमें स्वभावसे ही प्रतिसमय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती है] ।

चिल्लोकपूरणावस्थाप्रकारेण सर्वलोकव्यापिनः, केचित्तु तदव्यापिन इति । अथ ये तेषु मिथ्यादर्शनकषाययोगैरनादिसंततिप्रवृत्तैर्युक्तास्ते संसारिणः, ये विमुक्तास्ते सिद्धाः, ते च प्रत्येकं बहव इति । ३१–३२ ।

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं ।
तह देही देहत्थो सदेहमेत्तं पभासयदि ॥ ३३ ॥

यथा पद्मरागरत्नं क्षिप्तं क्षीरे प्रभासयति क्षीरम् ।
तथा देही देहस्थः स्वदेहमात्रं प्रभासयति ॥३३॥

एष देहमात्रत्वदृष्टांतोपन्यासः । यथैव हि पद्मरागरत्नं क्षीरे क्षिप्तं स्वतोऽव्यतिरिक्तप्रभास्कंधेन तद्व्याप्नोति क्षीरं, तथैव हि जीवः अनादिकषायमलीमसत्वमूले शरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशैस्तदभिव्याप्नोति शरीरम् । यथैव च तत्र क्षीरेऽग्निसंयोगादुद्वलमाने तस्य पद्मराग-

---

हैं (अर्थात् मिथ्यादर्शन-कषाय-योग रहित हैं) वे सिद्ध हैं; और वे हर प्रकारके जीव अनेक हैं (अर्थात् संसारी तथा सिद्ध जीवोंमेंसे हरएक प्रकारके जीव अनन्त हैं) । ३१–३२ ।

गाथा ३३

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [पद्मरागरत्नं] पद्मरागरत्न [क्षीरे क्षिप्तं] दूधमें डाला जाने पर [क्षीरम् प्रभासयति] दूधको प्रकाशित करता है, [तथा] उसीप्रकार [देही] देही (जीव) [देहस्थः] देहमें रहता हुआ [स्वदेहमात्रं प्रभासयति] स्वदेहप्रमाण प्रकाशित होता है ।

टीकाः—यह देहप्रमाणपनेके *दृष्टान्तका कथन है (अर्थात् यहाँ जीवका देहप्रमाणपना समझानेके लिए दृष्टान्त कहा है) ।

---

* यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त अमुक अंशोंमें ही एक–दूसरेके साथ मिलते हुए (–समानतावाले) होते हैं, सर्व अंशोंमें नहीं ।

ज्यम दूधमां स्थित पद्मरागमणि प्रकाशे दूधने ।
त्यम देहमां स्थित देही देहप्रमाण व्यापकता लहे ॥३३॥

रत्नस्य प्रभास्कंध उद्वलते पुनर्निविशमाने निविशते च, तथैव च तत्र शरीरे विशिष्टाहारादिवशादुत्सर्पति तस्य जीवस्य प्रदेशाः उत्सर्पन्ति पुनरपसर्पति अपसर्पन्ति च। यथैव च तत्पद्मरागरत्नमन्यत्र प्रभूतक्षीरे क्षिप्तं स्वप्रभास्कंधविस्तारेण तद् व्याप्नोति प्रभूतक्षीरं, तथैव च जीवोऽन्यत्र महति शरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशविस्तारेण तद् व्याप्नोति महच्छरीरम्। यथैव च तत्पद्मरागरत्नमन्यत्र स्तोकक्षीरे निक्षिप्तं स्वप्रभास्कंधोपसंहारेण तद् व्याप्नोति स्तोकक्षीरं, तथैव च

जिसप्रकार पद्मरागरत्न दूधमें डाला जाने पर अपनेसे *अव्यतिरिक्त प्रभासमूह द्वारा उस दूधमें व्याप्त होता है, उसीप्रकार जीव अनादिकालसे कषाय द्वारा मलिनता होनेके कारण शरीरमें रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीरमें व्याप्त होता है। और जिसप्रकार अग्निके संयोगसे उस दूधमें उफान आने पर उस पद्मरागरत्नके प्रभासमूहमें उफान आता है (अर्थात् वह विस्तारको प्राप्त होता है) और दूध बैठ जाने पर प्रभासमूह भी बैठ जाता है; उसीप्रकार विशिष्ट आहारादिके वश उस शरीरमें वृद्धि होने पर उस जीवके प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित होजाते हैं। पुनश्च, जिसप्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूधमें डाला जाने पर स्वप्रभासमूहके विस्तार द्वारा उस अधिक दूधमें व्याप्त होता है, उसीप्रकार जीव दूसरे बड़े शरीरमें स्थितिको प्राप्त होने पर स्वप्रदेशोंके विस्तार द्वारा उस बड़े शरीरमें व्याप्त होता है। और जिसप्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूधमें डालने पर स्वप्रभासमूहके संकोच द्वारा उस थोड़े दूधमें व्याप्त होता है; उसीप्रकार जीव अन्य छोटे शरीरमें स्थितिको प्राप्त होने पर स्वप्रदेशोंके संकोच द्वारा उस छोटे शरीरमें व्याप्त होता है।

---

* अव्यतिरिक्त=अभिन्न। [जिसप्रकार "मिश्री एक द्रव्य है और मिठास उसका गुण है"—ऐसा कहीं दृष्टान्तमें कहा हो तो उसे सिद्धान्तरूप नहीं समझना चाहिये; उसीप्रकार यहाँ भी जीवके संकोच-विस्ताररूप दार्ष्टान्तिको समझनेके लिये रत्न और (दूधमें फैली हुई) उसकी प्रभाको जो अव्यतिरिक्तपना कहा है वह सिद्धान्तरूप नहीं समझना चाहिये। पुद्गलात्मक रत्नको दृष्टान्त बनाकर असंख्यप्रदेशी जीवद्रव्यके संकोच-विस्तारको किसीप्रकार समझानेके हेतु यहाँ रत्नकी प्रभाको रत्नसे अभिन्न कहा है (अर्थात् रत्नकी प्रभा संकोच-विस्तारको प्राप्त होने पर मानो रत्नके अंश ही—रत्न ही— संकोच-विस्तारको प्राप्त हुए हों ऐसा समझनेको कहा है)]।

जीवो ऽन्यत्राणुशरीरेऽवतिष्ठमानः स्वप्रदेशोपसंहारेण तद् व्याप्नोत्यणुशरीरमिति ।।३३।।

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककाय एक्कट्ठो ।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं ।।३४।।

सर्वत्रास्ति जीवो न चैक एककाये ऐक्यस्थः ।
अध्यवसानविशिष्टश्चेष्टते मलिनो रजोमलैः ।। ३४ ।।

अत्र जीवस्य देहाद्देहांतरेऽस्तित्वं, देहात्पृथग्भूतत्वं, देहांतरसंचरणकारणं चोपन्यस्तम् । आत्मा हि संसारावस्थायां क्रमवर्तिन्यनवच्छिन्नशरीरसंताने यथैकस्मिन् शरीरे वृत्तः तथा

भावार्थः—तीन लोक और तीन कालके समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोंको एक समयमें प्रकाशित करनेमें समर्थ ऐसे विशुद्ध-दर्शनज्ञानस्वभाववाले चैतन्यचमत्कारमात्र शुद्धजीवास्तिकायसे विलक्षण मिथ्यात्वरागादि विकल्पों द्वारा उपार्जित जो शरीरनामकर्म उससे जनित (अर्थात् उस शरीरनामकर्मका उदय जिसमें निमित्त है ऐसे) संकोचविस्तारके आधीनरूपसे जीव सर्वोत्कृष्ट अवगाहरूपसे परिणमित होता हुआ सहस्रयोजनप्रमाण महामत्स्यके शरीरमें व्याप्त होता है, जघन्य अवगाहरूपसे परिणमित होता हुआ उत्सेध घनांगुलके असंख्यवें भाग जितने लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्मनिगोदके शरीरमें व्याप्त होता है और मध्यम अवगाहरूपसे परिणमित होता हुआ मध्यम शरीरमें व्याप्त होता है । ३३ ।

गाथा ३४

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [सर्वत्र] सर्वत्र (क्रमवर्ती सर्व शरीरोंमें) [अस्ति] है [च] और [एककाये] किसी एक शरीरमें [ऐक्यस्थः] (क्षीरनीरवत्) एकरूपसे रहता है तथापि [न एकः] उसके साथ एक नहीं है; [अध्यवसानविशिष्टः] अध्यवसायविशिष्ट वर्तता हुआ [रजोमलैः मलिनः] रजमल (कर्ममल) द्वारा मलिन होनेसे [चेष्टते] वह भ्रमण करता है ।

टीकाः—यहाँ जीवका देहसे देहान्तरमें (—एक शरीरसे अन्य शरीरमें) अस्तित्व, देहसे पृथक्त्व तथा देहान्तरमें गमनका कारण कहा है ।

तन तन धरे जीव, तन महीं ऐक्यस्थ पण नहि एक छे ।
जीव विविध अध्यवसाययुत, रजमलमलिन थईने भमे ।।३४।।

क्रमेणान्येष्वपि शरीरेषु वर्तत इति तस्य सर्वत्रास्तित्वम् । न चैकस्मिन् शरीरे नीरे क्षीरमिवैक्येन स्थितोऽपि भिन्नस्वभावत्वाचेन सहैक इति तस्य देहात्पृथग्भूतत्वम् । अनादिबंधनोपाधिविवर्तित-विविधाध्यवसायविशिष्टत्वात्तन्मूलकर्मजालमलीमसत्वाच्च चेष्टमानस्यात्मनस्तथाविधाध्यवसायकर्म-निर्वर्तितेतरशरीरप्रवेशोभवतीति तस्य देहांतरसंचरणकारणोपन्यास इति ॥ ३४ ॥

जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स ।
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥ ३५ ॥

येषां जीवस्वभावो नास्त्यभावश्च सर्वथा तस्य ।
ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वाग्गोचरमतीताः ॥३५॥

आत्मा संसार-दशामें क्रमवर्ती अच्छिन्न (–अटूट) शरीरप्रवाहमें जिसप्रकार एक शरीरमें वर्तता है उसीप्रकार क्रमसे अन्य शरीरोंमें भी वर्तता है; इसप्रकार उसे सर्वत्र (–सर्व शरीरोंमें) अस्तित्व है। और किसी एक शरीरमें, पानीमें दूधकी भांति एकरूपसे रहने पर भी, भिन्न स्वभावके कारण उसके साथ एक (तद्रूप) नहीं है; इसप्रकार उसे देहसे पृथक्पना है। अनादि बंधनरूप उपाधिसे विवर्तन (परिवर्तन) पानेवाले विविध अध्यवसायोंसे विशिष्ट होनेके कारण (अनेक प्रकारके अध्यवसायवाला होनेके कारण) तथा वे अध्यवसाय जिसका निमित्त हैं ऐसे कर्मसमूहसे मलिन होनेके कारण भ्रमण करते हुए आत्माको तथाविध अध्यवसायों तथा कर्मोंसे रचेजानेवाले (–उस प्रकारके मिथ्यात्वरागादिरूप भावकर्मों तथा द्रव्यकर्मोंसे रचेजानेवाले) अन्य शरीरमें प्रवेश होता है; इसप्रकार उसे देहान्तरमें गमन होनेका कारण कहा गया।३४।

गाथा ३५

अन्वयार्थः—[येषां] जिनके [जीवस्वभावः] जीवस्वभाव (–प्राणधारणरूप जीवत्व) [न अस्ति] नहीं है और [सर्वथा] सर्वथा [तस्य अभावः च] उसका अभाव भी नहीं है, [ते] वे [भिन्नदेहाः] देहरहित [वाग्गोचरम् अतीताः] वचनगोच-रातीत [सिद्धाः भवन्ति] सिद्ध (सिद्धभगवंत) हैं।

जीवत्व नहि ने सर्वथा तदभाव पण नहि जेमने।
ते सिद्ध छे—जे देहविरहित वचनविषयातीत छे ॥३५॥

सिद्धानां जीवत्वदेहमात्रत्वव्यवस्थेयम् । सिद्धानां हि द्रव्यप्राणधारणात्मको मुख्यत्वेन जीवस्वभावो नास्ति । न च जीवस्वभावस्य सर्वथाभावोऽस्ति भावप्राणधारणात्मकस्य जीवस्वभावस्य मुख्यत्वेन सद्भावात् । न च तेषां शरीरेण सह नीरक्षीरयोरिवैक्येन वृत्तिः यतस्ते तत्संपर्कहेतुभूतकषाययोगविप्रयोगादतीतानन्तरशरीरमात्रावगाहपरिणतत्वेऽप्यत्यंतभिन्नदेहाः । वाचां गोचरमतीतश्च तन्महिमा, यतस्ते लौकिकप्राणधारणमंतरेण शरीरसम्बन्धमंतरेण च परिप्राप्तनिरुपाधिस्वरूपाः सततं प्रतपंतीति ॥ ३५ ॥

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥ ३६ ॥

टीकाः—यह सिद्धोंके (सिद्धभगवन्तोंके) जीवत्व और देहप्रमाणत्वकी व्यवस्था है ।

सिद्धोंको वास्तवमें द्रव्यप्राणके धारणस्वरूप जीवस्वभाव मुख्यरूपसे नहीं है; (उन्हें) जीवस्वभावका सर्वथा अभाव भी नहीं है, क्योंकि भावप्राणके धारणस्वरूप जीवस्वभावका मुख्यरूपसे सद्भाव है । और उन्हें शरीरके साथ नीरक्षीरकी भांति एकरूप [1]वृत्ति नहीं है; क्योंकि शरीरसंयोगके हेतुभूत कषाय और योगका वियोग हुआ है इसलिये वे [2]अतीत अनन्तर शरीरप्रमाण अवगाहरूप परिणत होने पर भी अत्यन्त देह रहित हैं । और [3]वचनगोचरातीत उनकी महिमा है; क्योंकि लौकिक प्राणके धारण बिना और शरीरके सम्बन्ध बिना सम्पूर्णरूपसे प्राप्त किये हुए निरुपाधि स्वरूप द्वारा वे सतत प्रतपते हैं (—प्रतापवंत वर्तते हैं) । ३५ ।

---

१ वृत्ति=वर्तन; अस्तित्व ।

२ अतीत अनन्तर=भूतकालका सबसे अन्तिम; चरम । (सिद्ध भगवंतोंकी अवगाहना चरमशरीरप्रमाण होनेके कारण उस अन्तिमशरीरकी अपेक्षा लेकर उन्हें 'देहप्रमाणपना' कहा जा सकता है तथापि, वे अत्यन्तदेह रहित हैं ।)

३. वचनगोचरातीत=वचनगोचरपनेका जिसने अतिक्रम किया है; वचनविषयातीत; वचन अगोचर ।

उपजे नहीं को कारणे ते सिद्ध तेथी न कार्य छे ।
उपजावता नथी कांई पण तेथी न कारण पण ठरे ॥ ३६ ॥

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात् कार्यं न तेन सः सिद्धः।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३६ ॥

सिद्धस्य कार्यकारणभावनिरासोऽयम्। यथा संसारी जीवो भावकर्मरूपयात्मपरिणामसंतत्या द्रव्यकर्मरूपया च पुद्गलपरिणामसन्तत्या कारणभूतया तेन तेन देवमनुष्यतिर्यग्नारकरूपेण कार्यभूत उत्पद्यते, न तथा सिद्धरूपेणापीति। सिद्धो ह्युभयकर्मक्षये स्वयमुत्पद्यमानो नान्यतः कुतश्चिदुत्पद्यत इति। यथैव च स एव संसारी भावकर्मरूपामात्मपरिणामसंततिं द्रव्यकर्मरूपां च पुद्गलपरिणामसंततिं कार्यभूतां कारणभूतत्वेन निर्वर्तयन् तानि तानि देवमनुष्य-

---

गाथा ३६

अन्वयार्थः—[यस्मात् सः सिद्धः] वे सिद्ध [कुतश्चित् अपि] किसी (अन्य) कारणसे [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं होते [तेन] इसलिये [कार्यं न] कार्य नहीं है, और [किंचित् अपि] किसी भी (अन्य कार्यको) [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करते [तेन] इसलिये [सः] वे [कारणम् अपि] कारण भी [न भवति] नहीं हैं।

टीकाः—यह, सिद्धको कार्यकारणभाव होनेका निरास है (अर्थात् सिद्धभगवानको कार्यपना और कारणपना होनेका निराकरण–खंडन है)।

जिसप्रकार संसारी जीव कारणभूत ऐसी भावकर्मरूप *आत्मपरिणामसंतति और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणामसंतति द्वारा उन-उन देव-मनुष्य-तिर्यंच-नारकके रूपमें कार्यभूतरूपसे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सिद्धरूपसे भी उत्पन्न होता है—ऐसा नहीं है; (और) सिद्ध (–सिद्धभगवान) वास्तवमें, दोनों कर्मोंका क्षय होने पर, स्वयं (सिद्धरूपसे) उत्पन्न होते हुए अन्य किसी कारणसे (–भावकर्मसे या द्रव्यकर्मसे) उत्पन्न नहीं होते।

पुनश्च, जिसप्रकार वही संसारी (जीव) कारणभूत होकर कार्यभूत ऐसी भावकर्मरूप आत्मपरिणामसंतति और द्रव्यकर्मरूप पुद्गलपरिणामसंतति रचता हुआ कार्यभूत ऐसे वे-वे देव-मनुष्य-तिर्यंच-नारकके रूप अपनेमें उत्पन्न करता है, उसी प्रकार सिद्धका रूप भी (अपनेमें) उत्पन्न करता है—ऐसा नहीं है; (और) सिद्ध

---

* आत्मपरिणामसंतति=आत्माके परिणामोंकी परम्परा।

तिर्यग्नारकरूपाणि कार्याण्युत्पादयत्यात्मनो न तथा सिद्धरूपमपीति । सिद्धो ह्युभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादयन्नान्यत्किञ्चिदुत्पादयति ॥३६॥

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च ।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥३७॥

शाश्वतमथोच्छेदो भव्यमभव्यं च शून्यमितरच्च ।
विज्ञानमविज्ञानं नापि युज्यते असति सद्भावे ॥ ३७ ॥

अत्र जीवाभावो मुक्तिरिति निरस्तम् । द्रव्यं द्रव्यतया शाश्वतमिति, नित्ये द्रव्ये पर्यायाणां प्रतिसमयमुच्छेद इति, द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायैः भाव्यमिति, द्रव्यस्य सर्वदा

वास्तवमें, दोनों कर्मोंका क्षय होने पर, स्वयं अपनेको (सिद्धरूपसे) उत्पन्न करते हुए अन्य कुछ भी (भावद्रव्यकर्मस्वरूप अथवा देवादिस्वरूप कार्य) उत्पन्न नहीं करते ।३६।

गाथा ३७

अन्वयार्थः—[सद्भावे असति] यदि (मोक्षमें जीवका) सद्भाव न हो तो [शाश्वतम्] शाश्वत, [अथ उच्छेदः] नाशवंत, [भव्यम्] भव्य (—होने योग्य), [अभव्यम् च] अभव्य (—न होने योग्य), [शून्यम्] शून्य, [इतरत् च] अशून्य, [विज्ञानम्] विज्ञान और [अविज्ञानम्] अविज्ञान [न अपि युज्यते] (जीव द्रव्यमें) घटित नहीं हो सकते । (इसलिये मोक्षमें जीवका सद्भाव है ही ।)

टीकाः—यहाँ, 'जीवका अभाव सो मुक्ति है' इस बातका खंडन किया है ।

(१) द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत है, (२) नित्य द्रव्यमें पर्यायका प्रति समय नाश होता है, (३) द्रव्य सर्वदा अभूत पर्यायोंरूपसे भाव्य (—होनेयोग्य, परिणमित होने योग्य) है, (४) द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायोंरूपसे अभाव्य (—न होने योग्य) है, (५) द्रव्य अन्य द्रव्योंसे सदा शून्य है, (६) द्रव्य स्वद्रव्यसे सदा अशून्य है,

---

सद्भाव जो नहि होय तो ध्रुव, नाश, भव्य, अभव्य ने ।
विज्ञान, अणविज्ञान, शून्य, अशून्य—ए कंई नव घटे ॥३७॥

भूतपर्यायैरभाव्यमिति, द्रव्यमन्यद्रव्यैः सदा शून्यमिति; द्रव्यं स्वद्रव्येण सदाऽशून्यमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनंतं ज्ञानं क्वचित्सांतं ज्ञानमिति, क्वचिज्जीवद्रव्येऽनंतं क्वचित्सांतमज्ञानमिति—एतदन्यथानुपपद्यमानं मुक्तौ जीवस्य सद्भावमावेदयतीति ॥३७॥

कम्माणं फलमेक्को एक्को कज्जं तु णाणमध एक्को ।
चेदयदि जीवरासी चेदगभावेण तिविहेण ॥ ३८ ॥

कर्मणां फलमेकः एकः कार्यं तु ज्ञानमथैकः ।
चेतयति जीवराशिश्चेतकभावेन त्रिविधेन ॥३८॥

---

(७) [1]किसी जीवद्रव्यमें अनन्त ज्ञान और किसीमें सांत ज्ञान है, (८) [2]किसी जीवद्रव्यमें अनन्त अज्ञान और किसीमें सांत अज्ञान है—यह सब, [3]अन्यथा घटित न होता हुआ, मोक्षमें जीवके सद्भाव को प्रगट करता है ।३७।

गाथा ३८

अन्वयार्थः—[त्रिविधेन चेतकभावेन] त्रिविध चेतकभाव द्वारा [एकः जीवराशिः] एक जीवराशि [कर्मणां फलम्] कर्मोंके फलको, [एकः तु] एक जीवराशि

---

१. जिसे सम्यक्त्वसे च्युत नहीं होना है ऐसे सम्यक्त्वी जीवको अनन्त ज्ञान है और जिसे सम्यक्त्वसे च्युत होना है ऐसे सम्यक्त्वी जीवको सांत ज्ञान है ।

२. अभव्य जीवको अनन्त अज्ञान है और जिसे किसी काल भी ज्ञान होना है ऐसे अज्ञानी भव्य जीवको सांत अज्ञान है ।

३. अन्यथा=अन्य प्रकारसे; दूसरी रीतिसे । [मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही नहीं रहता हो तो उपरोक्त आठ भाव घटित हो ही नहीं सकते । यदि मोक्षमें जीवका अभाव ही हो जाता हो तो, (१) प्रत्येक द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत है—यह बात कैसे घटित होगी ? (२) प्रत्येक द्रव्य नित्य रहकर उसमें पर्यायोंका नाश होता रहता है—यह बात कैसे घटित होगी ? (३-६) प्रत्येक द्रव्य सर्वदा अनागत पर्यायसे भाव्य, सर्वदा अतीत पर्यायसे अभाव्य, सर्वदा परसे शून्य और सर्वदा स्वसे अशून्य है—यह बातें कैसे घटित होंगी ? (७) किसी जीवद्रव्यमें अनन्त ज्ञान है—यह बात कैसे घटित होगी ? और (८) किसी जीवद्रव्यमें सांत अज्ञान है (अर्थात् जीव-

त्रणविध चेतकभावथी को जीवराशि 'कार्य' ने ।
को जीवराशि 'कर्मफल' ने, कोई चेते 'ज्ञान' ने ॥ ३८ ॥

चेतयितृत्वगुणव्याख्येयम् । एके हि चेतयितारः प्रकृष्टतरमोहमलीमसेन प्रकृष्टतरज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन प्रकृष्टतरवीर्यांतरायावसादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपं कर्मफलमेव प्राधान्येन चेतयंते । अन्ये तु प्रकृष्टतरमोहमलीमसेनापि प्रकृष्टज्ञानावरणमुद्रितानुभावेन चेतकस्वभावेन मनाग्वीर्यांतरायक्षयोपशमासादितकार्यकारणसामर्थ्याः सुखदुःखरूपकर्मफलानुभवनसंवलितमपि कार्यमेव प्राधान्येन चेतयंते । अन्यतरे तु प्रक्षालितसकल-

---

[कार्यं] कार्यको [अथ] और [एकः] एक जीवराशि [ज्ञानम्] ज्ञानको [चेतयति] चेतती (—वेदती) है ।

टीकाः—यह, [1]चेतयितृत्वगुणकी व्याख्या है ।

कोई चेतयिता अर्थात् आत्मा तो, जो अति प्रकृष्ट मोहसे मलिन है और जिसका प्रभाव (शक्ति) अति प्रकृष्ट ज्ञानावरणसे मुँद गया है ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा सुखदुःखरूप 'कर्मफल, को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उनका अति प्रकृष्ट वीर्यांतरायसे कार्य करनेका (—कर्मचेतनारूप परिणमित होनेका) सामर्थ्य नष्ट हो गया है ।

दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा, जो अति प्रकृष्ट मोहसे मलिन है और जिसका प्रभाव [2]प्रकृष्ट ज्ञानावरणसे मुँद गया है ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा —भले ही सुखदुःखरूप कर्मफलके अनुभवसे मिश्रितरूपसे भी—'कार्य'को ही प्रधानतः चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने अल्प वीर्यांतरायके क्षयोपशमसे [3]कार्य करनेका सामर्थ्य प्राप्त किया है ।

द्रव्य नित्य रहकर उसमें अज्ञानपरिणामका अन्त आता है)—यह बात कैसे घटित होगी ? इसलिये इन आठ भावों द्वारा मोक्षमें जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है ।]

१. चेतयितृत्व=चेतयितापना; चेतनेवालापना; चेतकपना ।

२. कर्मचेतनावाले जीवको ज्ञानावरण 'प्रकृष्ट' होता है और कर्मफलचेतनावालेको अति प्रकृष्ट' होता है ।

३. कार्य=(जीव द्वारा) किया जाता हो वह; इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कर्म ।
[जिन जीवोंको वीर्यका किंचित् विकास हुआ है उनको कर्मचेतनारूपसे परिणमित होनेका सामर्थ्य प्रगट हुआ है इसलिये वे मुख्यतः कर्मचेतनारूपसे परिणमित होते हैं । वह कर्मचेतना कर्मफलचेतनासे मिश्रित होती है ।]

मोहकलंकेन समुच्छिन्नकृत्स्नज्ञानावरणतयात्यंतमुन्मुद्रितसमस्तानुभावेन चेतकस्वभावेनसमस्त-वीर्यांतरायक्षयासादितानंतवीर्या अपि निर्जीर्णकर्मफलत्वादत्यंतकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्त-स्वाभाविक सुखं ज्ञानमेव चेतयंत इति ।। ३८ ।।

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं ।
पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा ।।३९।।

सर्वे खलु कर्मफलं स्थावरकायास्त्रसा हि कार्ययुतम् ।
प्राणित्वमतिक्रांताः ज्ञानं विंदन्ति ते जीवाः ।। ३९ ।।

और दूसरे चेतयिता अर्थात् आत्मा, जिसमेंसे सकल मोहकलंक धुल गया है तथा समस्त ज्ञानावरणके विनाशके कारण जिसका समस्त प्रभाव अत्यन्त विकसित होगया है ऐसे चेतकस्वभाव द्वारा 'ज्ञान' को ही—कि जो ज्ञान अपनेसे [1]अव्यतिरिक्त स्वाभाविक सुखवाला है उसीको—चेतते हैं, क्योंकि उन्होंने समस्त वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्त वीर्यको प्राप्त किया है इसलिये उनको (विकारी सुखदुःखरूप) कर्मफल निर्जरित होगया है और अत्यंत [2]कृतकृत्यपना हुआ है (अर्थात् कुछ भी करना लेशमात्र भी नहीं रहा) ।३८।

गाथा ३९

अन्वयार्थः—[सर्वे स्थावरकायाः] सर्व स्थावर जीवसमूह [खलु] वास्तवमें [कर्मफलं] कर्मफलको वेदते हैं, [त्रसाः] त्रस [हि] वास्तवमें [कार्ययुतम्] कार्य-सहित कर्मफलको वेदते हैं और [प्राणित्वम् अतिक्रांताः] जो प्राणित्वका (-प्राणोंका) अतिक्रम कर गये हैं [ते जीवाः] वे जीव [ज्ञानं] ज्ञानको [विंदन्ति] वेदते हैं ।

---

१. अव्यतिरिक्त=अभिन्न । (स्वाभाविक सुख ज्ञानसे अभिन्न है, इसलिये ज्ञानचेतना स्वाभाविक सुखके संचेतन—अनुभवन—सहित ही होती है ।)

२ कृतकृत्य=कृतकार्य । [परिपूर्ण ज्ञानवाले आत्मा अत्यन्त कृतकार्य हैं इसलिये, यद्यपि उन्हें अनन्त वीर्य प्रगट हुआ है तथापि, उनका वीर्य कार्यचेतनाको (कर्मचेतनाको) नहीं रचता, (और विकारी सुखदुःख नष्ट हो गये हैं इसलिये उनका वीर्य कर्मफलचेतनाको भी नहीं रचता,) ज्ञानचेतनाको ही रचता है ।

वेदे करमफल स्थावरो, त्रस कार्ययुत फल अनुभवे ।
प्राणित्वथी अतिक्रांत जे ते जीव वेदे ज्ञानने ।।३९।।

अत्र कः किं चेतयत इत्युक्तम् । चेतयंते अनुभवन्ति उपलभंते विंदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात् । तत्र स्थावराः कर्मफलं चेतयंते, त्रसाः कार्यं चेतयंते, केवलज्ञानिनो ज्ञानं चेतयंत इति ।। ३९ ।।

अथोपयोगगुणव्याख्यानम् ।

उवओगो खलु दुविहो णाणेण य दंसणेण संजुत्तो ।
जीवस्स सव्वकालं अणण्णभूदं वियाणीहि ।। ४० ।।

टीकाः—यहाँ, कौन क्या चेतता है (अर्थात् किस जीवको कौनसी चेतना होती है) वह कहा है ।

चेतता है, अनुभव करता है, उपलब्ध करता है और वेदता है—ये एकार्थ हैं (अर्थात् यह सब शब्द एक अर्थवाले हैं), क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदनाका एक अर्थ है । वहाँ, स्थावर कर्मफलको चेतते हैं, त्रस कार्यको चेतते हैं, केवलज्ञानी ज्ञानको चेतते हैं ।

भावार्थः—पाँच प्रकारके स्थावर जीव अव्यक्त सुखदुःखानुभवरूप शुभाशुभकर्मफलको चेतते हैं । द्वीन्द्रियादि त्रस जीव उसी कर्मफलको इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप कार्यसहित चेतते हैं । *परिपूर्ण ज्ञानवंत भगवन्त (अनन्त सौख्य सहित) ज्ञानको ही चेतते हैं । ३९ ।

अब उपयोग गुणका व्याख्यान है ।

---

* यहाँ परिपूर्ण ज्ञानचेतनाकी विवक्षा होनेसे, केवलीभगवन्तों और सिद्धभगवन्तोंको ही ज्ञानचेतना कही गई है । आंशिक ज्ञानचेतनाकी विवक्षासे तो मुनि, श्रावक तथा अविरत सम्यग्दृष्टिको भी ज्ञानचेतना कही जा सकती है: उसका यहाँ निषेध नहीं समझना, मात्र विवक्षाभेद है ऐसा समझना चाहिये ।

छे ज्ञान ने दर्शन सहित उपयोग युगल प्रकारनो;
जीवद्रव्यने ते सर्व काल अनन्यरूपे जाणवो ।। ४० ।।

उपयोगः खलु द्विविधो ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः ।
जीवस्य सर्वकालमनन्यभूतं विजानीहि ॥ ४० ॥

आत्मनश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः । सोऽपि द्विविधः—ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्च । तत्र विशेषग्राहि ज्ञानं, सामान्यग्राहि दर्शनम् । उपयोगश्च सर्वदा जीवादपृथग्भूत एव, एकास्तित्वनिर्वृत्तत्वादिति ॥ ४० ॥

आभिणिसुदोधिमणकेवलाणि णाणाणि पंचभेयाणि ।
कुमदिसुदविभंगाणि य तिण्णि वि णाणेहिं संजुत्ते ॥४१॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानानि पंचभेदानि ।
कुमतिश्रुतविभङ्गानि च त्रीण्यपि ज्ञानैः संयुक्तानि ॥ ४१ ॥

गाथा ४०

अन्वयार्थः—[ज्ञानेन च दर्शनेन संयुक्तः] ज्ञान और दर्शनसे संयुक्त ऐसा [खलु द्विविधः] वास्तवमें दो प्रकारका [उपयोगः] उपयोग [जीवस्य] जीवको [सर्वकालम्] सर्वकाल [अनन्यभूतं] अनन्यरूपसे [विजानीहि] जानो ।

टीकाः—आत्माका चैतन्य-अनुविधायी (अर्थात् चैतन्यका अनुसरण करनेवाला) परिणाम सो उपयोग है। वह भी दो प्रकारका है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। वहाँ, विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है और सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है (अर्थात् विशेष जिसमें प्रतिभासित हो वह ज्ञान है और सामान्य जिसमें प्रतिभासित हो वह दर्शन है) । और उपयोग सर्वदा जीवसे *अपृथग्भूत ही है, क्योंकि एक अस्तित्व से रचित है । ४० ।

गाथा ४१

अन्वयार्थः—[आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि] आभिनिबोधिक (-मति,) श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—[ज्ञानानि पंचभेदानि] इसप्रकार ज्ञानके पांच भेद हैं; [कुमतिश्रुतविभङ्गानि च] और कुमति, कुश्रुत तथा विभंग—[त्रीणि अपि]

---

* अपृथग्भूत=अभिन्न । (उपयोग सदैव जीवसे अभिन्न ही हैं, क्योंकि वे एक अस्तित्वसे निष्पन्न हैं ।)

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल–पांच भेदो ज्ञानना ।
कुमति, कुश्रुत, विभंग–त्रण पण ज्ञान साथे जोडवां ॥ ४१ ॥

ज्ञानोपयोगविशेषाणां नामस्वरूपाभिधानमेतत् । तत्राभिनिबोधिकज्ञानं श्रुतज्ञान-मवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानं कुमतिज्ञानं कुश्रुतज्ञानं विभङ्गज्ञानमिति नामाभिधानम् । आत्मा ह्यनंतसर्वात्मप्रदेशव्यापिविशुद्धज्ञानसामान्यात्मा । स खल्वनादिज्ञानावरणकर्मावच्छन्नप्रदेशः सन्, यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदाभिनिबोधिकज्ञानम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादनिन्द्रियावलंबाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तत् श्रुतज्ञानम् । यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदवधिज्ञानम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादेव परमनोगतं मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तन्मनःपर्ययज्ञानम्, यत्सकलावरणात्यंतक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं विशेषेणावबुध्यते तत्स्वाभाविकं

यह तीन (अज्ञान) भी [ज्ञानैः] (पांच) ज्ञानके साथ [संयुक्तानि] संयुक्त किये गये । (-इसप्रकार ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं ।)

टीकाः—यह, ज्ञानोपयोगके भेदोंके नाम और स्वरूपका कथन है ।

वहाँ, (१) आभिनिबोधिकज्ञान, (२) श्रुतज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मनःपर्ययज्ञान, (५) केवलज्ञान, (६) कुमतिज्ञान, (७) कुश्रुतज्ञान और (८) विभंगज्ञान—इसप्रकार (ज्ञानोपयोगके भेदोंके) नामका कथन है ।

(अब उनके स्वरूपका कथन किया जाता है:—) आत्मा वास्तवमें अनन्त, सर्व आत्मप्रदेशोंमें व्यापक, विशुद्ध ज्ञानसामान्यस्वरूप है । वह (आत्मा) वास्तवमें अनादि ज्ञानावरणकर्मसे आच्छादित प्रदेशवाला वर्तता हुआ, (१) उस प्रकारके (अर्थात् मतिज्ञानके) आवरणके क्षयोपशमसे और इन्द्रिय-मनके अवलम्बनसे मूर्त-अमूर्त द्रव्यका [1]विकलरूपसे [2]विशेषतः अवबोधन करता है वह आभिनिबोधिकज्ञान है; (२) उस प्रकार के (अर्थात् श्रुतज्ञानके) आवरणके क्षयोपशमसे और मनके अवलम्बनसे मूर्त-अमूर्त द्रव्यका विकलरूपसे विशेषतः अवबोधन करता है वह श्रुतज्ञान है; (३) उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे ही मूर्त द्रव्यका विकलरूपसे विशेषतः अवबोधन करता है वह अवधिज्ञान है; (४) उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे

---

१. विकलरूपसे=अपूर्णरूपसे; अंशतः ।

२. विशेषतः अवबोधना करना=जानना । (विशेष अवबोध अर्थात् विशेष प्रतिभास सो ज्ञान है ।)

केवलज्ञानम् । मिथ्यादर्शनोदयसहचरितमाभिनिबोधिकज्ञानमेव कुमतिज्ञानम्, मिथ्यादर्शनोदयसहचरितं श्रुतज्ञानमेव कुश्रुतज्ञानम्, मिथ्यादर्शनोदयसहचरित-

---

ही परमनोगत (–दूसरोंके मनके साथ सम्बन्धवाले) मूर्त द्रव्यका विकलरूपसे विशेषतः अवबोधन करता है वह मनःपर्ययज्ञान है; (५) समस्त आवरणके अत्यन्त क्षयसे, केवल ही (–अकेला आत्मा ही) मूर्त-अमूर्त द्रव्यका सकलरूपसे विशेषतः अवबोधन करता है वह स्वाभाविक केवलज्ञान है। (६) मिथ्यादर्शनके उदयके साथका आभिनिबोधिकज्ञान ही कुमतिज्ञान है, (७) मिथ्यादर्शनके उदयके साथका श्रुतज्ञान ही कुश्रुतज्ञान है; (८) मिथ्यादर्शनके उदयके साथका अवधिज्ञान ही विभंगज्ञान है।—इस प्रकार (ज्ञानोपयोगके भेदोंका) स्वरूपका कथन है।

इसप्रकार मतिज्ञानादि आठ ज्ञानोपयोगोंका व्याख्यान किया गया।

भावार्थः—प्रथम तो, निम्नानुसार पाँच ज्ञानोंका स्वरूप है:—

निश्चयनयसे अखंड-एक-विशुद्धज्ञानमय ऐसा यह आत्मा व्यवहारनयसे संसारावस्थामें कर्मावृत वर्तता हुआ, मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर, पाँच इन्द्रियो और मनसे मूर्त-अमूर्त वस्तुको विकल्परूपसे जो जानता है वह मतिज्ञान है। वह तीन प्रकारका है; उपलब्धिरूप, भावनारूप और उपयोगरूप। मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जनित अर्थग्रहणशक्ति (पदार्थको जाननेकी शक्ति) वह उपलब्धि है, जाने हुए पदार्थका पुनः पुनः चिंतन सो भावना है और 'यह काला है,' 'यह पीला है,' इत्यादिरूपसे अर्थग्रहण व्यापार (–पदार्थको जाननेका व्यापार) सो उपयोग है। उसीप्रकार वह (मतिज्ञान) अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणारूप भेदों द्वारा अथवा कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि पदानुसारीबुद्धि तथा संभिन्नश्रोतृताबुद्धि ऐसे भेदों द्वारा चार प्रकारका है। (यहाँ, ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये कि निर्विकार शुद्ध अनुभूति के प्रति अभिमुख जो मतिज्ञान वही उपादेयभूत अनन्त सुखका साधक होनेसे निश्चयसे उपादेय है, उसके साधनभूत बहिरंग मतिज्ञान तो व्यवहारसे उपादेय है।)

वही पूर्वोक्त आत्मा, श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर मूर्त–अमूर्त वस्तुको परोक्षरूपसे जो जानता है उसे ज्ञानी श्रुतज्ञान कहते हैं। वह लब्धिरूप और भावना-

मवधिज्ञानमेव विभंगज्ञानम् इति स्वरूपाभिधानम् । इत्थं मतिज्ञानादिज्ञानोपयोगाष्टकं व्याख्यातम् ।। ४१ ।।

रूप है तथा उपयोगरूप और नयरूप है। 'उपयोग' शब्दसे यहाँ वस्तुको ग्रहण करने वाला प्रमाण समझना चाहिये अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुको जाननेवाला ज्ञान समझना चाहिये और 'नय' शब्दसे वस्तुके (गुणपर्यायरूप) एक देशको ग्रहण करनेवाला ऐसा ज्ञाताका अभिप्राय समझना चाहिये। (यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये कि विशुद्धज्ञानदर्शन जिसका स्वभाव है ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप अभेदरत्नत्रयात्मक जो भावश्रुत वही उपादेयभूत परमात्मतत्त्वका साधक होनेसे निश्चयसे उपादेय है किन्तु उसके साधनभूत बहिरंग श्रुतज्ञान तो व्यवहारसे उपादेय है।)

यह आत्मा, अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर, मूर्त वस्तुको जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है वह अवधिज्ञान है। वह अवधिज्ञान लब्धिरूप तथा उपयोगरूप ऐसा दो प्रकारका जानना। अथवा अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे भेदों द्वारा तीन प्रकारसे है। उसमें परमावधि और सर्वावधि चैतन्यके उछलनेसे भरपूर आनन्दरूप परमसुखामृतके रसास्वादनरूप समरसीभावसे परिणत चरमदेही तपोधनोंको होता है। तीनों प्रकारके अवधिज्ञान विशिष्ट सम्यक्त्वादि गुणसे निश्चयसे होते हैं। देवों और नारकोंको होनेवाला भवप्रत्ययी जो अवधिज्ञान वह नियमसे देशावधि ही होता है।

यह आत्मा, मनःपर्ययज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर, परमनोगत मूर्त वस्तुको जो प्रत्यक्षरूपसे जानता है वह मनःपर्ययज्ञान है। ऋजुमति और विपुलमति ऐसे भेदों द्वारा मनःपर्ययज्ञान दो प्रकारका है। वहाँ, विपुलमति मनःपर्ययज्ञान परके मनवचनकाय सम्बन्धी पदार्थको, वक्र तथा अवक्र दोनोंको, जानता है और ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान तो ऋजुको (अवक्रको) ही जानता है। निर्विकार आत्माकी उपलब्धि और भावना सहित चरमदेही मुनियोंको विपुलमति मनःपर्ययज्ञान होता है। यह दोनों मनःपर्ययज्ञान वीतराग आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानकी भावना सहित, पन्द्रह प्रमादरहित अप्रमत्त मुनिको उपयोगमें—विशुद्ध परिणाममें—उत्पन्न होते हैं।

दंसणमवि चक्खुजुदं अचक्खुजुदमवि य ओहिणा सहियं ।
अणिधणमणंतविसयं केवलियं चावि पण्णत्तं ॥ ४२ ॥

यहाँ मनःपर्ययज्ञानके उत्पादकालमें ही अप्रमत्तपनेका नियम है, फिर प्रमत्तपनेमें भी वह संभवित होता है ।

जो ज्ञान घटपटादि ज्ञेय पदार्थोंका अवलम्बन लेकर उत्पन्न नहीं होता वह केवलज्ञान है । वह श्रुतज्ञानस्वरूप भी नहीं है । यद्यपि दिव्यध्वनिकालमें उसके आधार से गणधरदेव आदिको श्रुतज्ञान परिणमित होता है तथापि वह श्रुतज्ञान गणधरदेव आदिको ही होता है, केवलीभगवन्तोंको तो केवलज्ञान ही होता है । पुनश्च, केवली-भगवन्तोंको श्रुतज्ञान नहीं है इतना ही नहीं, किन्तु उन्हें ज्ञान-अज्ञान भी नहीं है अर्थात् उन्हें किसी विषयका ज्ञान तथा किसी विषयका अज्ञान हो ऐसा भी नहीं है—सर्व विषयोंका ज्ञान ही होता है; अथवा, उन्हें मतिज्ञानादि अनेक भेदवाला ज्ञान नहीं है—एक केवलज्ञान ही है ।

यहाँ जो पाँच ज्ञानोंका वर्णन किया गया है वह व्यवहारसे किया गया है । निश्चयसे तो बादल रहित सूर्यकी भाँति आत्मा अखंड-एक-ज्ञान-प्रतिभासमय ही है ।

अब अज्ञानत्रयके सम्बन्धमें कहते हैं:—

मिथ्यात्व द्वारा अर्थात् भाव-आवरण द्वारा अज्ञान (–कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान तथा विभंगज्ञान) और अविरतिभाव होता है तथा ज्ञेयका अवलम्बन लेनेसे (–ज्ञेय-सम्बन्धी विचार अथवा ज्ञान करनेसे) उस-उस काल दुःनय और दुःप्रमाण होते हैं । (मिथ्यादर्शनके सद्भावमें वर्तता हुआ मतिज्ञान वह कुमतिज्ञान है, श्रुतज्ञान वह कुश्रुतज्ञान है, अवधिज्ञान वह विभंगज्ञान है; उनके सद्भावमें वर्तते हुए नय वे दुःनय हैं और प्रमाण वह दुःप्रमाण है ।) इसलिये ऐसा भावार्थ समझना चाहिये कि निर्विकार शुद्ध आत्माकी अनुभूतिस्वरूप निश्चय सम्यक्त्व उपादेय है ।

इस प्रकार ज्ञानोपयोगका वर्णन किया गया । ४१ ।

दर्शन तणा चक्षु–अचक्षुरूप, अवधिरूप ने ।
निःसीम विषय अनिधन केवलरूप भेद कहेल छे ॥४२॥

दर्शनमपि चक्षुर्युतमचक्षुर्युतमपि चावधिना सहितम् ।
अनिधनमनंतविषयं कैवल्यं चापि प्रज्ञप्तम् ॥ ४२ ॥

दर्शनोपयोगविशेषाणां नामस्वरूपाभिधानमेतत् । चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनमिति नामाभिधानम् । आत्मा ह्यनन्तसर्वात्मप्रदेशव्यापिविशुद्धदर्शनसामान्यात्मा । स खल्वनादिदर्शनावरणकर्मावच्छन्नप्रदेशः सन्, यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुरिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनावबुध्यते तच्चक्षुर्दर्शनम्, यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रि-

---

गाथा ४२

अन्वयार्थः—[दर्शनम् अपि] दर्शन भी [चक्षुर्युतम्] चक्षुदर्शन, [अचक्षुर्युतम् अपि च] अचक्षुदर्शन, [अवधिना सहितम्] अवधिदर्शन [च अपि] और [अनंतविषयम्] अनंत जिसका विषय है ऐसा [अनिधनम्] अविनाशी [कैवल्यं] केवलदर्शन [प्रज्ञप्तम्] —ऐसे चार भेदवाला कहा है ।

टीकाः—यह, दर्शनोपयोगके भेदोंके नाम और स्वरूपका कथन है ।

(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन—इस प्रकार (दर्शनोपयोगके भेदोंका) नामका कथन है ।

(अब, उनके स्वरूपका कथन किया जाता है:—) आत्मा वास्तवमें अनन्त, सर्व आत्मप्रदेशोंमें व्यापक, विशुद्ध दर्शनसामान्यस्वरूप है । वह (आत्मा) वास्तवमें अनादि दर्शनावरणकर्मसे आच्छादित प्रदेशोंवाला वर्तता हुआ, (१) उस प्रकारके (अर्थात् चक्षुदर्शनके) आवरणके क्षयोपशमसे और चक्षु-इन्द्रियके अवलम्बनसे मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे *सामान्यतः अवबोधन करता है वह चक्षुदर्शन है, (२) उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे तथा चक्षुके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों और मनके अवलम्बनसे मूर्त-अमूर्त द्रव्यको विकलरूपसे सामान्यतः अवबोधन करता है वह अचक्षुदर्शन है, (३) उस प्रकारके आवरणके क्षयोपशमसे ही मूर्त द्रव्यको विकलरूपसे सामान्यतः अवबोधन करता है वह अवधिदर्शन है, (४) समस्त आवरणके अत्यन्त

---

*सामान्यतः अवबोधना=देखना । (सामान्य अवबोध अर्थात् सामान्य प्रतिभास वह दर्शन है ।)

यानिन्द्रियावलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनाववुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम्, यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनाववुध्यते तदवधिदर्शनम्, यत्सकलावरणात्यंतक्षये केवल एव मूर्तामूर्तद्रव्यं सकलं सामान्येनाववुध्यते तत्स्वाभाविकं केवलदर्शनमिति स्वरूपाभिधानम् ॥ ४२ ॥

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियं त्ति णाणीहिं ॥ ४३ ॥

न विकल्प्यते ज्ञानात् ज्ञानी ज्ञानानि भवंत्यनेकानि ।
तस्मात्तु विश्वरूपं भणितं द्रव्यमिति ज्ञानिभिः ॥ ४३ ॥

एकस्यात्मनोऽनेकज्ञानात्मकत्वसमर्थनमेतत् । न तावज्ज्ञानी ज्ञानात्पृथग्भवति, द्वयोरप्येकास्तित्वनिर्वृत्तत्वेनैकद्रव्यत्वात्, द्वयोरप्यभिन्नप्रदेशत्वेनैकक्षेत्रत्वात्, द्वयोरप्येकसमय-

---

क्षयसे, केवल ही (–आत्मा अकेला ही), मूर्त-अमूर्त द्रव्यको सकलरूपसे सामान्यतः अवबोधन करता है वह स्वाभाविक केवलदर्शन है।—इस प्रकार (दर्शनोपयोगके भेदोंके) स्वरूपका कथन है। ४२।

गाथा ४३

अन्वयार्थः—[ज्ञानात्] ज्ञानसे [ज्ञानी न विकल्प्यते] ज्ञानीका (–आत्माका) भेद नहीं किया जाता; [ज्ञानानि अनेकानि भवंति] तथापि ज्ञान अनेक हैं। [तस्मात् तु] इसलिये तो [ज्ञानिभिः] ज्ञानियोंने [द्रव्यं] द्रव्यको [विश्वरूपम् इति भणितम्] विश्वरूप (–अनेकरूप) कहा है।

टीकाः—एक आत्मा अनेक ज्ञानात्मक होनेका यह समर्थन है।

प्रथम तो ज्ञानी (–आत्मा) ज्ञानसे पृथक् नहीं है; क्योंकि दोनों एक अस्तित्वसे रचित होनेसे दोनोंको एकद्रव्यपना है, दोनोंके अभिन्न प्रदेश होनेसे दोनोंको एकक्षेत्रपना है, दोनों एक समयमें रचे जाते होनेसे दोनोंको एककालपना है, दोनोंका एक स्वभाव होनेसे दोनोंको एकभावपना है। किन्तु ऐसा कहा जाने पर भी, एक

छे ज्ञानथी नहि भिन्न ज्ञानी, ज्ञान तोय अनेक छे।
ते कारणे तो विश्वरूप कह्युं दरवने ज्ञानीए ॥ ४३ ॥

निर्वृत्तत्वेनैककालत्वात्, द्वयोरप्येकस्वभावत्वेनैकभावत्वात् । न चैवमुच्यमानेऽप्येकस्मिन्नात्मन्याभिनिबोधिकादीन्यनेकानि ज्ञानानि विरुध्यंते, द्रव्यस्य विश्वरूपत्वात् । द्रव्यं हि सहक्रमप्रवृत्तानंतगुणपर्यायाधारतयानंतरूपत्वादेकमपि विश्वरूपमभिधीयत इति ।। ४३ ।।

जदि हवदि दव्वमण्णं गुणदो य गुणा य दव्वदो अण्णे ।
दव्वाणंतियमधवा दव्वाभावं पकुव्वंति ।। ४४ ।।

यदि भवति द्रव्यमन्यद्गुणतश्च गुणाश्च द्रव्यतोऽन्ये ।
द्रव्यानंत्यमथवा द्रव्याभावं प्रकुर्वन्ति ।। ४४ ।।

द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे, गुणानां च द्रव्याद्भेदे दोषोपन्यासोऽयम् । गुणा हि क्वचिदाश्रिताः । यत्राश्रितास्तद्द्रव्यं । तच्चेदन्यद्गुणेभ्यः । पुनरपि गुणाः क्वचिदाश्रिताः ।

आत्मामें आभिनिबोधिक (–मति) आदि अनेक ज्ञान विरोध नहीं पाते, क्योंकि द्रव्य विश्वरूप है । द्रव्य वास्तवमें सहवर्ती और क्रमवर्ती ऐसे अनंत गुणों तथा पर्यायोंका आधार होनेके कारण अनंतरूपवाला होनेसे, एक होने पर भी, *विश्वरूप कहा जाता है । ४३ ।

गाथा ४४

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [द्रव्यं] द्रव्य [गुणतः] गुणोंसे [अन्यत् च भवति] अन्य (–भिन्न) हो [गुणाः च] और गुण [द्रव्यतः अन्ये] द्रव्यसे अन्य हों तो [द्रव्यानंत्यम्] द्रव्यकी अनंतता हो [अथवा] अथवा [द्रव्याभावं] द्रव्यका अभाव [प्रकुर्वन्ति] हो ।

टीकाः—द्रव्यका गुणोंसे भिन्नत्व हो और गुणोंका द्रव्यसे भिन्नत्व हो तो दोष आता है—उसका यह कथन है ।

---

* विश्वरूप=अनेकरूप । [एक द्रव्य सहवर्ती अनंत गुणोंका और क्रमवर्ती अनंत पर्यायोंका आधार होनेके कारण अनन्तरूपवाला भी है, इसलिये उसे विश्वरूप (अनेकरूप) भी कहा जाता है । इसलिये एक आत्मा अनेक ज्ञानात्मक होनेमें विरोध नहीं है ।]

जो द्रव्य गुणथी अन्य ने गुण अन्य मानो द्रव्यथी ।
तो थाय द्रव्य–अनंतता वा थाय नास्ति द्रव्यनी ।। ४४ ।।

यत्राश्रितास्तद्द्रव्यम् । तदपि अन्यच्चेद्गुणेभ्यः । पुनरपि गुणा क्वचिदाश्रिताः । यत्राश्रिताः तद्द्रव्यम् । तदप्यन्यदेव गुणेभ्यः । एवं द्रव्यस्य गुणेभ्यो भेदे भवति द्रव्यानंत्यम् । द्रव्यं हि गुणानां समुदायः । गुणाश्चेदन्ये समुदायात्, को नाम समुदायः । एवं गुणानां द्रव्याद्भेदे भवति द्रव्याभाव इति ।। ४४ ।।

अविभत्तमणण्णत्तं दव्वगुणाणं विभत्तमण्णत्तं ।
णेच्छंति णिच्छयण्हू तव्विवरीदं हि वा तेसिं ।। ४५ ।।

अविभक्तमनन्यत्वं द्रव्यगुणानां विभक्तमन्यत्वम् ।
नेच्छन्ति निश्चयज्ञास्तद्विपरीतं हि वा तेषाम् ।। ४५ ।।

गुण वास्तवमें किसीके आश्रयसे होते हैं; (वे) जिसके आश्रित हों वह द्रव्य होता है । वह (–द्रव्य) यदि गुणोंसे अन्य (–भिन्न) हो तो—फिर भी, गुण किसीके आश्रित होंगे; (वे) जिसके आश्रित हों वह द्रव्य होता है । वह यदि गुणोंसे अन्य हो तो—फिर भी, गुण किसीके आश्रित होंगे; (वे) जिसके आश्रित हों वह द्रव्य होता है । वह भी गुणोंसे अन्य ही हो......इस प्रकार यदि द्रव्यका गुणोंसे भिन्नत्व हो तो, द्रव्यकी अनंतता हो ।

वास्तवमें द्रव्य अर्थात् गुणोंका समुदाय । गुण यदि समुदायसे अन्य हों तो समुदाय कैसा ? (अर्थात् यदि गुणोंको समुदायसे भिन्न माना जाये तो समुदाय कहाँ-से घटित होगा ? अर्थात् द्रव्य ही कहाँसे घटित होगा ?) इस प्रकार यदि गुणोंका द्रव्यसे भिन्नत्व हो तो, द्रव्यका अभाव हो । ४४ ।

गाथा ४५

अन्वयार्थः—[द्रव्यगुणानाम्] द्रव्य और गुणोंको [अविभक्तम् अनन्यत्वम्] अविभक्तपनेरूप अनन्यपना है; [निश्चयज्ञाः हि] निश्चयके ज्ञाता [तेषाम्] उन्हें [विभक्तम् अन्यत्वम्] विभक्तपनेरूप–अन्यपना [वा] या [तद्विपरीतं] (विभक्तपने-रूप) अनन्यपना [न इच्छन्ति] नहीं मानते ।

गुण–द्रव्यने अविभक्तरूप अनन्यता बुधमान्य छे ।
पण त्यां विभक्त अनन्यता वा अन्यता नहि मान्य छे ।।४५।।

द्रव्यगुणानां स्वोचितानन्यत्वोक्तिरियम् । अविभक्तप्रदेशत्वलक्षणं द्रव्यगुणानामनन्यत्वमभ्युपगम्यते । विभक्तप्रदेशत्वलक्षणं त्वन्यत्वमनन्यत्वं च नाभ्युपगम्यते । तथा हि—यथैकस्य परमाणोरेकेनात्मप्रदेशेन सहाविभक्तत्वादनन्यत्वं, तथैकस्य परमाणोस्तद्वर्तिनां स्पर्शरसगंधवर्णादिगुणानां चाविभक्तप्रदेशत्वादनन्यत्वम् । यथा त्वत्यंतविप्रकृष्टयोः सह्यविंध्ययोरत्यंतसन्निकृष्टयोश्च मिश्रितयोस्तोयपयसोर्विभक्तप्रदेशत्वलक्षणमन्यत्वमनन्यत्वं च. न तथा द्रव्यगुणानां विभक्तप्रदेशत्वाभावादन्यत्वमनन्यत्वं चेति ॥ ४५ ॥

टीकाः—यह, द्रव्य और गुणोंके स्वोचित अनन्यपनेका कथन है (अर्थात् द्रव्य और गुणोंको कैसा अनन्यपना घटित होता है वह यहां कहा है ।)

द्रव्य और गुणोंको *अविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना स्वीकार किया जाता है; परन्तु विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अन्यपना तथा (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना स्वीकार नहीं किया जाता । वह स्पष्ट समझाया जाता है:—जिसप्रकार एक परमाणुको एक स्वप्रदेशके साथ अविभक्तपना होनेसे अनन्यपना है, उसीप्रकार एक परमाणुको तथा उसमें रहनेवाले स्पर्श–रस–गंध–वर्ण आदि गुणोंको अविभक्त प्रदेश होनेसे (अविभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना है; परन्तु जिसप्रकार अत्यन्त दूर ऐसे [1]सह्य और विंध्यको विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है तथा अत्यन्त निकट ऐसे मिश्रित [2]क्षीरनीरको विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है, उसीप्रकार द्रव्य और गुणोंको विभक्त प्रदेश न होनेसे (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अन्यपना तथा (विभक्तप्रदेशत्वस्वरूप) अनन्यपना नहीं है । ४५ ।

---

* अविभक्त=अभिन्न । (द्रव्य और गुणोंके प्रदेश अभिन्न हैं इसलिये द्रव्य और गुणोंको अभिन्नप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है ।)

१. अत्यन्त दूर स्थित सह्य और विंध्य नामके पर्वतोंको भिन्नप्रदेशत्वस्वरूप अन्यपना है ।

२. अत्यन्त निकट स्थित मिश्रित दूध-जलको भिन्नप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है । द्रव्य और गुणोंको ऐसा अनन्यपना नहीं है, किन्तु अभिन्नप्रदेशत्वस्वरूप अनन्यपना है ।

ववदेसा संठाणा संखा विसया य होंति ते बहुगा ।
ते तेसिमणण्णत्ते अण्णत्ते चावि विज्जंते ।। ४६ ।।

व्यपदेशाः संस्थानानि संख्या विषयाश्च भवंति ते बहुकाः ।
ते तेषामनन्यत्वे अन्यत्वे चापि विद्यंते ।। ४६ ।।

व्यपदेशादीनामेकांतेन द्रव्यगुणान्यत्वनिबंधनत्वमत्र प्रत्याख्यातम् । यथा देवदत्तस्य गौरित्यन्यत्वे षष्ठीव्यपदेशः, तथा वृक्षस्य शाखा द्रव्यस्य गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथा देवदत्तः फलमंकुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटिकायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारकव्यपदेशः, तथा मृत्तिका घटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्यात्मात्मानमात्मनात्मने आत्मन आत्मनि जानातीत्यनन्यत्वेऽपि । यथा प्रांशोर्देवदत्तस्य प्रांशुर्गौरित्यन्यत्वे संस्थानं, तथा प्रांशोर्वृक्षस्य

गाथा ४६

अन्वयार्थः—[व्यपदेशाः] व्यपदेश, [संस्थानानि] संस्थान [संख्याः] संख्याएँ [च] और [विषयाः] विषय [ते बहुकाः भवंति] अनेक होते हैं । [ते] वे (व्यपदेश आदि), [तेषाम्] द्रव्य-गुणोंके [अन्यत्वे] अन्यपनेमें [अनन्यत्वे च अपि] तथा अनन्यपनेमें भी [विद्यंते] हो सकते हैं ।

टीकाः—यहाँ *व्यपदेश आदि एकान्तसे द्रव्य-गुणोंके अन्यपनेका कारण होनेका खंडन किया है ।

जिसप्रकार "देवदत्तकी गाय" इसप्रकार अन्यपनेमें षष्ठीव्यपदेश (—छठवीं विभक्तिका कथन) होता है, उसीप्रकार "वृक्षकी शाखा," "द्रव्यके गुण" ऐसे अनन्यपनेमें भी (षष्ठीव्यपदेश) होता है । जिसप्रकार 'देवदत्त फलको अंकुश द्वारा धनदत्तके लिये वृक्ष परसे बगीचेमें तोड़ता है' ऐसे अन्यपनेमें कारकव्यपदेश होता है, उसीप्रकार 'मिट्टी स्वयं घटभावको (—घड़ारूप परिणामको) अपने द्वारा अपने लिये

---

* व्यपदेश=कथन; अभिधान । (इस गाथामें ऐसा समझाया है कि—जहाँ भेद हो वहीं व्यपदेश आदि घटित हों ऐसा कुछ नहीं है; जहाँ अभेद हो वहाँ भी वे घटित होते हैं । इसलिये द्रव्य-गुणोंमें जो व्यपदेश आदि होते हैं वे कहीं एकान्तसे द्रव्य-गुणोंके भेदको सिद्ध नहीं करते ।)

व्यपदेश ने संस्थान, संख्या, विषय बहु ये होय छे ।
ते तेमना अन्यत्व तेम अनन्यतामां पण घटे ।। ४६ ।।

प्रांशुः शाखाभरो मूर्तद्रव्यस्य मूर्ता गुणा इत्यनन्यत्वेपि । यथैकस्य देवदत्तस्य दश गाव इत्यन्यत्वे संख्या, तथैकस्य वृक्षस्य दश शाखाः एकस्य द्रव्यस्यानंता गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथा गोष्ठे गाव इत्यन्यत्वे विषयः, तथा वृक्षे शाखाः द्रव्ये गुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । ततो न व्यपदेशादयो द्रव्यगुणानां वस्तुत्वेन भेदं साधयंतीति ॥ ४६ ॥

णाणं धणं च कुव्वदि धणिणं जह णाणिणं च दुविधेहिं ।
भण्णंति तह पुधत्तं एयत्तं चावि तच्चण्हू ॥ ४७ ॥

ज्ञानं धनं च करोति धनिनं यथा ज्ञानिनं च द्विविधाभ्याम् ।
भणंति तथा पृथक्त्वमेकत्वं चापि तत्त्वज्ञाः ॥ ४७ ॥

अपनेमेंसे अपनेमें करती है,' 'आत्मा आत्माको आत्मा द्वारा आत्माके लिये आत्मामेंसे आत्मामें जानता है' ऐसे अनन्यपनेमें भी (कारकव्यपदेश) होता है। जिसप्रकार 'ऊँचे देवदत्तकी ऊँची गाय' ऐसा अन्यपनेमें संस्थान होता है, उसीप्रकार 'विशाल वृक्ष का विशाल शाखासमुदाय,' 'मूर्त द्रव्यके मूर्त गुण' ऐसे अनन्यपनेमें भी (संस्थान) होता है। जिसप्रकार 'एक देवदत्तकी दस गायें, ऐसे अन्यपनेमें संख्या होती है, उसीप्रकार 'एक वृक्षकी दस शाखायें' 'एक द्रव्यके अनन्त गुण' ऐसे अनन्यपनेमें भी (संख्या) होती है। जिसप्रकार 'वाड़ेमें गायें' ऐसे अन्यपनेमें विषय (–आधार) होता है उसीप्रकार 'वृक्षमें शाखायें,' 'द्रव्यमें गुण' ऐसे अनन्यपनेमें भी (विषय) होता है। इसलिये (ऐसा समझना चाहिये कि) व्यपदेश आदि, द्रव्य-गुणोंमें वस्तुरूपसे भेद सिद्ध नहीं करते। ४६।

गाथा ४७

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [धनं] धन [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [धनिनं] (पुरुषको) 'धनी' [च] और [ज्ञानिनं] 'ज्ञानी' [करोति] करते हैं— [द्विविधाभ्याम् भणंति] ऐसा दो प्रकारसे कहा जाता है, [तथा] उसीप्रकार [तत्त्वज्ञाः] तत्त्वज्ञ [पृथक्त्वम्] पृथक्त्व [च अपि] तथा [एकत्वम्] एकत्वको कहते हैं।

धनथी 'धनी' ने ज्ञानथी 'ज्ञानी'—द्विधा व्यपदेश छे ।
ते रीत तत्त्वज्ञो कहे एकत्व तेम पृथक्त्वने ॥४७॥

वस्तुत्वभेदाभेदोदाहरणमेतत् । यथा धनं भिन्नास्तित्वनिर्वृत्तं भिन्नास्तित्वनिर्वृत्तस्य, भिन्नसंस्थानं भिन्नसंस्थानस्य, भिन्नसंख्यं भिन्नसंख्यस्य, भिन्नविषयलब्धवृत्तिकं भिन्नविषयलब्धवृत्तिकस्य पुरुषस्य धनीति व्यपदेशं पृथक्त्वप्रकारेण कुरुते, यथा च ज्ञानमभिन्नास्तित्वनिर्वृत्तमभिन्नास्तित्वनिर्वृत्तस्याभिन्नसंस्थानमभिन्नसंस्थानस्याभिन्नसंख्यमभिन्नसंख्यस्याभिन्नविषयलब्धवृत्तिकमभिन्नविषयलब्धवृत्तिकस्य पुरुषस्य ज्ञानीति व्यपदेशमेकत्वप्रकारेण कुरुते; तथान्यत्रापि । यत्र द्रव्यस्य भेदेन व्यपदेशादिः तत्र पृथक्त्वं, यत्राभेदेन तत्रैकत्वमिति ।।४७।।

णाणी णाणं च सदा अत्थंतरिदा दु अण्णमण्णस्स ।
दोण्हं अचेदणत्तं पसजदि सम्मं जिणावमदं ।।४८।।

ज्ञानी ज्ञानं च सदार्थांतरिते त्वन्योऽन्यस्य ।
द्वयोरचेतनत्वं प्रसजति सम्यग् जिनावमतम् ।।४८।।

टीकाः—यह, वस्तुरूपसे भेद और (वस्तुरूपसे) अभेदका उदाहरण है ।

जिसप्रकार (१) भिन्न अस्तित्वसे रचित, (२) भिन्न संस्थानवाला, (३) भिन्न संख्यावाला और (४) भिन्न विषयमें स्थित ऐसा धन (१) भिन्न अस्तित्वसे रचित, (२) भिन्न संस्थानवाले, (३) भिन्न संख्यावाले और (४) भिन्न विषयमें स्थित ऐसे पुरुषको 'धनी' ऐसा व्यपदेश पृथक्त्व प्रकारसे करता है, तथा जिसप्रकार (१) अभिन्न अस्तित्वसे रचित, (२) अभिन्न संस्थानवाला, (३) अभिन्न संख्यावाला और (४) अभिन्न विषयमें स्थित ऐसा ज्ञान (१) अभिन्न अस्तित्वसे रचित, (२) अभिन्न संस्थानवाले, (३) अभिन्न संख्यावाले और (४) अभिन्न विषयमें स्थित ऐसे पुरुषको 'ज्ञानी' ऐसा व्यपदेश एकत्वप्रकारसे करता है, उसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । जहाँ द्रव्यके भेदसे व्यपदेश आदि हों वहाँ पृथक्त्व है, जहाँ (द्रव्यके) अभेदसे (व्यपदेश आदि) हों वहाँ एकत्व है ।४७।

गाथा ४८

अन्वयार्थः—[ज्ञानी] यदि ज्ञानी (—आत्मा) [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [सदा] सदा [अन्योऽन्यस्य] परस्पर [अर्थांतरिते तु] अर्थांतरभूत (भिन्नपदार्थभूत) हों तो [द्वयोः] दोनोंको [अचेतनत्वं प्रसजति] अचेतनपनेका प्रसंग आये—[सम्यग् जिनावमतम्] जो कि जिनोंको सम्यक् प्रकारसे असंमत है ।

जो होय अर्थांतरपणुं अन्योन्य ज्ञानी-ज्ञानने ।
बन्ने अचेतनता लहे—जिनदेवने नहि मान्य जे ।। ४८ ।।

द्रव्यगुणानामर्थांतरभूतत्वे दोषोऽयम् । ज्ञानी ज्ञानाद्यद्यर्थांतरभूतस्तदा स्वकरणांशमंतरेण परशुरहितदेवदत्तवत्करणव्यापारासमर्थत्वादचेतयमानोऽचेतन एव स्यात् । ज्ञानं च यदि ज्ञानिनोऽर्थांतरभूतं तदा तत्कर्त्रंशमंतरेण देवदत्तरहितपरशुवत्तत्कर्तृत्वव्यापारासमर्थत्वादचेतयमानमचेतनमेव स्यात् । न च ज्ञानज्ञानिनोर्युतसिद्धयोस्संयोगेन चेतनत्वं, द्रव्यस्य निर्विशेषस्य गुणानां निराश्रयाणां शून्यत्वादिति ॥ ४८ ॥

टीका:—द्रव्य और गुणोंको अर्थांतरपना हो तो यह (निम्नानुसार) दोष आयेगा।

यदि ज्ञानी (–आत्मा) ज्ञानसे अर्थान्तरभूत हो तो (आत्मा) अपने करण–अंश विना, कुल्हाड़ी रहित देवदत्तकी भाँति *करणका व्यापार करनेमें असमर्थ होनेसे न चेतता (–जानता) हुआ अचेतन ही होगा। और यदि ज्ञान ज्ञानीसे (–आत्मासे) अर्थांतरभूत हो तो ज्ञान अपने कर्तृ-अंशके विना, देवदत्त रहित कुल्हाड़ी की भाँति, अपने [1]कर्ताका व्यापार करनेमें असमर्थ होनेसे न चेतता (–जानता) हुआ अचेतन ही होगा। पुनश्च, [2]युतसिद्ध ऐसे ज्ञान और ज्ञानीको (–ज्ञान और आत्माको) संयोगसे चेतनपना हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि निर्विशेष द्रव्य और निराश्रय गुण शून्य होते हैं। ४८।

---

* करणका व्यापार=साधनका कार्य। [आत्मा कर्ता है और ज्ञान करण है। यदि आत्मा ज्ञानसे भिन्न ही हो तो आत्मा साधनका व्यापार अर्थात् ज्ञानका कार्य करनेमें असमर्थ होनेसे जान नहीं सकेगा इसलिये आत्माको अचेतनत्व आजायेगा।]

१. कर्ताका व्यापार=कर्ताका कार्य। [ज्ञान करण है और आत्मा कर्ता है। यदि ज्ञान आत्मासे भिन्न ही हो तो ज्ञान कर्ताका व्यापार अर्थात् आत्माका कार्य करनेमें असमर्थ होनेसे जान नहीं सकेगा इसलिये ज्ञानको अचेतनपना आ जायेगा।]

२. युतसिद्ध=जुड़कर सिद्ध हुए; समवायसे—संयोगसे सिद्ध हुए। [जिसप्रकार लकड़ी और मनुष्य पृथक् होने पर भी लकड़ीके योगसे मनुष्य 'लकड़ीवाला' होता है उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा पृथक् होने पर भी ज्ञानके साथ युक्त होकर आत्मा 'ज्ञानवाला (–ज्ञानी)' होता है ऐसा भी नहीं है। लकड़ी और मनुष्यकी भाँति ज्ञान और आत्मा कभी पृथक् होंगे ही कैसे ? विशेषरहित द्रव्य हो ही नहीं सकता, इसलिये ज्ञान रहित आत्मा कैसा ? और आश्रय विना गुण हो ही नहीं सकता, इसलिये आत्माके विना ज्ञान कैसा ? इसलिये 'लकड़ी' और 'लकड़ीवाले' की भाँति 'ज्ञान' और 'ज्ञानी' का युतसिद्धपना घटित नहीं होता।]

**ण हि सो समवायादो अत्थंतरिदो दु णाणदो णाणी ।
अण्णाणीत्ति य वयणं एगत्तपसाधगं होदि ॥ ४९ ॥**

न हि सः समवायादार्थंतरितस्तु ज्ञानतो ज्ञानी ।
अज्ञानीति च वचनमेकत्वप्रसाधकं भवति ॥ ४९ ॥

ज्ञानज्ञानिनोः । समवायसंबंधनिरासोऽयम् । न खलुज्ञानादर्थान्तरभूतः पुरुषो ज्ञानसमवायात् ज्ञानी भवतीत्युपपन्नम् । स खलु ज्ञानसमवायात्पूर्वं किं ज्ञानी किमज्ञानी ? यदि ज्ञानी तदा ज्ञानसमवायो निष्फलः । अथाज्ञानी तदा किमज्ञानसमवायात्, किमज्ञानेन सहैकत्वात् ? न तावदज्ञानसमवायात्; अज्ञानिनो ह्यज्ञानसमवायो निष्फलः, ज्ञानित्वं तु

गाथा ४९

अन्वयार्थः—[ज्ञानतः अर्थांतरितः तु] ज्ञानसे अर्थांतरभूत [सः] ऐसा वह (–आत्मा) [समवायात्] समवायसे [ज्ञानी] ज्ञानी होता है [न हि] ऐसा वास्तवमें नहीं है । [अज्ञानी] 'अज्ञानी' [इति च वचनम्] ऐसा वचन [एकत्व-प्रसाधकं भवति] (गुण-गुणीके) एकत्वको सिद्ध करता है ।

टीकाः—यह, ज्ञान और ज्ञानीको समवायसम्बन्ध होनेका निराकरण (खंडन) है ।

ज्ञानसे अर्थांतरभूत आत्मा ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होता है ऐसा मानना वास्तवमें योग्य नहीं है । (आत्माको ज्ञानके समवायसे ज्ञानी होना माना जाये तो हम पूछते हैं कि) वह (–आत्मा) ज्ञानका समवाय होनेसे पहले वास्तवमें ज्ञानी है या अज्ञानी ? यदि ज्ञानी है (ऐसा कहा जाये) तो (ज्ञानका समवाय निष्फल है ।) अब यदि अज्ञानी है (ऐसा कहा जाये) तो (पूछते हैं कि) अज्ञानके समवायसे अज्ञानी है कि अज्ञानके साथ एकत्वसे अज्ञानी है ? प्रथम, अज्ञानके समवायसे अज्ञानी हो नहीं सकता; क्योंकि अज्ञानीको अज्ञानका समवाय निष्फल है और ज्ञानीपना तो ज्ञानके समवायका अभाव होनेसे है ही नहीं । इसलिये 'अज्ञानी' ऐसा वचन अज्ञानके

रे ! जीव ज्ञानविभिन्न नहि समवायथी ज्ञानी बने ।
'अज्ञानी' एवुं वचन ते एकत्वनी सिद्धि करे ॥ ४९ ॥

ज्ञानसमवायाभावान्नास्त्येव । ततोऽज्ञानीति वचनमज्ञानेन सहैकत्वमवश्यं साधयत्येव । सिद्धे चैवमज्ञानेन सहैकत्वे ज्ञानेनापि सहैकत्वमवश्यं सिध्यतीति ॥ ४९ ॥

समवत्ती समवाओ अपुधब्भूदो य अजुदसिद्धो य ।
तम्हा दव्वगुणाणं अजुदा सिद्धि त्ति णिद्दिट्ठा ॥ ५० ॥

समवर्तित्वं समवायः अपृथग्भूतत्वमयुतसिद्धत्वं च ।
तस्माद्द्रव्यगुणानां अयुता सिद्धिरिति निर्दिष्टा ॥ ५० ॥

साथ एकत्वको अवश्य सिद्ध करता ही है । और इसप्रकार अज्ञानके साथ एकत्व सिद्ध होनेसे ज्ञानके साथ भी एकत्व अवश्य सिद्ध होता है ।

भावार्थः—आत्माको और ज्ञानको एकत्व है ऐसा यहाँ युक्तिसे समझाया है ।

प्रश्नः—छद्मस्थदशामें जीवको मात्र अल्पज्ञान ही होता है और केवलीदशामें तो परिपूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान होता है; इसलिये वहाँ तो केवलीभगवानको ज्ञानका समवाय (–केवलज्ञानका संयोग) हुआ न ?

उत्तरः—नहीं, ऐसा नहीं है । जीवको और ज्ञानगुणको सदैव एकत्व है, अभिन्नता है । छद्मस्थदशामें भी उस अभिन्न ज्ञानगुणमें शक्तिरूपसे केवलज्ञान होता है । केवलीदशामें, उस अभिन्न ज्ञानगुणमें शक्तिरूपसे स्थित केवलज्ञान व्यक्त होता है; केवलज्ञान कहीं बाहरसे आकर केवलीभगवानके आत्माके साथ समवायको प्राप्त होता हो ऐसा नहीं है । छद्मस्थदशामें और केवलीदशामें जो ज्ञानका अन्तर दिखाई देता है वह मात्र शक्ति-व्यक्तिरूप अन्तर समझना चाहिये ।

गाथा ५०

अन्वयार्थः—[समवर्तित्वं समवायः] समवर्तीपना वह समवाय है; [अपृथग्भूतत्वम्] वही, अपृथक्पना [च] और [अयुतसिद्धत्वम्] अयुतसिद्धपना है । [तस्मात्] इसलिये [द्रव्यगुणानाम्] द्रव्य और गुणोंकी [अयुता सिद्धिः इति] अयुतसिद्धि [निर्दिष्टा] (जिनोंने) कही है ।

समवर्तिता समवाय छे, अपृथक्त्व ते, अयुतत्त्व ते ।
ते कारणे भाखी अयुतसिद्धि गुणो ने द्रव्यने ॥ ५० ॥

समवायस्य पदार्थान्तरत्वनिरासोऽयम् । द्रव्यगुणानामेकास्तित्वनिर्वृत्तत्वादनादिरनिधना सहवृत्तिर्हि समवर्तित्वम्; स एव समवायो जैनानाम्; तदेव संज्ञादिभ्यो भेदेऽपि वस्तुत्वेनाभेदादपृथग्भूतत्वम्; तदेव युतसिद्धिनिबंधनस्यास्तित्वान्तरस्याभावादयुतसिद्धत्वम् । ततो द्रव्यगुणानां समवर्तित्वलक्षणसमवायभाजामयुतसिद्धिरेव, न पृथग्भूतत्वमिति ।।५०।।

वण्णरसगंधफासा परमाणुपरूविदा विसेसेहिं ।
दव्वादो य अणण्णा अण्णत्तपगासगा होंति ।।५१।।
दंसणणाणाणि तहा जीवणिबद्धाणि णण्णभूदाणि ।
ववदेसदो पुधत्तं कुव्वंति हि णो सभावादो ।।५२।।

टीकाः—यह, समवायमें पदार्थांतरपना होनेका निराकरण (खंडन) है ।

द्रव्य और गुण एक अस्तित्वसे रचित हैं इसलिये उनकी जो अनादिअनंत सहवृत्ति (–एकसाथ रहना) वह वास्तवमें समवर्तीपना है; वही, जैनोंके मतमें समवाय है; वही, संज्ञादि भेद होने पर भी (–द्रव्य और गुणोंको संज्ञालक्षण-प्रयोजन आदिकी अपेक्षासे भेद होने पर भी) वस्तुरूपसे अभेद होनेसे अपृथक्‌पना है; वही, युतसिद्धिके कारणभूत [1]अस्तित्वांतरका अभाव होनेसे अयुतसिद्धपना है । इसलिये [2]समवर्तित्वस्वरूप समवायवाले द्रव्य और गुणोंको अयुतसिद्धि ही है, पृथक्‌पना नहीं है । ५० ।

---

१. अस्तित्वांतर=भिन्न अस्तित्व । [युतसिद्धिका कारण भिन्न-भिन्न अस्तित्व हैं । लकड़ी और लकड़ीवालेकी भाँति गुण और द्रव्यके अस्तित्व कभी भिन्न न होनेसे उन्हें युतसिद्धपना नहीं हो सकता ।]

२. समवायका स्वरूप समवर्तीपना अर्थात् अनादि-अनन्त सहवृत्ति है । द्रव्य और गुणोंको ऐसा समवाय (अनादि- अनंत तादात्म्यमय सहवृत्ति) होनेसे उन्हें अयुतसिद्धि है, कभी भी पृथक्‌पना नहीं है ।

परमाणुमां प्ररूपित वरण, रस, गंध तेम ज स्पर्श जे ।
अणुथी अभिन्न रही विशेष वडे प्रकाशे भेदने ।।५१।।
त्यम ज्ञानदर्शन जीवनियत अनन्य रहीने जीवथी ।
अन्यत्वना कर्ता बने व्यपदेशथी—न स्वभावथी ।।५२।।

वर्णरसगंधस्पर्शाः परमाणुप्ररूपिता विशेषैः ।
द्रव्याच्च अनन्याः अन्यत्वप्रकाशका भवन्ति ॥५१॥
दर्शनज्ञाने तथा जीवनिबद्धे अनन्यभूते ।
व्यपदेशतः पृथक्त्वं कुरुतः हि नो स्वभावात् ॥५२॥

दृष्टांतदार्ष्टान्तिकार्थपुरस्सरो द्रव्यगुणानामनर्थांतरत्वव्याख्योपसंहारोऽयम् । वर्णरसगंधस्पर्शा हि परमाणोः प्ररूप्यंते; ते च परमाणोरविभक्तप्रदेशत्वेनानन्येऽपि संज्ञादिव्यपदेशनिबंधनैर्विशेषैरन्यत्वं प्रकाशयन्ति । एवं ज्ञानदर्शने अप्यात्मनि संबद्धे आत्मद्रव्यादविभक्तप्रदेशत्वेनानन्येऽपि संज्ञादिव्यपदेशनिबंधनैर्विशेषैः पृथक्त्वमासादयतः स्वभावतस्तु नित्यमपृथक्त्वमेव बिभ्रतः ॥ ५१-५२ ॥

गाथा ५१-५२

अन्वयार्थः—[परमाणुप्ररूपिताः] परमाणुमें प्ररूपित किये जानेवाले ऐसे [वर्णरसगंधस्पर्शाः] वर्ण-रस-गंध-स्पर्श [द्रव्यात् अनन्याः च] द्रव्यसे अनन्य वर्तते हुए [विशेषैः] (व्यपदेशके कारणभूत) विशेषों द्वारा [अन्यत्वप्रकाशकाः भवन्ति] अन्यत्वको प्रकाशित करनेवाले होते हैं (—स्वभावसे अन्य रूप नहीं हैं); [तथा] इसप्रकार [जीवनिबद्धे] जीवमें सम्बद्ध ऐसे [दर्शनज्ञाने] दर्शन-ज्ञान [अनन्यभूते] (जीवद्रव्यसे) अनन्य वर्तते हुए [व्यपदेशतः] व्यपदेश द्वारा [पृथक्त्वं कुरुतः हि] पृथक्त्वको करते हैं, [नो स्वभावात्] स्वभावसे नहीं ।

टीकाः—दृष्टान्तरूप और *दार्ष्टान्तरूप पदार्थपूर्वक, द्रव्य तथा गुणोंके अभिन्नपदार्थपनेके व्याख्यानका यह उपसंहार है ।

वर्ण-रस-गंध-स्पर्श वास्तवमें परमाणुमें प्ररूपित किये जाते हैं; वे परमाणुसे अभिन्न प्रदेशवाले होनेके कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादि व्यपदेशके कारणभूत विशेषों द्वारा अन्यत्वको प्रकाशित करते हैं । इसप्रकार आत्मामें सम्बद्ध ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्यसे अभिन्न प्रदेशवाले होनेके कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादि व्यपदेशके कारणभूत विशेषों द्वारा पृथक्पनेको प्राप्त होते हैं, परन्तु स्वभावसे सदैव अपृथक्पनेको ही धारण करते हैं । ५१-५२ ।

---

* दार्ष्टान्त=दृष्टान्त द्वारा समझाना हो वह बात; उपमेय । (यहाँ परमाणु और वर्णादिक दृष्टान्तरूप पदार्थ हैं तथा जीव और ज्ञानादिक दार्ष्टांतरूप पदार्थ हैं ।)

—इति उपयोगगुणव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ कर्तृत्वगुणव्याख्यानम् । तत्रादिगाथात्रयेण तदुपोद्घातः—

जीवा अणाइणिहणा संता णंता य जीवभावादो ।
सब्भावदो अणंता पंचग्गगुणप्पधाणा य ।। ५३ ।।

जीवा अनादिनिधनाः सांता अनंताश्च जीवभावात् ।
सद्भावतोऽनंताः पञ्चाग्रगुणप्रधानाः च ।। ५३ ।।

जीवा हि निश्चयेन परभावानामकरणात्स्वभावानां कर्तारो भविष्यन्ति । तांश्च कुर्वाणाः किमनादिनिधनाः, किं सादिसनिधनाः, किं साद्यनिधनाः, किं तदाकारेण परिणताः, किमपरिणताः भविष्यंतीत्याशंक्येदमुक्तम् । जीवा हि सहजचैतन्यलक्षणपारिणामिकभावेनानादिनिधनाः । त एवौदयिकक्षायोपशमिकौपशमिकभावैः सादिसनिधनाः । त एव क्षायिकभावेन-

---

—इसप्रकार उपयोगगुणका व्याख्यान समाप्त हुआ । अब कर्तृत्वगुणका व्याख्यान है । उसमें, प्रारम्भकी तीन गाथाओंसे उसका उपोद्घात किया जाता है ।

गाथा ५३

अन्वयार्थः—[जीवाः] जीवों [अनादिनिधनाः] (पारिणामिकभावसे) अनादि-अनन्त हैं, [सांताः] (तीन भावोंसे) सांत (अर्थात् सादि-सांत) हैं, [च] और [जीवभावात् अनन्ताः] जीवभावसे अनन्त हैं (अर्थात् जीवके सद्भावरूप क्षायिकभावसे सादि-अनन्त हैं) [सद्भावतः अनंताः] क्योंकि सद्भावसे जीव अनन्त ही होते हैं । [पंचाग्रगुणप्रधानाः च] वे पाँच मुख्य गुणोंसे प्रधानतावाले हैं ।

टीकाः—निश्चयसे पर-भावोंका कर्तृत्व न होनेसे जीव स्व-भावोंके कर्ता होते हैं; और उन्हें (–अपने भावोंको) करते हुए, क्या वे अनादि-अनंत हैं ? क्या सादि-सान्त हैं ? क्या सादि-अनन्त हैं ? क्या तदाकाररूप (उस-रूप) परिणत हैं ? क्या (तदाकाररूप) अपरिणत हैं ?—ऐसी आशंका करके यह कहा गया है (अर्थात् उन आशंकाओंके समाधानरूपसे यह गाथा कही गई है) ।

जीवो अनादि–अनंत, सांत, अनंत छे जीवभावथी ।
सद्भावथी नहि अंत होय; प्रधानता गुण पांचथी ।। ५३ ।।

साद्यनिधनाः। न च सादित्वात्सनिधनत्वं क्षायिकभावस्याशंक्यम्। स खलूपाधिनिवृत्तौ प्रवर्तमानः सिद्धभाव इव सद्भाव एव जीवस्य; सद्भावेन चानंता एव जीवाः प्रतिज्ञायंते। न च तेषामनादिनिधनसहजचैतन्यलक्षणैकभावानां सादिसनिधनानि साद्यनिधनानि भावांतराणि नोपपद्यंत इति वक्तव्यम्; ते खल्वनादिकर्ममलीमसाः पंकसंपृक्ततोयवत्तदाकारेण परिणतत्वात्पञ्चप्रधानगुणप्रधानत्वेनैवानुभूयंत इति ॥ ५३ ॥

जीव वास्तवमें *सहजचैतन्यलक्षण पारिणामिक भावसे अनादि-अनंत हैं। वे ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावोंसे सादि-सान्त हैं। वे ही क्षायिक भावसे सादि-अनन्त हैं।

'क्षायिक भाव सादि होनेसे वह सांत होगा'—ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है। (कारण इसप्रकार है:—) वह वास्तवमें उपाधिकी निवृत्ति होने पर प्रवर्तता हुआ, सिद्धभावकी भाँति, जीवका सद्भाव ही है (अर्थात् कर्मोपाधिके क्षयरूपसे प्रवर्तता है इसलिये क्षायिक भाव जीवका सद्भाव ही है); और सद्भावसे तो जीव अनन्त ही स्वीकार किये जाते हैं। (इसलिये क्षायिकभावसे जीव अनन्त ही अर्थात् विनाशरहित ही हैं।)

पुनश्च, 'अनादि-अनन्त सहजचैतन्यलक्षण एक भाववाले उन्हें सादि-सांत और सादि-अनंत भावान्तर घटित नहीं होते (अर्थात् जीवोंको एक पारिणामिक भावके अतिरिक्त अन्य भाव घटित नहीं होते)' ऐसा कहना योग्य नहीं है; (क्योंकि) वे वास्तवमें अनादि कर्मसे मलिन वर्तते हुए [1]कादवसे संपृक्त जलकी भाँति तदाकाररूप परिणत होनेके कारण, पाँच प्रधान [2]गुणोंसे प्रधानतावाले ही अनुभवमें आते हैं। ५३।

---

* जीवके पारिणामिक भावका लक्षण अर्थात् स्वरूप सहज-चैतन्य है। यह पारिणामिक भाव अनादि-अनन्त होनेसे इस भावकी अपेक्षासे जीव अनादि-अनन्त है।

१. कादवसे संपृक्त=कादवका सम्पर्क प्राप्त; कादवके संसर्गवाला। (यद्यपि जीव द्रव्यस्वभावसे शुद्ध है तथापि व्यवहारसे अनादि कर्मबन्धनके वश, कादववाले जलकी भाँति, औदयिक आदि भावरूप परिणत है।)

२. औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक—इन पांच भावोंको जीवके पाँच प्रधान गुण कहा गया है।

एवं सदो विणासो असदो जीवस्स हवदि उप्पादो।
इदि जिणवरेहिं भणिदं अण्णोण्णविरुद्धमविरुद्धं ॥ ५४ ॥

एवं सतो विनाशोऽसतो जीवस्य भवत्युत्पादः।
इति जिनवरैर्भणितमन्योऽन्यविरुद्धमविरुद्धम् ॥ ५४ ॥

जीवस्य भाववशात्सादिसनिधनत्वेऽ*नाद्यनिधनत्वे च विरोधपरिहारोऽयम्। एवं हि पंचभिर्भावैः स्वयं परिणममानस्यास्य जीवस्य कदाचिदौदयिकेनैकेन मनुष्यत्वादिलक्षणेन भावेन सतो विनाशस्तथापरेणौदयिकेनैव देवत्वादिलक्षणेन भावेन असत उत्पादो भवत्येव।

गाथा ५४

अन्वयार्थः—[एवं] इसप्रकार [जीवस्य] जीवको [सतः विनाशः] सत्‌का विनाश और [असतः उत्पादः] असत्‌का उत्पाद [भवति] होता है—[इति] ऐसा [जिनवरैः भणितम्] जिनवरोंने कहा है, [अन्योन्यविरुद्धम्] जो कि अन्योन्य विरुद्ध (१९ वीं गाथाके कथनके साथ विरोधवाला) तथापि [अविरुद्धम्] अविरुद्ध है।

टीकाः—यह, जीवको भाववशात् (औदयिक आदि भावोंके कारण) सादि-सांतपना और अनादि-अनंतपना होनेमें विरोधका परिहार है।

इसप्रकार वास्तवमें पांच भावरूपसे स्वयं परिणमित होनेवाले इस जीवको कदाचित् औदयिक ऐसे एक मनुष्यत्वादिस्वरूप भावकी अपेक्षासे सत्‌का विनाश और औदयिक ही ऐसे दूसरे देवत्वादिस्वरूप भावकी अपेक्षासे असत्‌का उत्पाद होता ही है। और यह (कथन) 'सत्‌का विनाश नहीं है तथा असत्‌का उत्पाद नहीं है' ऐसे पूर्वोक्त सूत्रके (१९ वीं गाथाके) साथ विरोधवाला होने पर भी (वास्तवमें) विरोधवाला नहीं है; क्योंकि जीवको द्रव्यार्थिकनयके कथनसे सत्‌का नाश नहीं है और असत्‌का उत्पाद नहीं है तथा उसीको पर्यायार्थिकनयके कथनसे सत्‌का नाश है और असत्‌का उत्पाद है। और यह [1]अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि नित्य ऐसे जलमें कल्लोलोंका अनित्यपना दिखाई देता है।

---

* यहाँ 'सादि'के बदले 'अनादि' होना चाहिये ऐसा लगता है; इसलिये गुजरातीमें 'अनादि' ऐसा अनुवाद किया है।

१. अनुपपन्न=अयुक्त; असंगत; अघटित; न हो सके ऐसा।

अे रीत सत्-व्यय ने असत्-उत्पाद जीवने होय छे।
—भाख्युं जिने, जे पूर्व-अपर विरुद्धपण अविरुद्ध छे ॥ ५४ ॥

एतच्च 'न सतो विनाशो नासत उत्पाद' इति पूर्वोक्तसूत्रेण सह विरुद्धमपि न विरुद्धम्; यतो जीवस्य द्रव्यार्थिकनयादेशेन न सत्प्रणाशो नासदुत्पादः, तस्यैव पर्यायार्थिकनयादेशेन सत्प्रणाशोऽसदुत्पादश्च । न चैतदनुपपन्नम्, नित्ये जले कल्लोलानामनित्यत्व-दर्शनादिति ॥ ५४ ॥

णेरइयतिरियमणुया देवा इदि णामसंजुदा पयडी ।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥ ५५ ॥

नारकतिर्यङ्मनुष्या देवा इति नामसंयुताः प्रकृतयः ।
कुर्वन्ति सतो नाशमसतो भावस्योत्पादम् ॥ ५५ ॥

भावार्थः—५३ वीं गाथामें जीवको सादि-सांतपना तथा अनादि-अनन्तपना कहा गया है। वहाँ प्रश्न संभव है कि—सादि-सांतपना और अनादि-अनन्तपना परस्पर विरुद्ध हैं; परस्पर विरुद्ध भाव एकसाथ जीवको कैसे घटित होते हैं ? उसका समाधान इसप्रकार है : जीव द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु है। उसे सादि-सांतपना और अनादि-अनन्तपना दोनों एक ही अपेक्षासे नहीं कहे गये हैं, भिन्न-भिन्न अपेक्षासे कहे गये हैं; सादि-सांतपना कहा गया है वह पर्याय-अपेक्षासे है और अनादि-अनंतपना द्रव्य-अपेक्षा से है। इसलिये इसप्रकार जीवको सादि-सांतपना तथा अनादि-अनन्तपना एक साथ बराबर घटित होता है।

(यहाँ यद्यपि जीवको अनादि-अनंत तथा सादि-सांत कहा गया है, तथापि ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये कि पर्यायार्थिकनयके विषयभूत सादि-सांत जीवका आश्रय करने योग्य नहीं है किन्तु द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत ऐसा जो अनादि-अनंत, टंकोत्कीर्णज्ञायकस्वभावी, निर्विकार, नित्यानन्दस्वरूप जीवद्रव्य उसीका आश्रय करनेयोग्य है।) ५४।

गाथा ५५

अन्वयार्थः—[नारकतिर्यङ्मनुष्याः देवाः] नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव [इति नामसंयुताः] ऐसे नामोंवाली [प्रकृतयः] (नामकर्मकी) प्रकृतियाँ [सतः नाशम्] सत् भावका नाश और [असतः भावस्य उत्पादम्] असत् भावका उत्पाद [कुर्वन्ति] करती हैं।

तिर्यंच-नारक-देव-मानव नामनी छे प्रकृति जे।
ते व्यय करे सत् भावनो, उत्पाद असत् तणो करे ॥ ५५ ॥

जीवस्य सदसद्भावोच्छित्त्युत्पत्तिनिमित्तोपाधिप्रतिपादनमेतत् । यथा हि जलराशेर्जलराशित्वेनासदुत्पादं सदुच्छेदं चाननुभवतश्चतुर्भ्यः ककुब्विभागेभ्यः क्रमेण वहमानाः पवमानाः कल्लोलानामसदुत्पादं सदुच्छेदं च कुर्वन्ति, तथा जीवस्यापि जीवत्वेन सदुच्छेदमसदुत्पत्तिं चाननुभवतः क्रमेणोदीयमानाः नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवनामप्रकृतयः सदुच्छेदमसदुत्पादं च कुर्वंतीति ॥ ५५ ॥

उदयेण उवसमेण य खएण दुहिं मिस्सिदेहिं परिणामे ।
जुत्ता ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा ॥ ५६ ॥

उदयेनोपशमेन च क्षयेण द्वाभ्यां मिश्रिताभ्यां परिणामेन ।
युक्तास्ते जीवगुणा बहुषु चार्थेषु विस्तीर्णाः ॥ ५६ ॥

टीकाः—जीवको सत् भावके उच्छेद और असत् भावके उत्पादमें निमित्तभूत उपाधिका यह प्रतिपादन है ।

जिसप्रकार समुद्ररूपसे असत्के उत्पाद और सत्के उच्छेदका अनुभव न करनेवाले ऐसे समुद्रको चारों दिशाओंमेंसे क्रमशः वहती हुई हवाएँ कल्लोलोंसम्बन्धी असत्का उत्पाद और सत्का उच्छेद करती हैं । (अर्थात् अविद्यमान तरंगके उत्पादमें तथा विद्यमान तरंगके नाशमें निमित्त बनती हैं), उसी प्रकार जीवरूपसे सत्के उच्छेद तथा असत्के उत्पादका अनुभव न करनेवाले ऐसे जीवको क्रमशः उदयको प्राप्त होनेवाली नारक-तिर्यंच-मनुष्य-देव नामकी (नामकर्मकी) प्रकृतियाँ (भावोंसम्बन्धी, पर्यायोंसम्बन्धी) सत्का उच्छेद तथा असत्का उत्पाद करती हैं (अर्थात् विद्यमान पर्यायके नाशमें और अविद्यमान पर्यायके उत्पादमें निमित्त बनती हैं) । ५५ ।

गाथा ५६

अन्वयार्थः—[उदयेन] उदयसे युक्त, [उपशमेन] उपशमसे युक्त, [क्षयेण] क्षयसे युक्त, [द्वाभ्यां मिश्रिताभ्यां] क्षयोपशमसे युक्त [च] और [परिणामेन युक्ताः] परिणामसे युक्त—[ते] ऐसे [जीवगुणाः] (पांच) जीवगुण (—जीवके भाव) हैं; [च] और [बहुषु अर्थेषु विस्तीर्णाः] उन्हें अनेक प्रकारोंमें विस्तृत किया जाता है ।

परिणाम, उदय, क्षयोपशम, उपशम, क्षये संयुक्त जे ।
ते पांच जीवगुण जाणवा; बहु भेदमां विस्तीर्ण छे ॥ ५६ ॥

जीवस्य भावोदयवर्णनमेतत् । कर्मणां फलदानसमर्थतयोद्भूतिरुदयः, अनुद्भूतिरुपशमः, उद्भूत्यनुद्भूती क्षयोपशमः, अत्यंतविश्लेषः क्षयः, द्रव्यात्मलाभहेतुकः परिणामः । तत्रोदयेन युक्त औदयिकः, उपशमेन युक्त औपशमिकः, क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः, क्षयेण युक्तः क्षायिकः, परिणामेन युक्तः पारिणामिकः । त एते पञ्च जीवगुणाः । तत्रोपाधिचतुर्विधत्वनिबंधनाश्चत्वारः, स्वभावनिबंधन एकः । एते चोपाधिभेदात्स्वरूपभेदाच्च भिद्यमाना बहुष्वर्थेषु विस्तार्यंत इति ।। ५६ ।।

टीकाः—जीवको भावोंके उदयका (–पांच भावोंकी प्रगटताका) यह वर्णन है ।

कर्मोंका [1]फलदानसमर्थरूपसे उद्भव सो 'उदय' है, अनुद्भव सो 'उपशम' है, उद्भव तथा अनुद्भव सो 'क्षयोपशम' है, [2]अत्यन्त विश्लेष सो 'क्षय' है, द्रव्यका [3]आत्मलाभ (अस्तित्व) जिसका हेतु है वह 'परिणाम' है । वहाँ उदयसे युक्त वह 'औदयिक' है, उपशमसे युक्त वह 'औपशमिक' है, क्षयोपशमसे युक्त वह 'क्षायोपशमिक' है, [4]क्षयसे युक्त वह 'क्षायिक' है, [5]परिणामसे युक्त वह 'पारिणामिक' है ।—ऐसे यह पाँच जीवगुण हैं । उनमें (–इन पांच गुणोंमें) [6]उपाधिका चतुर्विधपना जिनका कारण (निमित्त) है ऐसे चार हैं, स्वभाव जिसका कारण है ऐसा एक है । उपाधिके भेदसे और स्वरूपके भेदसे भेद करने पर, उन्हें अनेक प्रकारोंमें विस्तृत किया जाता है । ५६ ।

---

१. फलदानसमर्थ=फल देनेमें समर्थ ।

२. अत्यन्त विश्लेष=अत्यंत वियोग; आत्यंतिक निवृत्ति ।

३. आत्मलाभ=स्वरूपप्राप्ति; स्वरूपको धारण कर रखना; अपनेको धारण कर रखना; अस्तित्व । (द्रव्य अपनेको धारण कर रखता है अर्थात् स्वयं बना रहता है इसलिये उसे 'परिणाम' है ।)

४. क्षयसे युक्त=क्षय सहित; क्षयके साथ सम्बन्धवाला । (व्यवहारसे कर्मोंके क्षयकी अपेक्षा जीवके जिस भावमें आये वह 'क्षायिक' भाव है ।)

५. परिणामसे युक्त=परिणाममय; परिणामात्मक; परिणामस्वरूप ।

६. कर्मोपाधिकी चार प्रकारकी दशा (–उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय) जिनका निमित्त है ऐसे चार भाव हैं; जिनमें कर्मोपाधिरूप निमित्त बिलकुल नहीं है, मात्र द्रव्यस्वभाव ही जिसका कारण है ऐसा एक पारिणामिक भाव है ।

कम्मं वेदयमाणो जीवो भावं करेदि जारिसयं ।
सो तस्स तेण कत्ता हवदि त्ति य सासणे पढिदं ॥५७॥

कर्म वेदयमानो जीवो भावं करोति यादृशकम् ।
स तस्य तेन कर्ता भवतीति च शासने पठितम् ॥ ५७ ॥

जीवस्यौदयिकादिभावानां कर्तृत्वप्रकारोक्तिरियम् । जीवेन हि द्रव्यकर्म व्यवहार-नयेनानुभूयते; तच्चानुभूयमानं जीवभावानां निमित्तमात्रमुपवर्ण्यते । तस्मिन्निमित्तमात्रभूते जीवेन कर्तृभूतेनात्मनः कर्मभूतो भावः क्रियते । अमुना यो येन प्रकारेण जीवेन भावः क्रियते, स जीवस्तस्य भावस्य तेन प्रकारेण कर्ता भवतीति ॥ ५७ ॥

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ॥ ५८ ॥

गाथा ५७

अन्वयार्थः—[कर्म वेदयमानः] कर्मको वेदता हुआ [जीवः] जीव [यादृशकम् भावं] जैसे भावको [करोति] करता है, [तस्य] उस भावका [तेन] उस प्रकारसे [सः] वह [कर्ता भवति] कर्ता है—[इति च] ऐसा [शासने पठितम्] शासनमें कहा है ।

टीकाः—यह, जीवके औदयिकादि भावोंके कर्तृत्वप्रकारका कथन है ।

जीव द्वारा द्रव्यकर्म व्यवहारनयसे अनुभवमें आता है; और वह अनुभवमें आता हुआ जीवभावोंका निमित्तमात्र कहलाता है । वह (द्रव्यकर्म) निमित्तमात्र होनेसे, जीव द्वारा कर्तारूपसे अपना कर्मरूप (कार्यरूप) भाव किया जाता है । इसलिये जो भाव जिस प्रकारसे जीव द्वारा किया जाता है, उस भावका उस प्रकारसे वह जीव कर्ता है । ५७ ।

पुद्गलकरमने वेदतां आत्मा करे जे भावने ।
ते भावनो ते जीव छे कर्ता—कह्युं जिनशासने ॥ ५७ ॥
पुद्गलकरम विण जीवने उपशम, उदय, क्षायिक अने ।
क्षायोपशमिक न होय, तेथी कर्मकृत ए भाव छे ॥ ५८ ॥

कर्मणा विनोदयो जीवस्य न विद्यत उपशमो वा।
क्षायिकः क्षायोपशमिकस्तस्माद्भावस्तु कर्मकृतः ॥ ५८ ॥

द्रव्यकर्मणां निमित्तमात्रत्वेनौदयिकादिभावकर्तृत्वमत्रोक्तम् । न खलु कर्मणा विना जीवस्योदयोपशमौ क्षयक्षायोपशमावपि विद्येते; ततः क्षायिकक्षायोपशमिकश्चौदयिकौपशमिकश्च भावः कर्मकृतोऽनुमंतव्यः । पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधिः स्वाभाविक एव । क्षायिकस्तु स्वभावव्यक्तिरूपत्वादनंतोऽपि कर्मणः क्षयेणोत्पद्यमान-

---

गाथा ५८

अन्वयार्थः—[कर्मणा विना] कर्म विना [जीवस्य] जीवको [उदयः] उदय, [उपशमः] उपशम, [क्षायिकः] क्षायिक [वा] अथवा [क्षायोपशमिकः] क्षायोपशमिक [न विद्यते] नहीं होता, [तस्मात् तु] इसलिये [भावः] भाव (–चतुर्विध जीवभाव) [कर्मकृतः] कर्मकृत हैं।

टीकाः—यहाँ, (औदयिकादि भावोंके) निमित्तमात्र रूपसे द्रव्यकर्मोंको औदयिकादि भावोंका कर्तापना कहा है।

(एक प्रकारसे व्याख्या करने पर—) कर्मके विना जीवको उदय–उपशम तथा क्षय–क्षयोपशम नहीं होते (अर्थात् द्रव्यकर्मके विना जीवको औदयिकादि चार भाव नहीं होते); इसलिये क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक या औपशमिक भावोंको कर्मकृत संमत करना। पारिणामिक भाव तो अनादि-अनंत, *निरुपाधि, स्वाभाविक ही है। (औदयिक और क्षायोपशमिक भाव कर्मके विना नहीं होते इसलिये कर्मकृत कहे जा सकते हैं—यह बात तो स्पष्ट समझमें आ सकती है; क्षायिक और औपशमिक भावोंके सम्बन्धमें निम्नोक्तानुसार स्पष्टता की जाती है:) क्षायिक भाव, यद्यपि स्वभाव की व्यक्तिरूप (–प्रगटतारूप) होनेसे अनंत (अंत रहित) है तथापि, कर्मक्षय द्वारा उत्पन्न होनेके कारण सादि है इसलिये कर्मकृत ही कहा गया है। औपशमिक भाव

---

* निरुपाधि=उपाधि रहित; औपाधिक न हो ऐसा। (जीवका पारिणामिक भाव सर्व कर्मोपाधिसे निरपेक्ष होनेके कारण निरुपाधि है।)

त्वात्सादिरिति कर्मकृत एवोक्तः। औपशमिकस्तु कर्मणामुपशमे समुत्पद्यमानत्वादनुपशमे समुच्छिद्यमानत्वात् कर्मकृत एवेति।

अथवा उदयोपशमक्षयक्षयोपशमलक्षणाश्चतस्रो द्रव्यकर्मणामेवावस्थाः, न पुनः परिणामलक्षणैकावस्थस्य जीवस्य; तत उदयादिसंजातानामात्मनो भावानां निमित्तमात्रभूततथाविधावस्थत्वेन स्वयं परिणमनाद्द्रव्यकर्मापि व्यवहारनयेनात्मनो भावानां कर्तृत्वमापद्यत इति ॥ ५८ ॥

भावो जदि कम्मकदो अत्ता कम्मस्स होदि किध कत्ता।
ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं भावं ॥ ५६ ॥

भावो यदि कर्मकृत आत्मा कर्मणो भवति कथं कर्ता।
न करोत्यात्मा किंचिदपि मुक्त्वान्यत् स्वकं भावम् ॥ ५९ ॥

कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेके कारण तथा अनुपशमसे नष्ट होनेके कारण कर्मकृत ही हैं। (इसप्रकार औदयिकादि चार भावोंको कर्मकृत संमत करना।)

अथवा (दूसरे प्रकारसे व्याख्या करने पर)—उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमस्वरूप चार (अवस्थाएँ) द्रव्यकर्मकी ही अवस्थाएँ हैं, परिणामस्वरूप एक अवस्थावाले जीवकी नहीं हैं (अर्थात् उदय आदि अवस्थाएँ द्रव्यकर्मकी ही हैं, 'परिणाम' जिसका स्वरूप है ऐसी एक अवस्थारूपसे अवस्थित जीवकी—पारिणामिक भावरूप स्थित जीवकी—वे चार अवस्थाएँ नहीं हैं); इसलिये उदयादिक द्वारा उत्पन्न होनेवाले आत्माके भावोंको निमित्तमात्रभूत ऐसी उसप्रकारकी अवस्थाओंरूप (द्रव्यकर्म) स्वयं परिणमित होनेके कारण द्रव्यकर्म भी व्यवहारनयसे आत्माके भावोंके कर्तृत्वको प्राप्त होता है। ५८।

गाथा ५९

अन्वयार्थः—[यदि भावः कर्मकृतः] यदि भाव (—जीवभाव) कर्मकृत हों तो [आत्मा कर्मणः कर्ता भवति] आत्मा कर्मका (—द्रव्यकर्मका) कर्ता होना चाहिये। [कथं] वह तो कैसे हो सकता है? [आत्मा] क्योंकि आत्मा तो [स्वकं भावं मुक्त्वा] अपने भावको छोड़कर [अन्यत् किंचित् अपि] अन्य कुछ भी [न करोति] नहीं करता।

जो भावकर्त्ता कर्म, तो शुं कर्मकर्त्ता जीव छे ?
जीव तो कदी करतो नथी निज भाव विण कंई अन्य ने ॥५९॥

जीवभावस्य कर्मकर्तृत्वे पूर्वपक्षोऽयम् । यदि खल्वौदयिकादिरूपो जीवस्य भावः कर्मणा क्रियते, तदा जीवस्तस्य कर्ता न भवति । न च जीवास्याकर्तृत्वमिष्यते । ततः पारिशेष्येण द्रव्यकर्मणः कर्तापद्यते । तत्तु कथम् ? यतो निश्चयनयेनात्मा स्वं भावमुज्झित्वा नान्यत्किमपि करोतीति ।। ५९ ।।

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं हवदि ।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ।।६०।।

भावः कर्मनिमित्तः कर्म पुनर्भावकारणं भवति ।
न तु तेषां खलु कर्ता न विना भूतास्तु कर्तारम् ।। ६० ।।

टीकाः—कर्मको जीवभावका कर्तृत्व होनेके सम्बन्धमें यह *पूर्वपक्ष है ।

यदि औदयिकादिरूप जीवका भाव कर्म द्वारा किया जाता हो, तो जीव उसका (–औदयिकादिरूप जीवभावका) कर्ता नहीं है ऐसा सिद्ध होता है । और जीव का अकर्तृत्व तो इष्ट (–मान्य) नहीं है । इसलिये, शेष यह रहा कि जीव द्रव्यकर्मका कर्ता होना चाहिये । लेकिन वह तो कैसे हो सकता है ? क्योंकि निश्चयनयसे आत्मा अपने भावको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता ।

(इसप्रकार पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया ।) । ५९ ।

गाथा ६०

अन्वयार्थः—[भावः कर्मनिमित्तः] जीवभावका कर्म निमित्त है [पुनः] और [कर्म भावकारणं भवति] कर्मका जीवभाव निमित्त है, [न तु तेषां खलु कर्ता] परन्तु वास्तवमें एक–दूसरेके कर्ता नहीं हैं; [न तु कर्तारम् विना भूताः] कर्ताके बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है ।

---

* पूर्वपक्ष=चर्चा या निर्णयके लिये किसी शास्त्रीय विषयके सम्बन्धमें उपस्थित किया हुआ पक्ष या प्रश्न ।

रे ! भाव कर्मनिमित्त छे ने कर्म भावनिमित्त छे ।
अन्योन्य नहि कर्ता खरे, कर्ता विना नहि थाय छे ।।६०।।

पूर्वसूत्रोदितपूर्वपक्षसिद्धांतोऽयम् । व्यवहारेण निमित्तमात्रत्वाज्जीवभावस्य कर्म कर्तृ, कर्मणोऽपि जीवभावः कर्ता; निश्चयेन तु न जीवभावानां कर्म कर्तृ, न कर्मणो जीवभावः । न च ते कर्तारमंतरेण संभूयेते; यतो निश्चयेन जीवपरिणामानां जीवः कर्ता कर्मपरिणामानां कर्म कर्तृ इति ॥ ६० ॥

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेदव्वं ॥६१॥

कुर्वन् स्वकं स्वभावं आत्मा कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
न हि पुद्गलकर्मणामिति जिनवचनं ज्ञातव्यम् ॥ ६१ ॥

टीकाः—यह, पूर्व सूत्रमें (५९ वीं गाथामें) कहे हुए पूर्वपक्षके समाधानरूप सिद्धांत है ।

व्यवहारसे निमित्तमात्रपनेके कारण जीवभावका कर्म कर्ता है (—औदयिकादि जीवभावका कर्ता द्रव्यकर्म है), कर्मका भी जीवभाव कर्ता है; निश्चयसे तो जीव-भावोंका न तो कर्म कर्ता है और न कर्मका जीवभाव कर्ता है । वे (जीवभाव और द्रव्यकर्म) कर्ताके बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि निश्चयसे जीवपरिणामोंका जीव कर्ता है और कर्म परिणामोंका कर्म (—पुद्गल) कर्ता है । ६० ।

गाथा ६१

अन्वयार्थः—[स्वकं स्वभावं] अपने *स्वभावको [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तवमें [स्वकस्य भावस्य] अपने भावका [कर्ता] कर्ता है, [न पुद्गलकर्मणाम्] पुद्गलकर्मोंका नहीं; [इति] ऐसा [जिनवचनं] जिनवचन [ज्ञातव्यम्] जानना ।

---

* यद्यपि शुद्धनिश्चयसे केवलज्ञानादि शुद्धभाव 'स्वभाव' कहलाते हैं तथापि अशुद्ध निश्चयसे रागादिक भी 'स्वभाव' कहलाते हैं ।

निज भाव करतो आतमा कर्ता खरे निज भावनो ।
कर्ता न पुद्गलकर्मनो;—उपदेश जिननो जाणवो ॥ ६१ ॥

निश्चयेन जीवस्य स्वभावानां कर्तृत्वं पुद्गलकर्मणामकर्तृत्वं चागमेनोपदर्शितमत्र इति ॥ ६१ ॥

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममप्पाणं ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ॥ ६२ ॥

कर्मापि स्वकं करोति स्वेन स्वभावेन सम्यगात्मानम् ।
जीवोऽपि च तादृशकः कर्मस्वभावेन भावेन ॥ ६२ ॥

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम् । कर्म खलु कर्मत्वप्रवर्तमानपुद्गलस्कंधरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणं, कर्मत्वगमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वत्, प्राप्यकर्मत्वपरिणामरूपेण कर्मतां कलयत्, पूर्वभावव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालंबनादुपात्तापादानत्वम्, उपजायमानपरिणामरूपकर्मणाश्रीयमाणत्वादुपोढसंप्रदानत्वम् आधीय-

---

टीकाः—निश्चयसे जीवको अपने भावोंका कर्तृत्व है और पुद्गलकर्मोंका अकर्तृत्व है, ऐसा यहाँ आगम द्वारा दर्शाया गया है । ६१ ।

गाथा ६२

अन्वयार्थः—[कर्म अपि] कर्म भी [स्वेन स्वभावेन] अपने स्वभावसे [स्वकं करोति] अपनेको करते हैं [च] और [तादृशकः जीवः अपि] वैसा जीव भी [कर्मस्वभावेन भावेन] कर्मस्वभाव भावसे (–औदयिकादि भावसे) [सम्यक् आत्मानम्] बराबर अपनेको करता है ।

टीकाः—निश्चयनयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं स्वरूपके (–अपने-अपने रूपके) कर्ता हैं ऐसा यहाँ कहा है ।

कर्म वास्तवमें (१) कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गलस्कंधरूपसे कर्तृत्वको धारण करता हुआ, (२) कर्मपना प्राप्त करनेकी शक्तिरूप करणपनेको अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसे कर्मत्वपरिणामरूपसे कर्मपनेका अनुभव करता हुआ, (४) पूर्व भावका नाश हो जाने पर भी ध्रुवत्वको अवलम्बन करनेसे जिसने अपादानपनेको प्राप्त किया है ऐसा, (५) उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कर्म

रे ! कर्म आपस्वभावथी निज कर्मपर्ययने करे ।
आत्माय कर्मस्वभावरूप निज भावथी निजने करे ॥ ६२ ॥

मानपरिणामाधारत्वादुगृहीताधिकरणत्वं, स्वयमेव पट्कारकीरूपेण व्यक्तिष्ठमानं न कारकांतरमपेक्षते । एवं जीवोऽपि भावपर्यायेण प्रवर्तमानात्मद्रव्यरूपेण कर्तृतामनुबिभ्राणो, भावपर्यायगमनशक्तिरूपेण करणतामात्मसात्कुर्वन्, प्राप्यभावपर्यायरूपेण कर्मतां कलयन्, पूर्वभावपर्यायव्यपायेऽपि ध्रुवत्वालंबनादुपात्तापादानत्वः, उपजायमानभावपर्यायरूपकर्मणाश्रीयमाणत्वादुपोढसंप्रदानत्वः, आधीयमानभावपर्यायाधारत्वादुगृहीताधिकरणत्वः, स्वयमेव

द्वारा समाश्रित होनेसे (अर्थात् उत्पन्न होनेवाले परिणामरूप कार्य अपनेको दिया जानेसे) सम्प्रदानपनेको प्राप्त और (६) धारण किये हुए परिणामका आधार होने से जिसने अधिकरणपनेको ग्रहण किया है ऐसा—स्वयमेव षट्कारकरूपसे वर्तता हुआ अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता ।

इसप्रकार जीव भी (१) भावपर्यायरूपसे प्रवर्तमान आत्मद्रव्यरूपसे कर्तृत्वको धारण करता हुआ, (२) भावपर्याय प्राप्त करनेकी शक्तिरूपसे करणपनेको अंगीकृत करता हुआ, (३) प्राप्य ऐसी भावपर्यायरूपसे कर्मपनेका अनुभव करता हुआ, (४) पूर्व भावपर्यायका नाश होने पर भी ध्रुवत्वका अवलम्बन करनेसे जिसने अपादानपनेको प्राप्त किया है ऐसा, (५) उत्पन्न होनेवाले भावपर्यायरूप कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे (अर्थात् उत्पन्न होनेवाला भावपर्यायरूप कार्य अपनेको दिया जाने से) सम्प्रदानपनेको प्राप्त और (६) धारण की हुई भावपर्यायका आधार होनेसे जिसने अधिकरणपनेको ग्रहण किया है ऐसा—स्वयमेव षट्कारकरूपसे वर्तता हुआ अन्य कारककी अपेक्षा नहीं रखता ।

इसलिये निश्चयसे कर्मरूप कर्ताको जीव कर्ता नहीं है और जीवरूप कर्ताको कर्म कर्ता नहीं है । (जहाँ कर्म कर्ता है वहाँ जीव कर्ता नहीं है और जहाँ जीव कर्ता है वहाँ कर्म कर्ता नहीं है ।)

भावार्थः—(१) पुद्गल स्वतंत्ररूपसे द्रव्यकर्मको करता होनेसे पुद्गल स्वयं ही कर्ता है (२) स्वयं द्रव्यकर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे पुद्गल स्वयं ही करण है; (३) द्रव्यकर्मको प्राप्त करता—पहुँचता होनेसे द्रव्यकर्म कर्म है, अथवा द्रव्यकर्मसे स्वयं अभिन्न होनेसे पुद्गल स्वयं ही कर्म (—कार्य) है; (४) अपनेमेंसे पूर्व परिणामका व्यय करके द्रव्यकर्मरूप परिणाम करता होनेसे तथा पुद्गलद्रव्यरूप ध्रुव रहता होनेसे पुद्गल स्वयं ही

षट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानो न कारकांतरमपेक्षते। अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति ॥ ६२ ॥

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम्मं च देदि फलं ॥ ६३ ॥

अपादान है; (५) अपनेको द्रव्यकर्मरूप परिणाम देता होनेसे पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपनेमें अर्थात् अपने आधारसे द्रव्यकर्म करता होनेसे पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है।

इसीप्रकार (१) जीव स्वतंत्ररूपसे जीवभावको करता होनेसे जीव स्वयं ही कर्ता है; (२) स्वयं जीवभावरूपसे परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे जीव स्वयं ही करण है; (३) जीवभावको प्राप्त करता—पहुँचता होनेसे जीवभाव कर्म है, अथवा जीवभावसे स्वयं अभिन्न होनेसे जीव स्वयं ही कर्म है; (४) अपनेमेंसे पूर्व भावका व्यय करके (नवीन) जीवभाव करता होनेसे और जीवद्रव्यरूपसे ध्रुव रहनेसे जीव स्वयं ही अपादान है; (५) अपनेको जीवभाव देता होनेसे जीव स्वयं ही सम्प्रदान है; (६) अपनेमें अर्थात् अपने आधारसे जीवभाव करता होनेसे जीव स्वयं ही अधिकरण है।

इसप्रकार, पुद्गलकी कर्मोदयादिरूपसे या कर्मबंधादिरूपसे परिणमित होनेकी क्रियामें वास्तवमें पुद्गल ही स्वयमेव छह कारकरूपसे वर्तता है इसलिये उसे अन्य कारकोंकी अपेक्षा नहीं है तथा जीवकी औदयिकादि भावरूपसे परिणमित होनेकी क्रियामें वास्तवमें जीव स्वयं ही छह कारकरूपसे वर्तता है इसलिये उसे अन्य कारकोंकी अपेक्षा नहीं है। पुद्गलकी और जीवकी उपरोक्त क्रियाएँ एक ही कालमें वर्तती हैं तथापि पौद्गलिक क्रियामें वर्तते हुए पुद्गलके छह कारक जीवकारकोंसे बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रियामें वर्तते हुए जीवके छह कारक पुद्गलकारकोंसे बिलकुल भिन्न और निरपेक्ष हैं। वास्तवमें किसी द्रव्यके कारकोंको किसी अन्य द्रव्यके कारकोंकी अपेक्षा नहीं होती। ६२।

जो कर्म कर्म करे अने आत्मा करे बस आत्मने।
कयम कर्म फल दे जीवने ? कयम जीव ते फल भोगवे ? ॥ ६३ ॥

कर्म कर्म करोति यदि स आत्मा करोत्यात्मानम् ।
कथं तस्य फलं भुङ्क्ते आत्मा कर्म च ददाति फलम् ॥ ६३ ॥

कर्मजीवयोरन्योन्याकर्तृत्वेऽन्यदत्तफलान्योपभोगलक्षणदूषणपुरस्सरः पूर्वपक्षोऽयम् ॥६३॥

अथ सिद्धांतसूत्राणि—

***ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकाएहिं सव्वदो लोगो ।**
सुहमेहिं बादरेहिं य णंताणंतेहिं विविधेहिं ॥ ६४ ॥

गाथा ६३

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [कर्म] कर्म [कर्म करोति] कर्मको करे और [सः आत्मा] आत्मा [आत्मानम् करोति] आत्माको करे तो [कर्म] कर्म [फलम् कथं ददाति] आत्माको फल क्यों देगा [च] और [आत्मा] आत्मा [तस्य फलं भुङ्क्ते] उसका फल क्यों भोगेगा ?

टीकाः—यदि कर्म और जीवको अन्योन्य अकर्तापना हो, तो 'अन्यका दिया हुआ फल अन्य भोगे' ऐसा प्रसंग आयेगा;—ऐसा दोष वतलाकर यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है ।

भावार्थः—शास्त्रोंमें कहा है कि (पौद्गलिक) कर्म जीवको फल देते हैं और जीव (पौद्गलिक) कर्मोंका फल भोगता है । अब यदि जीव कर्मको करता ही न हो तो जीवसे नहीं किया गया कर्म जीवको फल क्यों देगा और जीव अपनेसे नहीं किये गये कर्मके फलको क्यों भोगेगा ? जीवसे नहीं किया गया कर्म जीवको फल दे और जीव उस फलको भोगे यह किसी प्रकार न्याययुक्त नहीं है । इस प्रकार, 'कर्म कर्मको ही करता है और आत्मा आत्माको ही करता है' इस बातमें पूर्वोक्त दोष आनेसे यह बात घटित नहीं होती—इस प्रकार यहाँ पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है ।६३।

अब सिद्धान्त सूत्र हैं (अर्थात् अब ६३ वीं गाथामें कहे गये पूर्वपक्षके निराकरणपूर्वक सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाली गाथाएँ कही जाती हैं) ।

---

* प्रवचनसारमें १६८ वीं गाथा इस गाथासे मिलती है ।

अवगाढ गाढ भरेल छे सर्वत्र पुद्गलकायथी ।
आ लोक बादर-सूक्ष्मथी, विधविध अनंतानंतथी ॥ ६४ ॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चानंतानंतैर्विविधैः ॥ ६४ ॥

कर्मयोग्यपुद्गला अंजनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोकव्यापित्वाद्यत्रात्मा तत्रानानीता एवावतिष्ठंत इत्यत्रोक्तम् ॥ ६४ ॥

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णण्णोगाहमवगाढा ॥ ६५ ॥

आत्मा करोति स्वभावं तत्र गताः पुद्गलाः स्वभावैः ।
गच्छन्ति कर्मभावमन्योन्यावगाहावगाढाः ॥ ६५ ॥

गाथा ६४

अन्वयार्थः—[लोकः] लोक [सर्वतः] सर्वतः [विविधैः] विविध प्रकारके, [अनंतानंतैः] अनंतानंत [सूक्ष्मैः बादरैः च] सूक्ष्म तथा बादर [पुद्गलकायैः] पुद्गलकायों (पुद्गलस्कन्धों) द्वारा [अवगाढगाढनिचितः] (विशिष्ट रीतिसे) अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है ।

टीकाः—यहाँ ऐसा कहा है कि—कर्मयोग्य पुद्गल (कार्मणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध) अंजनचूर्णसे (अंजनके बारीक चूर्णसे) भरी हुई डिब्बीके न्यायसे समस्त लोकमें व्याप्त हैं; इसलिये जहाँ आत्मा है वहाँ, विना लाये ही (कहींसे लाये गये विना ही), वे स्थित हैं । ६४ ।

गाथा ६५

अन्वयार्थः—[आत्मा] आत्मा [स्वभावं] (मोहरागद्वेषरूप) अपने भावको [करोति] करता है; [तत्र गताः पुद्गलाः] (तब) वहाँ रहनेवाले पुद्गल [स्वभावैः] अपने भावोंसे [अन्योन्यावगाहावगाढाः] जीवमें (विशिष्ट प्रकारसे) अन्योन्य-अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए [कर्मभावम् गच्छन्ति] कर्मभावको प्राप्त होते हैं ।

आत्मा करे निज भाव ज्यां, त्यां पुद्गलो निजभावथी ।
कर्मत्वरूपे परिणमे अन्योन्य-अवगाहित थई ॥ ६५ ॥

अन्याकृतकर्मसंभूतिप्रकारोक्तिरियम् । आत्मा हि संसारावस्थायां पारिणामिकचैतन्यस्वभावमपरित्यजन्नेवानादिबंधनबद्धत्वादनादिमोहरागद्वेषस्निग्धैरविशुद्धैरेव भावैर्विवर्तते । स खलु यत्र यदा मोहरूपं रागरूपं द्वेषरूपं वा स्वस्य भावमारभते, तत्र तदा तमेव निमित्तीकृत्य जीवप्रदेशेषु परस्परावगाहेनानुप्रविष्टाः स्वभावैरेव पुद्गलाः कर्मभावमापद्यंत इति ॥ ६५ ॥

जह पोग्गलदव्वाणं बहुप्पयारेहिं खंधणिव्वत्ती ।
अकदा परेहिं दिट्ठा तह कम्माणं वियाणाहि ॥ ६६ ॥

टीकाः—अन्य द्वारा किये गये विना कर्मकी उत्पत्ति किसप्रकार होती है उसका यह कथन है ।

आत्मा वास्तवमें संसार-अवस्थामें पारिणामिक चैतन्यस्वभावको छोड़े बिना ही अनादि बंधन द्वारा बद्ध होनेसे अनादि मोहरागद्वेष द्वारा *स्निग्ध ऐसे अविशुद्ध भावोंरूपसे ही विवर्तनको प्राप्त होता है (–परिणमित होता है) । वह (संसारस्थ आत्मा) वास्तवमें जहाँ और जब मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप ऐसे अपने भावको करता है, वहाँ और उस समय उसी भावको निमित्त बनाकर पुद्गल अपने भावोंसे ही जीवके प्रदेशोंमें (विशिष्टतापूर्वक) परस्पर-अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मभावको प्राप्त होते हैं ।

भावार्थः—आत्मा जिस क्षेत्रमें और जिस कालमें अशुद्ध भावरूप परिणमित होता है, उसी क्षेत्रमें स्थित कार्मारणवर्गणारूप पुद्गलस्कंध उसी कालमें स्वयं अपने भावोंसे ही जीवके प्रदेशोंमें विशेष प्रकारसे परस्पर–अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मपनेको प्राप्त होते हैं ।

इसप्रकार, जीवसे किये गये विना ही पुद्गल स्वयं कर्मरूपसे परिणमित होते हैं । ६५ ।

---

* स्निग्ध = चिकने; चिकनाईवाले । (मोहरागद्वेष कर्मबंधमें निमित्तभूत होनेके कारण उन्हें स्निग्धताकी उपमा दी जाती है । इसीलिये यहाँ अविशुद्ध भावोंको 'मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध' कहा है ।)

ज्यम स्कंधरचना बहुविधा देखाय छे पुद्गल तणी ।
परथी अकृत, ते रीत जाणो विविधता कर्मो तणी ॥ ६६ ॥

यथा पुद्गलद्रव्याणां बहुप्रकारैः स्कंधनिर्वृत्तिः ।
अकृता परैर्दृष्टा तथा कर्मणां विजानीहि ।। ६६ ।।

अनन्यकृतत्वं कर्मणां वैचित्र्यस्यात्रोक्तम् । यथा हि स्वयोग्यचंद्रार्कप्रभोपलंभे संध्याभ्रेंद्रचापपरिवेषप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः पुद्गलस्कंधविकल्पाः कर्त्रंतरनिरपेक्षा एवोत्पद्यंते, तथा स्वयोग्यजीवपरिणामोपलंभे ज्ञानावरणप्रभृतिभिर्बहुभिः प्रकारैः कर्माण्यपि कर्त्रंतरनिरपेक्षाण्येवोत्पद्यंते इति ।। ६६ ।।

जीवा पोग्गलकाया अण्णण्णोगाढगहणपडिबद्धा ।
काले विजुज्जमाणा सुहदुक्खं देंति भुञ्जन्ति ।। ६७ ।।

गाथा ६६

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [पुद्गलद्रव्याणां] पुद्गलद्रव्योंकी [बहुप्रकारैः] अनेक प्रकारकी [स्कंधनिर्वृत्तिः] स्कंधरचना [परैः अकृता] परसे किये गये विना [दृष्टा] होती दिखाई देती है, [तथा] उसीप्रकार [कर्मणां] कर्मोंकी बहुप्रकारता [विजानीहि] परसे अकृत जानो ।

टीकाः—कर्मोंकी विचित्रता (बहुप्रकारता) अन्य द्वारा नहीं की जाती ऐसा यहाँ कहा है ।

जिसप्रकार अपनेको योग्य चन्द्र-सूर्यके प्रकाशकी उपलब्धि होने पर, संध्या-बादल-इन्द्रधनुष-प्रभामण्डल इत्यादि अनेक प्रकारसे पुद्गलस्कंधभेद अन्य कर्ताकी अपेक्षाके विना ही उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार अपनेको योग्य जीव-परिणामकी उपलब्धि होने पर, ज्ञानावरणादि अनेक प्रकारके कर्म भी अन्य कर्ताकी अपेक्षाके विना ही उत्पन्न होते हैं ।

भावार्थः—कर्मोंकी विविध प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभागरूप विचित्रता भी जीवकृत नहीं है, पुद्गलकृत ही है । ६६ ।

जीव-पुद्गलो अन्योन्यमां अवगाह ग्रहीने बद्ध छे ।
काले वियोग लहे तदा सुखदुःख आपे भोगवे ।। ६७ ।।

जीवाः पुद्गलकायाः अन्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धाः ।
काले वियुज्यमानाः सुखदुःखं ददति भुञ्जन्ति ॥ ६७ ॥

निश्चयेन जीवकर्मणोश्चैककर्तृत्वेऽपि व्यवहारेण कर्मदत्तफलोपलंभो जीवस्य न विरुध्यत इत्यत्रोक्तम् । जीवा हि मोहरागद्वेषस्निग्धत्वात्पुद्गलस्कंधाश्च स्वभावस्निग्धत्वाद्बन्धावस्थायां परमाणुद्वन्द्वानीवान्योन्यावगाहग्रहणप्रतिबद्धत्वेनावतिष्ठंते । यदा तु ते परस्परं वियुज्यंते, तदोदितप्रच्यवमाना निश्चयेन सुखदुःखरूपात्मपरिणामानां

गाथा ६७

अन्वयार्थः—[जीवाः पुद्गलकायाः] जीव और पुद्गलकाय [अन्योन्यावगाढग्रहणप्रतिबद्धाः] (विशिष्ट प्रकारसे) अन्योन्य-अवगाहके ग्रहण द्वारा (परस्पर) बद्ध हैं; [काले वियुज्यमानाः] कालसे पृथक् होने पर [सुखदुःखं ददति भुञ्जन्ति] सुखदुःख देते हैं और भोगते हैं (अर्थात् पुद्गलकाय सुखदुःख देते हैं और जीव भोगते हैं) ।

टीकाः—निश्चयसे जीव और कर्मको एकका (निज-निजरूपका ही) कर्तृत्व होने पर भी, व्यवहारसे जीवको कर्मद्वारा दिये गये फलका उपभोग विरोधको प्राप्त नहीं होता (अर्थात् 'कर्म जीवको फल देता है और जीव उसे भोगता है' यह बात भी व्यवहारसे घटित होती है) ऐसा यहाँ कहा है ।

जीव मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध होनेके कारण तथा पुद्गलस्कन्ध स्वभावसे स्निग्ध होनेके कारण, (वे) बंध-अवस्थामें—[1]परमाणुद्वन्द्वोंकी भाँति—(विशिष्ट प्रकारसे) अन्योन्य-अवगाहके ग्रहण द्वारा बद्धरूपसे रहते हैं । जब वे परस्पर पृथक् होते हैं तब (–पुद्गलस्कन्ध निम्नानुसार फल देते हैं और जीव उसे भोगते हैं)—उदय पाकर खिर जानेवाले पुद्गलकाय सुखदुःखरूप आत्मपरिणामोंके निमित्तमात्र होनेकी अपेक्षासे *निश्चयसे, और इष्टानिष्ट विषयोंके निमित्तमात्र होनेकी अपेक्षासे *व्यवहारसे,

---

१. परमाणुद्वंद्व=दो परमाणुओंका जोड़; दो परमाणुओंसे निर्मित स्कंध; द्वि-अणुक स्कंध ।

* (१) सुखदुःखपरिणामोंमें तथा (२) इष्टानिष्ट विषयोंके संयोगमें शुभाशुभ कर्म निमित्तभूत होते हैं, इसलिये उन कर्मोंको उनके निमित्तमात्रपनेकी अपेक्षासे ही "(१) सुखदुःखपरिणामरूप (फल) तथा (२) इष्टानिष्ट विषयरूप फल 'देनेवाला' " (उपचारसे) कहा जा सकता है। अब, (१) सुखदुःखपरिणाम तो जीवकी अपनी ही पर्यायरूप होनेसे जीव सुखदुःखपरिणाम-

व्यवहारेणेष्टानिष्टविषयाणां निमित्तमात्रत्वात्पुद्गलकायाः सुखदुःखरूपं फलं प्रयच्छन्ति। जीवाश्च निश्चयेन निमित्तमात्रभूतद्रव्यकर्मनिर्वर्तितसुखदुःखरूपात्मपरिणामानां व्यवहारेण

---

*सुखदुःखरूप फल देते हैं; तथा जीव निमित्तमात्रभूत द्रव्यकर्मसे निष्पन्न होनेवाले सुखदुःखरूप आत्मपरिणामोंके भोक्ता होनेकी अपेक्षासे निश्चयसे, और (निमित्तमात्रभूत) द्रव्यकर्मके उदयसे संपादित इष्टानिष्ट विषयोंके भोक्ता होनेकी

को तो 'निश्चयसे' भोगता है, और इसलिये सुखदुःखपरिणाममें निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभ कर्मोंमें भी (–जिन्हें "सुखदुःखपरिणामरूप फल देनेवाला" कहा था उनमें भी) उस अपेक्षासे ऐसा कहा जा सकता है कि "वे जीवको 'निश्चयसे' सुखदुःखपरिणामरूप फल देते हैं;" तथा (२) इष्टानिष्ट विषय तो जीवसे बिल्कुल भिन्न होनेसे जीव इष्टानिष्ट विषयोंको तो 'व्यवहारसे' भोगता है, और इसलिये इष्टानिष्ट विषयोंमें निमित्तभूत वर्तते हुए शुभाशुभ कर्मोंमें भी (–जिन्हें "इष्टानिष्ट विषयरूप फल देनेवाला" कहा था उनमें भी) उस अपेक्षासे ऐसा कहा जा सकता है कि "वे जीवको 'व्यवहारसे' इष्टानिष्ट विषयरूप फल देते हैं।"

यहाँ (टीकाके दूसरे पैरेमें) जो 'निश्चय' और 'व्यवहार' ऐसे दो भंग किये हैं वे मात्र इतना भेद सूचित करनेके लिये ही किये हैं कि 'कर्मनिमित्तक सुखःदुखपरिणाम जीवमें होते हैं और कर्मनिमित्तक इष्टानिष्ट विषय जीवसे बिल्कुल भिन्न हैं।' परन्तु यहाँ कहे हुए निश्चयरूप भंगसे ऐसा नहीं समझना चाहिये कि 'पौद्गलिक कर्म जीवको वास्तवमें फल देता है और जीव वास्तवमें कर्मके दिये हुए फलको भोगता है।'

परमार्थतः कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यको फल नहीं दे सकता और कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके पाससे फल प्राप्त करके भोग नहीं सकता। यदि परमार्थतः कोई द्रव्य अन्य द्रव्यको फल दे और वह अन्य द्रव्य उसे भोगे तो दोनों द्रव्य एक हो जायें। यहाँ यह ध्यान रखना खास आवश्यक है कि टीकाके पहले पैरेमें सम्पूर्ण गाथाके कथनका सार कहते हुए श्री टीकाकार आचार्यदेवने स्वयं ही जीवको कर्म द्वारा दियेगये फलका उपभोग व्यवहारसे ही कहा है, निश्चयसे नहीं।

सुखदुःखके दो अर्थ होते हैं: (१) सुखदुःखपरिणाम, और (२) इष्टानिष्ट विषय। जहाँ 'निश्चयसे' कहा है वहाँ 'सुखदुःखपरिणाम' ऐसा अर्थ समझना चाहिये और जहाँ 'व्यवहारसे' कहा है वहाँ 'इष्टानिष्ट विषय' ऐसा अर्थ समझना चाहिये।

द्रव्यकर्मोदयापादितेष्टानिष्टविषयाणां भोक्तृत्वात्तथाविधं फलं भुञ्जन्ते इति । एतेन जीवस्य भोक्तृत्वगुणोऽपि व्याख्यातः ॥ ६७ ॥

तम्हा कम्मं कत्ता भावेण हि संजुदोध जीवस्स ।
भोत्ता दु हवदि जीवो चेदगभावेण कम्मफलं ॥ ६८ ॥

तस्मात्कर्म कर्तृ भावेन हि संयुतमथ जीवस्य ।
भोक्ता तु भवति जीवश्चेतकभावेन कर्मफलम् ॥ ६८ ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्योपसंहारोऽयम् । तत एतत् स्थितं निश्चयेनात्मनः कर्म कर्तृ, व्यवहारेण जीवभावस्य; जीवोऽपि निश्चयेनात्मभावस्य कर्ता, व्यवहारेण कर्मण इति । यथात्रोभयनयाभ्यां कर्म कर्तृ, तथैकेनापि नयेन न भोक्तृ । कुतः ?

अपेक्षासे व्यवहारसे, उस प्रकारका (सुखदु:खरूप) फल भोगते हैं (अर्थात् निश्चयसे सुखदु:खपरिणामरूप और व्यवहारसे इष्टानिष्ट विषयरूप फल भोगते हैं) ।

इससे (इस कथनसे) जीवके भोक्तृत्वगुणका भो व्याख्यान हुआ । ६७ ।

गाथा ६८

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसलिये [अथ जीवस्य भावेन हि संयुतम्] जीवके भावसे संयुक्त ऐसा [कर्म] कर्म (द्रव्यकर्म) [कर्तृ] कर्ता है (–निश्चयसे अपना कर्ता और व्यवहारसे जीवभावका कर्ता; परन्तु वह भोक्ता नहीं है) । [भोक्ता तु] भोक्ता तो [जीवः भवति] (मात्र) जीव है [चेतकभावेन] चेतकभावके कारण [कर्मफलम्] कर्मफलका ।

टीकाः—यह, कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी व्याख्याका उपसंहार है ।

इसलिये (पूर्वोक्त कथनसे) ऐसा निश्चित हुआ कि—कर्म निश्चयसे अपना कर्ता है, व्यवहारसे जीवभावका कर्ता है; जीव भी निश्चयसे अपने भावका कर्ता है, व्यवहारसे कर्मका कर्ता है ।

जिसप्रकार यहाँ दोनों नयोंसे कर्म कर्ता है, उसीप्रकार एक भी नयसे वह भोक्ता नहीं है । किसलिये ? क्योंकि उसे *चैतन्यपूर्वक अनुभूतिका सद्-

---

* जो अनुभूति चैतन्यपूर्वक हो उसीको यहाँ भोक्तृत्व कहा है; उसके अतिरिक्त अन्य अनुभूतिको नहीं ।

तेथी करम, जीवभावथी संयुक्त, कर्ता जाणवुं ।
भोक्तापणुं तो जीवने चेतकपणे तत्फल तणुं ॥ ६८ ॥

चैतन्यपूर्वकानुभूतिसद्भावाभावात् । ततश्चेतनत्वात् केवल एव जीवः कर्मफलभूतानां कथंचिदात्मनः सुखदुःखपरिणामानां कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणां भोक्ता प्रसिद्ध इति ॥ ६८ ॥

एवं कत्ता भोत्ता होज्जं अप्पा सगेहिं कम्मेहिं ।
हिंडदि पारमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ६९ ॥

एवं कर्ता भोक्ता भवन्नात्मा स्वकैः कर्मभिः ।
हिंडते पारमपारं संसारं मोहसंछन्नः ॥ ६९ ॥

कर्मसंयुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत् । एवमयमात्मा प्रकटितप्रभुत्वशक्तिःस्वकैः कर्मभिर्गृहीतकर्तृत्वभोक्तृत्वाधिकारोऽनादिमोहावच्छन्नत्वादुपजातविपरीताभिनिवेशः

भाव नहीं है। इसलिये चेतनपनेके कारण मात्र जीव ही कर्मफलका—कथंचित् आत्माके सुख-दुःखपरिणामोंका और कथंचित् इष्टानिष्ट विषयोंका—भोक्ता प्रसिद्ध है ॥ ६८ ॥

गाथा ६९

अन्वयार्थः—[एवं] इसप्रकार [स्वकैः कर्मभिः] अपने कर्मोंसे [कर्ता भोक्ता भवन्] कर्ता-भोक्ता होता हुआ [आत्मा] आत्मा [मोहसंछन्नः] मोहाच्छादित वर्तता हुआ [पारम् अपारं संसारं] सांत अथवा अनंत संसारमें [हिंडते] परिभ्रमण करता है।

टीकाः—यह, कर्मसंयुक्तपनेकी मुख्यतासे प्रभुत्वगुणका व्याख्यान है।

इसप्रकार प्रगट प्रभुत्वशक्तिके कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा (–निश्चयसे भावकर्मों और व्यवहारसे द्रव्यकर्मों द्वारा) कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वका अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्माको, अनादि मोहाच्छादितपनेके कारण विपरीत *अभिनिवेशकी उत्पत्ति होनेसे सम्यग्ज्ञानज्योति अस्त होगई है, इसलिये वह सांत अथवा अनंत संसारमें परिभ्रमण करता है।

---

* अभिनिवेश=अभिप्राय; आग्रह।

कर्ता अने भोक्ता थतो अे रीत निज कर्मो वडे ।
जीव मोहथी आच्छन्न सांत अनंत संसारे भमे ॥६९॥

प्रत्यस्तमितसम्यग्ज्ञानज्योतिः सांतमनंतं वा संसारं परिभ्रमतीति ॥ ६९ ॥

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो ।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो ॥ ७० ॥

उपशांतक्षीणमोहो मार्गं जिनभाषितेन समुपगतः ।
ज्ञानानुमार्गचारी निर्वाणपुरं व्रजति धीरः ॥ ७० ॥

कर्मवियुक्तत्वमुखेन प्रभुत्वगुणव्याख्यानमेतत् । अयमेवात्मा यदि जिनाज्ञया मार्गमुपगम्योपशांतक्षीणमोहत्वात्प्रहीणविपरीताभिनिवेशः समुद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिः कर्तृत्व-

---

(इसप्रकार जीवके कर्मसहितपनेकी मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुणका व्याख्यान किया गया ।) ६९ ।

गाथा ७०

अन्वयार्थः—[जिनभाषितेन मार्गं समुपगतः] जो (पुरुष) जिनवचन द्वारा मार्गको प्राप्त करके [उपशांतक्षीणमोहः] उपशांतक्षीणमोह होता हुआ (अर्थात् जिसे दर्शनमोहका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हुआ है ऐसा होता हुआ) [ज्ञानानुमार्गचारी] ज्ञानानुमार्गमें विचरता है (—ज्ञानका अनुसरण करनेवाले मार्गमें वर्तता है), [धीरः] वह धीर पुरुष [निर्वाणपुरं व्रजति] निर्वाणपुरको प्राप्त होता है ।

टीकाः—यह, कर्मवियुक्तपनेकी मुख्यतासे प्रभुत्वगुणका व्याख्यान है ।

जब यही आत्मा जिनाज्ञा द्वारा मार्गको प्राप्त करके, उपशांतक्षीणमोहपनेके कारण (दर्शनमोहके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके कारण) जिसे विपरीत अभिनिवेश नष्ट हो जानेसे सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा होता हुआ, कर्तृत्व और भोक्तृत्वके अधिकारको समाप्त करके सम्यक्रूपसे प्रगट प्रभुत्वशक्तिवान होता हुआ ज्ञानका ही अनुसरण करनेवाले मार्गमें विचरता है (—प्रवर्तता है, परिणमित होता है, आचरण

जिनवचनथी लही मार्ग जे, उपशांतक्षीणमोही बने ।
ज्ञानानुमार्ग विषे चरे, ते धीर शिवपुरने वरे ॥७०॥

भोक्तृत्वाधिकारं परिसमाप्य सम्यक्प्रकटितप्रभुत्वशक्तिर्ज्ञानस्यैवानुमार्गेण चरति, तदा विशुद्धात्मतत्त्वोपलंभरूपमपवर्गनगरं विगाहत इति ।। ७० ।।

अथ जीवविकल्पा उच्यन्ते ।

एक्को चेव महप्पा सो दुवियप्पो तिलक्खणो होदि ।
चदुचंकमणो भणिदो पंचग्गगुणप्पधाणो य ।। ७१ ।।
छक्कापक्कमजुत्तो उवउत्तो सत्तभंगसब्भावो ।
अट्ठासओ णवट्ठो जीवो दसट्ठाणगो भणिदो ।। ७२ ।।

एक एव महात्मा स द्विविकल्पस्त्रिलक्षणो भवति ।
चतुश्चंक्रमणो भणितः पञ्चाग्रगुणप्रधानश्च ।। ७१ ।।
षट्कापक्रमयुक्तः उपयुक्तः सप्तभङ्गसद्भावः ।
अष्टाश्रयो नवार्थो जीवो दशस्थानगो भणितः ।। ७२ ।।

करता है), तब वह विशुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप अपवर्गनगरको (मोक्षपुरको) प्राप्त करता है ।

(इसप्रकार जीवके कर्मरहितपनेकी मुख्यतापूर्वक प्रभुत्वगुणका व्याख्यान किया गया ।) ७० ।

अब जीवके भेद कहे जाते हैं ।

गाथा ७१-७२

अन्वयार्थः—[**सः महात्मा**] वह महात्मा [**एकः एव**] एक ही है; [**द्विविकल्पः**] दो भेदवाला है और [**त्रिलक्षणः भवति**] त्रिलक्षण है; [**चतुश्चंक्रमणः**] और उसे चतुर्विध भ्रमणवाला [**च**] तथा [**पंचाग्रगुणप्रधानः**] पाँच मुख्य गुणोंसे प्रधानतावाला [**भणितः**] कहा है । [**उपयुक्तः जीवः**] उपयोगी ऐसा वह जीव [**षट्कापक्रमयुक्तः**] छह *अपक्रम सहित, [**सप्तभंगसद्भावः**] सात भंगपूर्वक सद्भाववान,

---

* अपक्रम = (संसारी जीवको अन्य भवमें जाते हुए) अनुश्रेणी गमन अर्थात् विदिशाओंको छोड़कर गमन ।

एक ज महात्मा ते द्विभेद अने त्रिलक्षण उक्त छे ।
चउभ्रमणयुत, पंचाग्रगुणपरधान जीव कहेल छे ।। ७१ ।।
उपयोगी षट-अपक्रमसहित छे, सप्तभंगीसत्त्व छे ।
जीव अष्ट-आश्रय, नव-अरथ, दशस्थानगत भाखेल छे ।।७२।।

स खलु जीवो महात्मा नित्यचैतन्योपयुक्तत्वादेक एव, ज्ञानदर्शनभेदाद्द्विविकल्पः, कर्मफलकार्यज्ञानचेतनाभेदेन लक्ष्यमाणत्वात्त्रिलक्षणः ध्रौव्योत्पादविनाशभेदेन वा, चतसृषु गतिषु चंक्रमणत्वाच्चतुश्चंक्रमणः, पञ्चभिः पारिणामिकौदयिकादिभिरग्रगुणैः प्रधानत्वात्पञ्चाग्रगुणप्रधानः, चतसृषु दिक्षूर्ध्वमधश्चेति भवांतरसंक्रमणषट्केनापक्रमेण युक्तत्वात्षट्कापक्रमयुक्तः, अस्तिनास्त्यादिभिः सप्तभंगैः सद्भावो यस्येति सप्तभङ्गसद्भावः, अष्टानां कर्मणां गुणानां वा आश्रयत्वादष्टाश्रयः, नवपदार्थरूपेण वर्तनान्नवार्थः, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसाधारणप्रत्येकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपेषु दशसु स्थानेषु गतत्वाद्दशस्थानग इति ।। ७१-७२ ।।

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसबंधेहिं सव्वदो मुक्को ।
उड्ढं गच्छदि सेसा विदिसावज्जं गदिं जंति ।। ७३ ।।

[**अष्टाश्रयः**] आठके आश्रयरूप, [**नवार्थः**] नौ-अर्थरूप और [**दशस्थानगः**] दशस्थानगत [**भणितः**] कहा गया है ।

टीकाः—यह जीव महात्मा (१) वास्तवमें नित्यचैतन्य-उपयोगी होनेसे "एक ही" है; (२) ज्ञान और दर्शन ऐसे भेदोंके कारण "दो भेदवाला" है; (३) कर्मफलचेतना, कार्यचेतना और ज्ञानचेतना ऐसे भेदों द्वारा अथवा ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश ऐसे भेदों द्वारा लक्षित होनेसे "त्रिलक्षण (तीन लक्षणवाला)" है; (४) चार गतियोंमें भ्रमण करता है इसलिये "चतुर्विध भ्रमणवाला" है; (५) पारिणामिक, औदयिक इत्यादि पाँच मुख्य गुणों द्वारा प्रधानता होनेसे "पाँच मुख्य गुणोंसे प्रधानतावाला" है; (६) चार दिशाओंमें, ऊपर और नीचे इसप्रकार षड्विध भवान्तरगमनरूप अपक्रमसे युक्त होनेके कारण (अर्थात् अन्य भवमें जाते हुए उपरोक्त छह दिशाओंमें गमन होता है इसलिये) "छह अपक्रम सहित" है; (७) अस्ति, नास्ति आदि सात भंगों द्वारा जिसका सद्भाव है ऐसा होनेसे "सात भंगपूर्वक सद्भाववान" है; (८) (ज्ञानावरणीयादि) आठ कर्मोंके अथवा (सम्यक्त्वादि) आठ गुणोंके आश्रयभूत होनेसे "आठके आश्रयरूप" है; (९) नव पदार्थरूपसे वर्तता है इसलिये "नव-अर्थरूप" है; (१०) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियरूप दस स्थानोंमें प्राप्त होनेसे "दसस्थानगत" है । ७१-७२ ।

प्रकृति-स्थिति-परदेश-अनुभवबंधथी परिमुक्तने ।
गति होय ऊँचे; शेषने विदिशा तजी गति होय छे ।। ७३ ।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः सर्वतो मुक्तः ।
ऊर्ध्वं गच्छति शेषा विदिग्वर्जां गतिं यांति ॥ ७३ ॥

बद्धजीवस्य षड्गतयः कर्मनिमित्ताः । मुक्तस्याप्यूर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम् ॥ ७३ ॥

—इति जीवद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम् ।

खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू ।
इदि ते चदुव्वियप्पा पोग्गलकाया मुणेदव्वा ॥ ७४ ॥

गाथा ७३

अन्वयार्थः—[प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधैः] प्रकृतिबन्ध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंधसे [सर्वतः मुक्तः] सर्वतः मुक्त जीव [ऊर्ध्वं गच्छति] ऊर्ध्वगमन करता है; [शेषाः] शेष जीव (भवान्तरमें जाते हुए) [विदिग्वर्जां गतिं यांति] विदिशाएँ छोड़कर गमन करते हैं ।

टीकाः—बद्ध जीवको कर्मनिमित्तक षड्विध गमन (अर्थात् कर्म जिसमें निमित्तभूत है ऐसा छह दिशाओंमें गमन) होता है; मुक्त जीवको भी स्वाभाविक ऐसा एक ऊर्ध्वगमन होता है ।—ऐसा यहाँ कहा है ।

भावार्थः—समस्त रागादिभाव रहित ऐसा जो शुद्धात्मानुभूतिलक्षण ध्यान उसके बल द्वारा चतुर्विध बंधसे सर्वथा मुक्त हुआ जीव भी स्वाभाविक अनन्त ज्ञानादि गुणोंसे युक्त वर्तता हुआ, एकसमयवर्ती अविग्रहगति द्वारा (लोकाग्रपर्यन्त) स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करता है । शेष संसारी जीव मरणांतमें विदिशाएँ छोड़कर पूर्वोक्त षट्–अपक्रमस्वरूप (कर्मनिमित्तक) अनुश्रेणीगमन करते हैं । ७३ ।

—इसप्रकार जीवद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब पुद्गलद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान है ।

जडरूप पुद्गलकाय केरा चार भेदो जाणवा ।
ते स्कंध, तेनो देश, स्कंधप्रदेश, परमाणु कह्या ॥ ७४ ॥

स्कंधाश्च स्कंधदेशाः स्कंधप्रदेशाश्च भवन्ति परमाणवः ।
इति ते चतुर्विकल्पाः पुद्गलकाया ज्ञातव्याः ॥ ७४ ॥

पुद्गलद्रव्यविकल्पादेशोऽयम् । पुद्गलद्रव्याणि हि कदाचित्स्कंधपर्यायेण, कदाचित्स्कंधदेशपर्यायेण, कदाचित्स्कंधप्रदेशपर्यायेण, कदाचित्परमाणुत्वेनात्र तिष्ठन्ति । नान्या गतिरस्ति । इति तेषां चतुर्विकल्पत्वमिति ॥ ७४ ॥

खंधं सयलसमत्थं तस्स दु अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो परमाणू चेव अविभागी ॥ ७५ ॥

स्कन्धः सकलसमस्तस्तस्य त्वर्धं भणन्ति देश इति ।
अर्धार्धं च प्रदेशः परमाणुश्चैवाविभागी ॥ ७५ ॥

गाथा ७४

अन्वयार्थः—[ते पुद्गलकायाः] पुद्गलकायके [चतुर्विकल्पाः] चार भेद [ज्ञातव्याः] जानना [स्कंधाः च] स्कन्ध, [स्कन्धदेशाः] स्कन्धदेश, [स्कन्धप्रदेशाः] स्कन्धप्रदेश [च] और [परमाणवः भवन्ति इति] परमाणु ।

टीकाः—यह पुद्गलद्रव्यके भेदोंका कथन है ।

पुद्गलद्रव्य कदाचित् स्कंधपर्यायसे, कदाचित् स्कन्धदेशरूप पर्यायसे, कदाचित् स्कन्धप्रदेशरूप पर्यायसे और कदाचित् परमाणुरूपसे यहाँ (लोकमें) होते हैं; अन्य कोई गति नहीं है । इसप्रकार उनके चार भेद हैं ॥ ७४ ॥

गाथा ७५

अन्वयार्थः—[सकलसमस्तः] सकल-समस्त (पुद्गलपिंडात्मक सम्पूर्ण वस्तु) वह [स्कन्धः] स्कंध है, [तस्य अर्धं तु] उसके अर्धको [देशः इति भणन्ति] देश कहते हैं, [अर्धार्धं च] अर्धका अर्ध वह [प्रदेशः] प्रदेश है [च] और [अविभागी] अविभागी वह [परमाणुः एव] सचमुच परमाणु है ।

पूरण-सकल ते 'स्कन्ध' छे ने अर्ध तेनुं 'देश' छे ।
अर्धार्ध तेनुं 'प्रदेश' ने अविभाग ते 'परमाणु' छे ॥ ७५ ॥

पुद्गलद्रव्यविकल्पनिर्देशोऽयम् । अनंतानंतपरमाण्वारब्धोऽप्येकः स्कन्धो नाम पर्यायः । तदर्धं स्कन्धदेशो नाम पर्यायः । तदर्धार्धं स्कन्धप्रदेशो नाम पर्यायः । एवं भेदवशात् द्व्यणुकस्कन्धादनंताः स्कन्धप्रदेशपर्यायाः । निर्विभागैकप्रदेशः स्कन्धस्यां-

---

टीकाः—यह, पुद्गलद्रव्यके भेदोंका वर्णन है।

अनन्तानन्त परमाणुओंसे निर्मित होने पर भी जो एक हो वह स्कंध नामकी पर्याय है; उसकी आधी स्कंधदेश नामक पर्याय है; आधीकी आधी स्कंधप्रदेश नामकी पर्याय है। इसप्रकार भेदके कारण (पृथक् होनेके कारण) द्वि-अणुक स्कंधपर्यंत अनन्त स्कंधप्रदेशरूप पर्यायें होती हैं। निर्विभाग-एकप्रदेशवाला, स्कंधका अन्तिम अंश वह एक परमाणु है। (इसप्रकार *भेदसे होनेवाले पुद्गलविकल्पोंका वर्णन हुआ।)

पुनश्च, दो परमाणुओंके संघातसे (मिलनेसे) एक द्विअणुक-स्कन्धरूप पर्याय होती है। इस प्रकार संघातके कारण (द्विअणुक-स्कन्धकी भाँति त्रिअणुक-स्कन्ध चतुरणुक-स्कन्ध इत्यादि) अनन्त स्कन्धरूप पर्यायें होती हैं। (इस प्रकार संघातसे होनेवाले पुद्गलविकल्पका वर्णन हुआ।)

---

* भेदसे होनेवाले पुद्गलविकल्पोंका (पुद्गलभेदोंका) टीकाकार श्री जयसेनाचार्यदेवने जो वर्णन किया है उसका तात्पर्य निम्नानुसार हैः—अनंतपरमाणुपिंडात्मक घटपटादिरूप जो विवक्षित सम्पूर्ण वस्तु उसे "स्कन्ध" संज्ञा है। भेद द्वारा उसके जो पुद्गलविकल्प होते हैं वे निम्नोक्त दृष्टान्तानुसार समझना। मान लो कि १६ परमाणुओंसे निर्मित एक पुद्गलपिंड है और वह टूटकर उसके टुकड़े होते हैं। वहाँ १६ परमाणुओंके पूर्ण पिंडको "स्कन्ध" मानें तो ८ परमाणुओंवाला उसका अर्धभागरूप टुकड़ा वह "देश" है, ४ परमाणुओंवाला उसका चतुर्थभागरूप टुकड़ा वह "प्रदेश" है और अविभागी छोटे-से-छोटा टुकड़ा वह "परमाणु" है। पुनश्च, जिसप्रकार १६ परमाणुवाले पूर्ण पिंडको "स्कन्ध" संज्ञा है, उसीप्रकार १५ से लेकर ९ परमाणुओं तकके किसी भी टुकड़ेको भी "स्कन्ध" संज्ञा है; जिसप्रकार ८ परमाणुओंवाले उसके अर्धभागरूप टुकड़ेको "देश" संज्ञा है, उसीप्रकार ७ से लेकर ५ परमाणुओं तकके उसके किसी भी टुकड़ेको भी "देश" संज्ञा है; जिस प्रकार ४ परमाणुवाले उसके चतुर्थभागरूप टुकड़ेको "प्रदेश" संज्ञा है, उसीप्रकार ३ से लेकर २ परमाणु तकके उसके किसी भी टुकड़ेको भी "प्रदेश" संज्ञा है।—इस दृष्टान्तके अनुसार, भेद द्वारा होनेवाले पुद्गलविकल्प समझना।

त्योभेदः परमाणुरेकः। पुनरपि द्वयोः परमाण्वोः संघातादेको द्व्यणुकस्कंधपर्यायः। एवं संघातवशादनंताः स्कंधपर्यायाः। एवं भेदसंघाताभ्यामप्यनंता भवंतीति । ७५ ॥

बादरसुहुमगदाणं खंधाणं पोग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥ ७६ ॥

बादरसौक्ष्म्यगतानां स्कंधानां पुद्गलः इति व्यवहारः।
ते भवन्ति षट्प्रकारास्त्रैलोक्यं यैः निष्पन्नम् ॥ ७६ ॥

स्कंधानां पुद्गलव्यवहारसमर्थनमेतत् । स्पर्शरसगंधवर्णगुणविशेषैः षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिः पूरणगलनधर्मत्वात् स्कंधव्यक्त्याविर्भावतिरोभावाभ्यामपि च पूरणगलनोपपत्तेः परमाणवः पुद्गला इति निश्चीयंते । स्कंधास्त्वनेकपुद्गलमयैकपर्यायत्वेन पुद्गलेभ्योऽनन्यत्वात्पुद्गला इति व्यवह्रियंते, तथैव च बादरसूक्ष्मत्वपरिणामविकल्पैः

इसप्रकार भेद–संघात दोनोंसे भी (एकसाथ भेद और संघात दोनों होनेसे भी) अनन्त (स्कन्धरूप पर्यायें) होती हैं। (इसप्रकार भेद–संघातसे होनेवाले पुद्गलविकल्पका वर्णन हुआ।) ॥ ७५ ॥

गाथा ७६

अन्वयार्थः—[बादरसौक्ष्म्यगतानां] बादर और सूक्ष्मरूपसे परिणत [स्कन्धानां] स्कन्धोंको [पुद्गलः] "पुद्गल" [इति] ऐसा [व्यवहारः] व्यवहार है। [ते] वे [षट्प्रकाराः भवन्ति] छह प्रकारके हैं, [यैः] जिनसे [त्रैलोक्यं] तीन लोक [निष्पन्नम्] निष्पन्न हैं।

टीकाः—स्कन्धोंमें "पुद्गल" ऐसा जो व्यवहार है उसका यह समर्थन है।

(१) जिनमें षट्स्थानपतित (छह स्थानोंमें समावेश पानेवाली) वृद्धिहानि होती है ऐसे स्पर्श–रस–गंध–वर्णरूप गुणविशेषोंके कारण (परमाणु) "पूरण-गलन"-धर्मवाले होनेसे तथा (२) स्कन्धव्यक्तिके (–स्कन्धपर्यायके)

सौ स्कंध बादर–सूक्ष्ममां 'पुद्गल' तणो व्यवहार छे।
छ विकल्प छे स्कंधो तणा, जेथी त्रिजग निष्पन्न छे ॥ ७६ ॥

षट्प्रकारतामापद्य त्रैलोक्यरूपेण निष्पद्य स्थितवंत इति। तथा हि—बादरबादराः, बादराः, बादरसूक्ष्माः, सूक्ष्मबादराः, सूक्ष्माः, सूक्ष्मसूक्ष्मा इति। तत्र छिन्नाः स्वयं संधानासमर्थाः काष्ठपाषाणादयो बादरबादराः। छिन्नाः स्वयं संधानसमर्थाः क्षीरघृततैलतोयरसप्रभृतयो बादराः। स्थूलोपलंभा अपि छेत्तुं भेत्तुमादातुमशक्याः छायातपतमोज्योत्स्नादयो बादरसूक्ष्माः। सूक्ष्मत्वेऽपि स्थूलोपलंभाः स्पर्शरसगंधशब्दाः सूक्ष्मबादराः। सूक्ष्मत्वेऽपि हि करणानुपलभ्याः

आविर्भाव और तिरोभावकी अपेक्षासे भी (परमाणुओंमें) "पूरण-गलन" घटित होनेसे परमाणु निश्चयसे "[1]पुद्गल" हैं। स्कन्ध तो [2]अनेकपुद्गलमय एकपर्यायपनेके कारण पुद्गलोंसे अनन्य होनेसे व्यवहारसे "पुद्गल" हैं; तथा (वे) बादरत्व और सूक्ष्मत्वरूप परिणामोंके भेदों द्वारा छह प्रकारोंको प्राप्त करके तीन लोकरूप होकर रहे हैं। वे छह प्रकारके स्कन्ध इस प्रकार हैं:—(१) बादरबादर; (२) बादर; (३) बादरसूक्ष्म; (४) सूक्ष्मबादर; (५) सूक्ष्म; (६) सूक्ष्मसूक्ष्म। वहाँ, (१) काष्ठपाषाणादिक (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं नहीं जुड़ सकते वे (घन पदार्थ) "बादरबादर" हैं; (२) दूध, घी, तेल, जल, रस आदि (स्कन्ध) जो कि छेदन होने पर स्वयं जुड़ जाते हैं वे (प्रवाही पदार्थ) "बादर" हैं; (३) छाया, धूप, अंधकार, चाँदनी आदि (स्कन्ध) जो कि स्थूल ज्ञात होने पर भी जिनका छेदन, भेदन अथवा (हस्तादि द्वारा) ग्रहण नहीं किया जा सकता वे "बादरसूक्ष्म" हैं; (४) स्पर्श-रस-गंध-शब्द जो कि सूक्ष्म होने पर भी स्थूल ज्ञात होते हैं (अर्थात् चक्षुको छोड़कर चार इन्द्रियोंके विषयभूत स्कन्ध जो कि आँखसे दिखाई न देने पर भी जिन्हें स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा स्पर्श किया जा सकता है, जीभ द्वारा जिनका

---

१. जिसमें (स्पर्श-रस-गंध-वर्णकी अपेक्षासे तथा स्कन्धपर्यायकी अपेक्षासे) पूरण और गलन हो वह पुद्गल है। पूरण=पुरना; भरना; पूर्ति; पुष्टि; वृद्धि। गलन=गलना; क्षीण होना; कृशता; हानि; न्यूनता। [(१) परमाणुओंके विशेष गुण जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण हैं उनमें होने वाली षट्स्थानपतित वृद्धि वह पूरण है और षट्स्थानपतित हानि वह गलन है; इसलिये इसप्रकार परमाणु पूरण-गलन-धर्मवाले हैं। (२) परमाणुओंमें स्कन्धरूप पर्यायका आविर्भाव होना सो पूरण है और तिरोभाव होना सो गलन है; इस प्रकार भी परमाणुओंमें पूरण-गलन घटित होता है।]

२. स्कन्ध अनेकपरमाणुमय एकपर्याय है, इसलिये वह परमाणुओंसे अनन्य है; और परमाणु तो पुद्गल हैं; इसलिये स्कन्ध भी व्यवहारसे "पुद्गल" है।

कर्मवर्गणादयः सूक्ष्माः । अत्यंतसूक्ष्माः कर्मवर्गणाभ्योऽधो द्वयणुकस्कन्धपर्यन्ताः सूक्ष्मसूक्ष्मा इति ॥ ७६ ॥

सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू ।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ॥७७॥

सर्वेषां स्कन्धानां योऽन्त्यस्तं विजानीहि परमाणुम् ।
स शाश्वतोऽशब्दः एकोऽविभागी मूर्तिभवः ॥ ७७ ॥

परमाणुव्याख्येयम् । उक्तानां स्कन्धरूपपर्यायाणां योऽन्त्यो भेदः स परमाणुः । स तु पुनर्विभागाभावादविभागी, निर्विभागैकप्रदेशत्वादेकः, मूर्तद्रव्यत्वेन सदाप्यविनश्वरत्वान्नित्यः, अनादिनिधनरूपादिपरिणामोत्पन्नत्वान्मूर्तिभवः, रूपादिपरिणामोत्पन्नत्वेऽपि शब्दस्य परमाणु-

---

स्वाद लिया जा सकता है, नाकसे सूँघा जा सकता है और कानसे सुना जा सकता है) वे "सूक्ष्मबादर" हैं; (५) कर्मवर्गणादि (स्कन्ध) कि जिन्हें सूक्ष्मपना है तथा जो इन्द्रियोंसे ज्ञात न हों ऐसे हैं वे सूक्ष्म हैं; (६) कर्मवर्गणासे नीचेके (कर्मवर्गणातीत) द्विअणुक-स्कन्ध तकके (स्कन्ध) जो कि अत्यन्त सूक्ष्म हैं वे "सूक्ष्मसूक्ष्म" हैं । ७६ ।

गाथा ७७

अन्वयार्थः—[सर्वेषां स्कन्धानां] सर्व स्कन्धोंका [यः अन्त्यः] जो अंतिम भाग [तं] उसे [परमाणुम् विजानीहि] परमाणु जानो । [सः] वह [अविभागी] अविभागी, [एकः] एक, [शाश्वतः] शाश्वत, [मूर्तिभवः] मूर्तिप्रभव (मूर्तरूपसे उत्पन्न होनेवाला) और [अशब्दः] अशब्द है ।

टीकाः—यह, परमाणुकी व्याख्या है ।

पूर्वोक्त स्कंधरूप पर्यायोंका जो अन्तिम भेद (छोटे-से छोटा अंश) वह परमाणु है । और वह तो, विभागके अभावके कारण अविभागी है; निर्विभाग–एकप्रदेशी होनेसे एक है; मूर्तद्रव्यरूपसे सदैव अविनाशी होनेसे नित्य है; अनादि-अनंत रूपादिके

जेअंश अंतिम स्कंधनो, परमाणु जाणो तेहने ।
ते एक ने अविभाग, शाश्वत, मूर्तिप्रभव, अशब्द छे ॥७७॥

गुणत्वाभावात्पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वेन वक्ष्यमाणत्वाच्चाशब्दो निश्चीयत इति ॥ ७७ ॥

आदेसमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारणं जो दु ।
सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो ॥७८॥

आदेशमात्रमूर्त्तः धातुचतुष्कस्य कारणं यस्तु ।
स ज्ञेयः परमाणुः परिणामगुणः स्वयमशब्दः ॥ ७८ ॥

परमाणूनां जात्यंतरत्वनिरासोऽयम् । परमाणोर्हि मूर्तत्वनिबंधनभूताः स्पर्शरसगंधवर्णा आदेशमात्रेणैव भिद्यन्ते; वस्तुतस्तु यथा तस्य स एव प्रदेश आदिः, स एव मध्यं, स

परिणामसे उत्पन्न होनेके कारण *मूर्तिप्रभव है; और रूपादिके परिणामसे उत्पन्न होने पर भी अशब्द है ऐसा निश्चित है, क्योंकि शब्द परमाणुका गुण नहीं है तथा उसका (शब्दका) अब (७९ वीं गाथा में) पुद्गलस्कन्धपर्यायरूपसे कथन है । ७७ ।

गाथा ७८

अन्वयार्थः—[यः तु] जो [आदेशमात्रमूर्त्तः] आदेशमात्रसे मूर्त है (अर्थात् मात्र भेदविवक्षासे मूर्तत्ववाला कहलाता है) और [धातुचतुष्कस्य कारणं] जो (पृथ्वी आदि) चार धातुओंका कारण है [सः] वह [परमाणुः ज्ञेयः] परमाणु जानना— [परिणामगुणः] जो कि परिणामगुणवाला है और [स्वयम् अशब्दः] स्वयं अशब्द है ।

टीकाः—परमाणु भिन्न-भिन्न जातिके होनेका यह खंडन है ।

मूर्तत्वके कारणभूत स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णका, परमाणुसे [1]आदेशमात्र द्वारा ही भेद किया जाता है; वस्तुतः तो जिसप्रकार परमाणुका वही प्रदेश आदि है,

---

* मूर्तिप्रभव=मूर्तपनेरूपसे उत्पन्न होनेवाला अर्थात् रूप-गन्ध-रस-स्पर्शके परिणामरूपसे जिसका उत्पाद होता है ऐसा । (मूर्ति=मूर्तपना)

१. आदेश=कथन । [मात्र भेदकथन द्वारा ही परमाणुसे स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णका भेद किया जाता है; परमार्थतः तो परमाणुसे स्पर्श–रस–गन्ध–वर्णका अभेद है ।]

आदेशमात्रथी मूर्त, धातुचतुष्कनो छे हेतु जो,
ते जाणवो परमाणु–जे परिणामी, आप अशब्द छे ॥७८॥

एवांतः इति, एवं द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात् य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गंधस्य, स एव रूपस्येति । ततः क्वचित्परमाणौ गंधगुणे, क्वचित् गंधरस-गुणयोः, क्वचित् गंधरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु तदविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति । न तदपकर्षो युक्तः । ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणं परिणामवशात् । विचित्रो हि परमाणोः परिणामगुणः क्वचित्कस्यचिद्गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वेन विचित्रां परिणतिमादधाति । यथा च तस्य परिणामवशादव्यक्तो गन्धादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन

वही मध्य है और वही अन्त है; उसीप्रकार द्रव्य और गुणके अभिन्न प्रदेश होनेसे, जो परमाणुका प्रदेश है, वही स्पर्शका है, वही रसका है, वही गन्धका है, वही रूपका है। इसलिये किसी परमाणुमें गन्धगुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुणसे अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिये उस गुणकी न्यूनता युक्त (उचित) नहीं है। [किसी भी परमाणुमें एक भी गुण कम हो तो उस गुणके साथ अभिन्न प्रदेशी परमाणु ही नष्ट हो जायेगा; इसलिये समस्त परमाणु समान गुणवाले ही हैं, अर्थात् वे भिन्न भिन्न जातिके नहीं हैं।] इसलिये पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप चार धातुओंका, परिणामके कारण, एक ही परमाणु कारण है (अर्थात् परमाणु एक ही जातिके होने पर भी वे परिणामके कारण चार धातुओंके कारण बनते हैं); क्योंकि विचित्र ऐसा परमाणुका परिणामगुण कहीं किसी गुणकी [1]व्यक्ताव्यक्तता द्वारा विचित्र परिणतिको धारण करता है।

और जिसप्रकार परमाणुको परिणामके कारण [2]अव्यक्त गंधादिगुण हैं ऐसा

---

१. व्यक्ताव्यक्तता=व्यक्तता अथवा अव्यक्तता; प्रगटता अथवा अप्रगटता। [पृथ्वीमें स्पर्श, रस-गन्ध और वर्ण यह चारों गुण व्यक्त (अर्थात् व्यक्तरूपसे परिणत) होते हैं; पानीमें स्पर्श, रस और वर्ण व्यक्त होते हैं तथा गन्ध अव्यक्त होता है; अग्निमें स्पर्श और वर्ण व्यक्त होते हैं और शेष दो अव्यक्त होते हैं; वायुमें स्पर्श व्यक्त होता है और शेष तीन अव्यक्त होते हैं।]

२. जिसप्रकार परमाणुमें गंधादिगुण भले ही अव्यक्तरूपसे भी होते तो अवश्य हैं; उसीप्रकार परमाणुमें शब्द भी अव्यक्तरूपसे रहता होगा ऐसा नहीं है, शब्द तो परमाणुमें व्यक्तरूपसे या अव्यक्तरूपसे बिलकुल होता ही नहीं है।

शब्देन सहैकत्वविरोधादिति ॥ ७८ ॥

सद्दो खंधप्पभवो खंधो परमाणुसंगसंघादो ।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादिगो णियदो ॥ ७९ ॥

शब्दः स्कन्धप्रभवः स्कन्धः परमाणुसङ्गसङ्घातः ।
स्पृष्टेषु तेषु जायते शब्द उत्पादिको नियतः ॥ ७९ ॥

शब्दस्य पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वख्यापनमेतत् । इह हि बाह्यश्रवणेन्द्रियावलम्बितो भावेन्द्रियपरिच्छेद्यो ध्वनिः शब्दः । स खलु स्वरूपेणानंतपरमाणूनामेकस्कन्धो नाम पर्यायः । बहिरङ्गसाधनीभूतमहास्कन्धेभ्यः तथाविधपरिणामेन समुत्पद्यमानत्वात् स्कन्धप्रभवः, यतो हि परस्पराभिहतेषु महास्कंधेषु शब्दः समुपजायते । किं च स्वभावनिर्वृत्ताभिरेवानंतपरमाणुमयीभिः

ज्ञात होता है उसीप्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एकप्रदेशी परमाणुको अनेकप्रदेशात्मक शब्दके साथ एकत्व होनेमें विरोध है । ७८ ।

गाथा ७९

अन्वयार्थः—[शब्दः स्कन्धप्रभवः] शब्द स्कन्धजन्य है । [स्कन्धः परमाणुसङ्गसङ्घातः] स्कन्ध परमाणुदलका संघात है, [तेषु स्पृष्टेषु] और वे स्कन्ध स्पर्शित होने—टकरानेसे [शब्दः जायते] शब्द उत्पन्न होता है; [नियतः उत्पादिकः] इसप्रकार वह (शब्द) नियतरूपसे उत्पाद्य है ।

टीकाः—शब्द पुद्‌गलस्कन्धपर्याय है ऐसा यहाँ दर्शाया है ।

इस लोकमें, बाह्य [1]श्रवणेन्द्रिय द्वारा अवलम्बित, भावेन्द्रिय द्वारा जानने-योग्य ऐसी जो ध्वनि वह शब्द है । वह (शब्द) वास्तविक स्वरूपसे अनन्त परमाणुओंके एक स्कन्धरूप पर्याय है । बहिरंग साधनभूत (–बाह्य–कारणभूत) महास्कन्धों द्वारा तथाविध परिणामरूप (शब्दपरिणामरूप) उत्पन्न होनेसे वह

---

१. शब्द श्रवणेन्द्रियका विषय है इसलिये वह मूर्त है । कुछ लोग मानते हैं तदनुसार शब्द आकाशका गुण नहीं है, क्योंकि अमूर्त आकाशका अमूर्त गुण इन्द्रियका विषय नहीं हो सकता ।

छे शब्द स्कंधोत्पन्न; स्कंधो अणुसमूहसंघात छे ।
स्कंधाभिघाते शब्द उपजे, नियमथी उत्पाद्य छे ॥ ७९ ॥

शब्दयोग्यवर्गणाभिरन्योन्यमनुप्रविश्य समंततोऽभिव्याप्य पूरितेऽपि सकले लोके यत्र यत्र बहिरङ्गकारणसामग्री समुदेति तत्र तत्र ताः शब्दत्वेन स्वयं व्यपरिणमंत इति शब्दस्य नियतमुत्पाद्यत्वात् स्कन्धप्रभवत्वमिति ।। ७९ ।।

स्कन्धजन्य है, क्योंकि महास्कन्ध परस्पर टकरानेसे शब्द उत्पन्न होता है। पुनश्च यह बात विशेष समझाई जाती है:—एकदूसरेमें प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित ऐसी जो स्वभावनिष्पन्न ही (–अपने स्वभावसे ही निर्मित), अनन्तपरमाणुमयी शब्दयोग्य-वर्गणाओंसे समस्त लोक भरपूर होने पर भी जहाँ–जहाँ बहिरंगकारण-सामग्री उदित होती है वहाँ-वहाँ वे वर्गणाएँ [1]शब्दरूपसे स्वयं परिणमित होती हैं; इसप्रकार शब्द नियतरूपसे (अवश्य) [2]उत्पाद्य है; इसलिये वह [3]स्कंधजन्य है।७९।

---

१. शब्दके दो प्रकार हैं—(१) प्रायोगिक और (२) वैश्रसिक। पुरुषादिके प्रयोगसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वह प्रायोगिक है और मेघादिसे उत्पन्न होनेवाला शब्द वैश्रसिक है।

अथवा निम्नोक्तानुसार भी शब्दके दो प्रकार हैं :—(१) भाषात्मक और (२) अभाषात्मक। उनमें भाषात्मक शब्द द्विविध है—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। संस्कृतप्राकृतादिभाषारूपसे वह अक्षरात्मक है और द्वीन्द्रियादिक जीवोंके शब्दरूपसे तथा (केवलीभगवानकी) दिव्य ध्वनि रूपसे वह अनक्षरात्मक है। अभाषात्मक शब्द भी द्विविध है—प्रायोगिक और वैश्रसिक। वीणा, ढोल, झांझ, बंसरी आदिसे उत्पन्न होता हुआ वह प्रायोगिक है और मेघादिसे उत्पन्न होता हुआ वह वैश्रसिक है।

किसी भी प्रकारका शब्द हो किन्तु सर्व शब्दोंका उपादान कारण लोकमें सर्वत्र व्याप्त शब्द-योग्य वर्गणाएँ ही हैं; वे वर्गणाएँ ही स्वयमेव शब्दरूपसे परिणमित होती हैं; जीभ-ढोल-मेघ आदि मात्र निमित्तभूत हैं।

२. उत्पाद्य=उत्पन्न कराने योग्य; जिसकी उत्पत्तिमें अन्य कोई निमित्त होता है ऐसा।

३. स्कन्धजन्य=स्कन्धों द्वारा उत्पन्न हो ऐसा; जिसकी उत्पत्तिमें स्कन्ध निमित्त होते हैं ऐसा। [समस्त लोकमें सर्वत्र व्याप्त अनन्तपरमाणुमयी शब्दयोग्य वर्गणाएँ स्वयमेव शब्दरूप परिणमित होने पर भी वायु–गला–तालु–जिह्वा–ओष्ठ, घंटा-मोगरी आदि महा-स्कन्धोंका टकराना वह बहिरंगकारणसामग्री है अर्थात् शब्दरूप परिणमनमें वे महास्कंध निमित्तभूत हैं इसलिये उस अपेक्षासे (निमित्त-अपेक्षासे) शब्दको व्यवहारसे स्कन्धजन्य कहा जाता है।]

णिच्चो णाणवगासो ण सावगासो पदेसदो भेदा ।
खंधाणं पि य कत्ता पविहत्ता कालसंखाणं ॥ ८० ॥

नित्यो नानवकाशो न सावकाशः प्रदेशतो भेत्ता ।
स्कंधानामपि च कर्ता प्रविभक्ता कालसंख्यायाः ॥ ८० ॥

परमाणोरेकप्रदेशत्वख्यापनमेतत् । परमाणुः स खल्वेकेन प्रदेशेन रूपादिगुणसामान्यभाजा सर्वदैवाविनश्वरत्वान्नित्यः; एकेन प्रदेशेन तदविभक्तवृत्तीनां स्पर्शादिगुणानामवकाशदानान्नानवकाशः; एकेन प्रदेशेन द्व्यादिप्रदेशाभावादात्मादिनात्ममध्येनात्मांतेन न सावकाशः; एकेन प्रदेशेन स्कन्धानां भेदनिमित्तत्वात् स्कन्धानां भेत्ता; एकेन प्रदेशेन स्कंधसंघातनिमित्तत्वात्स्कंधानां

गाथा ८०

अन्वयार्थः—[प्रदेशतः] प्रदेश द्वारा [नित्यः] परमाणु नित्य है, [न अनवकाशः] अनवकाश नहीं है, [न सावकाशः] सावकाश नहीं है, [स्कन्धानाम् भेत्ता] स्कन्धोंका भेदन करनेवाला [अपि च कर्ता] तथा करनेवाला है और [कालसंख्यायाः प्रविभक्ता] काल तथा संख्याको विभाजित करनेवाला है (अर्थात् कालका विभाजन करता है और संख्याका माप करता है) ।

टीकाः—यह, परमाणुके एकप्रदेशीपनेका कथन है ।

जो परमाणु है, वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा—जो कि रूपादिगुणसामान्यवाला है उसके द्वारा—सदैव अविनाशी होनेसे नित्य है; वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा उससे (–प्रदेशसे) अभिन्न अस्तित्ववाले स्पर्शादिगुणोंको अवकाश देता है इसलिये अनवकाश नहीं है; वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा (उसमें) द्वि-आदि प्रदेशोंका अभाव होनेसे, स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अंत होनेके कारण (अर्थात् निरंश होनेके कारण), सावकाश नहीं है; वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा स्कन्धोंके भेदका निमित्त होनेसे (अर्थात् स्कंधके बिखरने–टूटनेका निमित्त होनेसे) स्कन्धोंका भेदन करनेवाला है; वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा स्कन्धके संघातका निमित्त होनेसे (अर्थात् स्कन्धके मिलनेका—रचनाका निमित्त होनेसे) स्कन्धोंका कर्ता है; वह वास्तवमें

नहि अनवकाश, न सावकाश प्रदेशथी, अणु शाश्वतो ।
भेत्ता रचयिता स्कंधनो, प्रविभागी संख्या-काळनो ॥ ८० ॥

कर्ता; एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितद्गतिपरिणामापन्नेन समयलक्षणकालविभागकरणात् कालस्य प्रविभक्ता; एकेन प्रदेशेन तत्सूत्रितद्व्यादिभेदपूर्विकायाः स्कंधेषु द्रव्यसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तदवच्छिन्नैकाकाशप्रदेशपूर्विकायाः क्षेत्रसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेनैकाकाशप्रदेशातिवर्तितद्गतिपरिणामावच्छिन्नसमयपूर्विकायाः कालसंख्यायाः, एकेन प्रदेशेन तद्विवर्तिजघन्य-

---

एक प्रदेश द्वारा—जो कि एक आकाशप्रदेशका अतिक्रमण करनेवाले (–लांघनेवाले) अपने गतिपरिणामको प्राप्त होता है उसके द्वारा—'समय' नामक कालका विभाग करता है इसलिये कालका विभाजक है; वह वास्तवमें एक प्रदेश द्वारा संख्याका भी [1]विभाजक है, क्योंकि (१) वह एक प्रदेश द्वारा उसके रचे जानेवाले दो आदि भेदोंसे लेकर (तीन अणु, चार अणु, असंख्य अणु इत्यादि) द्रव्यसंख्याके विभाग स्कन्धोंमें करता है, (२) वह एक प्रदेश द्वारा उसके जितनी मर्यादावाले एक '[2]आकाशप्रदेशसे' लेकर (दो आकाशप्रदेश, तीन आकाशप्रदेश, असंख्य आकाशप्रदेश इत्यादि) क्षेत्रसंख्याके विभाग करता है, (३) वह एक प्रदेश द्वारा, एक आकाशप्रदेशका अतिक्रम करनेवाले उसके गतिपरिणाम जितनी मर्यादावाले '[3]समयसे' लेकर (दो समय, तीन समय, असंख्य समय इत्यादि) कालसंख्याके विभाग करता है, और (४) वह एक प्रदेश द्वारा उसमें विवर्तन पानेवाले (–परिवर्तित, परिण-

---

१. विभाजक=विभाग करनेवाला, मापनेवाला। [स्कन्धोंमें द्रव्यसंख्याका माप (अर्थात् वे कितने अणुओं—परमाणुओंसे बने हैं ऐसा माप) करनेमें अणुओंकी—परमाणुओंकी अपेक्षा आती है, अर्थात् वैसा माप परमाणु द्वारा होता है। क्षेत्रके मापका एकक (एकम्) 'आकाशप्रदेश' है और आकाशप्रदेशकी व्याख्यामें परमाणुकी अपेक्षा आती है; इसलिये क्षेत्रका माप भी परमाणु द्वारा होता है। कालके मापका एकक 'समय' है और समयकी व्याख्यामें परमाणुकी अपेक्षा आती है; इसलिये कालका माप भी परमाणु द्वारा होता है। ज्ञानभावके (-ज्ञानपर्यायके) मापका एकक "परमाणुमें परिणमित जघन्य वर्णादिभावको जाने उतना ज्ञान" है और उसमें परमाणुकी अपेक्षा आती है; इसलिए भावका (-ज्ञानभावका) माप भी परमाणु द्वारा होता है। इसप्रकार परमाणु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका माप करनेके लिये गज समान है।]

२. एक परमाणुप्रदेश जितने आकाशके भागको (–क्षेत्रको) 'आकाशप्रदेश' कहा जाता है। वह 'आकाशप्रदेश' क्षेत्रका 'एकक' है। [गिनती के लिये, किसी वस्तुके जितने परिमाणको 'एक-माप' माना जाये, उतने परिमाणको उस वस्तुका 'एकक' कहा जाता है।]

३. परमाणुको एक आकाशप्रदेशसे दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेशमें (मंदगतिसे) जाते हुए जो समय लगता है उसे 'समय' कहा जाता है।

वर्णादिभावावबोधपूर्विकाया भावसंख्यायाः प्रविभागकरणात् प्रविभक्ता संख्याया अपीति ॥ ८० ॥

एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं ।
खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ॥ ८१ ॥

एकरसवर्णगंधं द्विस्पर्शं शब्दकारणमशब्दम् ।
स्कंधांतरितं द्रव्यं परमाणुं तं विजानीहि ॥ ८१ ॥

परमाणुद्रव्ये गुणपर्यायवृत्तिप्ररूपणमेतत् । सर्वत्रापि परमाणौ रसवर्णगंधस्पर्शाः सहभुवो गुणाः । ते च क्रमप्रवृत्तैस्तत्र स्वपर्यायैर्वर्तन्ते । तथा हि—पञ्चानां रसपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा रसो वर्तते । पञ्चानां वर्णपर्यायाणामन्यतमेनैकेनैकदा वर्णो वर्तते । उभयोर्गंधपर्याययोरन्यतरेणैकेनैकदा गंधो वर्तते । चतुर्णां शीतस्निग्धशीतरूक्षोष्णस्निग्धोष्णरूक्षरूपाणां

मित) जघन्य वर्णादिकभावको जाननेवाले ज्ञानसे लेकर भावसंख्याके विभाग करता है । ८० ।

गाथा ८१

अन्वयार्थः—[तं परमाणुं] वह परमाणु [एकरसवर्णगंधं] एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला तथा [द्विस्पर्शं] दो स्पर्शवाला है; [शब्दकारणम्] शब्दका कारण है, [अशब्दम्] अशब्द है और [स्कंधांतरितं] स्कन्धके भीतर हो तथापि [द्रव्यं] (परिपूर्ण स्वतन्त्र) द्रव्य है ऐसा [विजानीहि] जानो ।

टीकाः—यह, परमाणुद्रव्यमें गुण-पर्याय वर्तनेका (गुण और पर्याय होनेका कथन है ।

सर्वत्र परमाणुमें रस-वर्ण-गंध स्पर्श सहभावी गुण होते हैं; और वे गुण उसमें क्रमवर्ती निज पर्यायों सहित वर्तते हैं । वह इसप्रकारः—पाँच रसपर्यायोंमेंसे एक समय कोई एक (रसपर्याय) सहित रस वर्तता है; पाँच वर्णपर्यायोंमेंसे एक समय किसी एक वर्णपर्याय सहित वर्ण वर्तता है; दो गंधपर्यायोंमेंसे एक समय किसी एक (गंधपर्याय) सहित गंध वर्तता है; शीतस्निग्ध, शीत-रूक्ष, उष्ण-स्निग्ध और उष्ण-रूक्ष

अेक ज वरण-रस-गंध ने बे स्पर्शयुत परमाणु छे ।
ते शब्दहेतु, अशब्द छे, ने स्कंधमां पण द्रव्य छे ॥८१॥

स्पर्शपर्यायद्वन्द्वानामन्यतमेनैकेनैकदा स्पर्शो वर्तते । एवमयमुक्तगुणवृत्तिः परमाणुः शब्दस्कंध-परिणतिशक्तिस्वभावात् शब्दकारणम् । एकप्रदेशत्वेन शब्दपर्यायपरिणतिवृत्त्यभावादशब्दः । स्निग्धरूक्षत्वप्रत्ययबंधवशादनेकपरमाण्वेकत्वपरिणतिरूपस्कन्धांतरितोऽपि स्वभावमपरित्यजन्नु-पात्तसंख्यत्वादेक एव द्रव्यमिति ॥ ८१ ॥

उवभोज्जमिंदिएहिं य इंदियकाया मणो य कम्माणि ।
जं हवदि मुत्तमण्णं तं सव्वं पोग्गलं जाणे ॥ ८२ ॥

उपभोग्यमिन्द्रियैश्चेन्द्रियकाया मनश्च कर्माणि ।
यद्भवति मूर्तमन्यत् तत्सर्वं पुद्गलं जानीयात् ॥ ८२ ॥

इन चार स्पर्शपर्यायोंके युगलमेंसे एक समय किसी एक युगल सहित स्पर्श वर्तता है । इसप्रकार जिसमें गुणोंका वर्तन (–अस्तित्व) कहा गया है ऐसा यह परमाणु शब्द-स्कन्धरूपसे परिणमित होनेकी शक्तिरूप स्वभाववाला होनेसे शब्दका कारण है; एक-प्रदेशी होनेके कारण शब्दपर्यायरूप परिणति न वर्तती होनेसे अशब्द है; और [1]स्निग्ध-रूक्षत्वके कारण बंध होनेसे अनेक परमाणुओंकी एकत्वपरिणतिरूप स्कन्धके भीतर रहा हो तथापि स्वभावको न छोड़ता हुआ, संख्याको प्राप्त होनेसे (अर्थात् परिपूर्ण एककी भाँति पृथक् गिनतीमें आनेसे) [2]अकेला ही द्रव्य है । ८१ ।

गाथा ८२

अन्वयार्थः—[इन्द्रियैः उपभोग्यम् च] इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, [इन्द्रियकायाः] इन्द्रियाँ, शरीर, [मनः] मन, [कर्माणि] कर्म [च] और [अन्यत् यत्] अन्य जो कुछ [मूर्तं भवति] मूर्त हो [तत् सर्वं] वह सब [पुद्गलं जानीयात्] पुद्गल जानो ।

---

१ स्निग्ध-रूक्षत्व = चिकनाई और रूक्षता ।

२ यहाँ ऐसा बतलाया है कि स्कन्धमें भी प्रत्येक परमाणु स्वयं परिपूर्ण है, स्वतंत्र है, परकी सहायता से रहित और अपनेसे ही अपने गुणपर्यायमें स्थित है ।

इंद्रिय वडे उपभोग्य, इन्द्रिय, काय, मन ने कर्म जे ।
वळी अन्य जे कंई मूर्त ते सघळुंय पुद्गल जाणजे ॥८२॥

सकलपुद्गलविकल्पोपसंहारोऽयम् । इन्द्रियविषयाः स्पर्शरसगंधवर्णशब्दाश्च, द्रव्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि, कायाः औदारिकवैक्रियकाहारकतैजसकार्मणानि-शरीराणि, द्रव्यमनः, द्रव्यकर्माणि, नोकर्माणि, विचित्रपर्यायोत्पत्तिहेतवोऽनंता अनन्ताणुवर्गणाः, अनन्ता असंख्येयाणुवर्गणाः, अनन्ताः संख्येयाणुवर्गणाः द्व्यणुकस्कंधपर्यंताः, परमाण्वश्च, यदन्यदपि मूर्तं तत्सर्वं पुद्गलविकल्पत्वेनोपसंहर्तव्यमिति ॥८२॥

—इति पुद्गलद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम् ।

टीकाः—यह, सर्व पुद्गलभेदोंका उपसंहार है ।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दरूप (पाँच) इन्द्रियविषय, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्ररूप (पाँच) द्रव्येन्द्रियाँ, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मणरूप (पाँच) शरीर, द्रव्यमन, द्रव्यकर्म, नोकर्म, विचित्र पर्यायोंकी उत्पत्तिके हेतुभूत (अर्थात् अनेक प्रकारकी पर्यायें, उत्पन्न होनेके कारणभूत) [1]अनंत अनंताणुक वर्गणाएँ, अनंत असंख्याताणुक वर्गणाएँ और द्वि-अणुक स्कन्ध तककी अनंत संख्याताणुक वर्गणाएं तथा परमाणु तथा अन्य जो कुछ मूर्त हो वह सब पुद्गलके भेद-रूपसे समेटना ।

भावार्थः—वीतराग अतीन्द्रिय सुखके स्वादसे रहित जीवोंको उपभोग्य पंचेन्द्रियविषय, अतीन्द्रिय आत्मस्वरूपसे विपरीत पाँच इन्द्रियाँ, अशरीर आत्मपदार्थसे प्रतिपक्षभूत पाँच शरीर, मनोगत-विकल्पजालरहित शुद्धजीवास्तिकायसे विपरीत मन, कर्मरहित आत्मद्रव्यसे प्रतिकूल आठ कर्म और अमूर्त आत्मस्वभावसे प्रतिपक्षभूत अन्य भी जो कुछ मूर्त हो वह सब पुद्गल जानो ।८२।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका व्याख्यान है ।

---

१. लोकमें अनन्त परमाणुओंकी बनी हुई वर्गणाएँ अनन्त हैं, असंख्यात परमाणुओंकी बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं और (द्वि-अणुक स्कन्ध, त्रि-अणुक स्कन्ध इत्यादि) संख्यात परमाणुओंकी बनी हुई वर्गणाएँ भी अनन्त हैं । (अविभागी परमाणु भी अनंत हैं ।)

धम्मत्थिकायमरसं अवण्णगंधं असद्दमप्फासं ।
लोगागाढं पुट्ठं पिहुलमसंखादियपदेसं ॥ ८३ ॥

धर्मास्तिकायोऽरसोऽवर्णगंधोऽशब्दोऽस्पर्शः ।
लोकावगाढः स्पृष्टः पृथुलोऽसंख्यातप्रदेशः ॥ ८३ ॥

धर्मस्वरूपाख्यानमेतत् । धर्मो हि स्पर्शरसगन्धवर्णानामत्यंताभावादमूर्तस्वभावः । तत एव चाशब्दः । सकललोकाकाशाभिव्याप्यावस्थितत्वाल्लोकावगाढः, अयुतसिद्धप्रदेशत्वात् स्पृष्टः, स्वभावादेव सर्वतो विस्तृतत्वात्पृथुलः, निश्चयनयेनैकप्रदेशोऽपि व्यवहारनयेनासंख्यातप्रदेश इति ॥ ८३ ॥

गाथा ८३

अन्वयार्थः—[धर्मास्तिकायः] धर्मास्तिकाय [अस्पर्शः] अस्पर्श, [अरसः] अरस, [अवर्णगंधः] अगंध, अवर्ण और [अशब्दः] अशब्द है; [लोकावगाढः] लोकव्यापक है; [स्पृष्टः] अखण्ड [पृथुलः] विशाल और [असंख्यातप्रदेशः] असंख्यातप्रदेशी है ।

टीकाः—यह, धर्मके (धर्मास्तिकायके) स्वरूपका कथन है ।

स्पर्श, रस, गंध और वर्णका अत्यन्त अभाव होनेसे धर्म (धर्मास्तिकाय) वास्तवमें अमूर्तस्वभाववाला है; और इसीलिए अशब्द है; समस्त लोकाकाशमें व्याप्त होकर रहनेसे लोकव्यापक हैं; [1]अयुतसिद्ध प्रदेशवाला होनेसे अखण्ड है; स्वभावसे ही सर्वतः विस्तृत होनेसे विशाल है; निश्चयनयसे [2]एकप्रदेशी होने पर भी व्यवहार-नयसे असंख्यातप्रदेशी है ।८३।

---

१. युतसिद्ध=जुड़े हुए; संयोगसिद्ध । [धर्मास्तिकायमें भिन्न-भिन्न प्रदेशोंका संयोग हुआ है ऐसा नहीं है, इसलिए उसमें बीचमें व्यवधान—अंतर—अवकाश नहीं है; इसलिए धर्मास्तिकाय अखण्ड है ।]

२. एकप्रदेशी=अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला । (निश्चयनयसे धर्मास्तिकाय अविभाज्य-एक-पदार्थ होनेसे अविभाज्य-एकक्षेत्रवाला है ।)

धर्मास्तिकाय अवर्णगंध, अशब्दरस, अस्पर्श छे ।
लोकावगाही, अखंड छे, विस्तृत, असंख्यप्रदेश छे ।।८३।।

अगुरुगलघुगेहिं सया तेहिं अणंतेहिं परिणदं णिच्चं ।
गदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं सयमकज्जं ।। ८४ ।।

अगुरुकलघुकैः सदा तैः अनंतैः परिणतः नित्यः ।
गतिक्रियायुक्तानां कारणभूतः स्वयमकार्यः ।।८४।।

धर्मस्यैवावशिष्टस्वरूपाख्यानमेतत् । अपि च धर्मः अगुरुलघुभिर्गुणैरगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबंधनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदैः प्रतिसमयसंभवत्षट्स्थानपतितवृद्धिहानिभिरनंतैः सदा परिणतत्वादुत्पादव्ययवत्वेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनान्नित्यः, गतिक्रिया-

---

गाथा ८४

अन्वयार्थः—[अनंतैः तैः अगुरुकलघुकैः] वह (धर्मास्तिकाय) अनंत ऐसे जो अगुरुलघु (गुण, अंश) उन-रूप [सदा परिणतः] सदैव परिणामित होता है, [नित्यः] नित्य है, [गतिक्रियायुक्तानां] गतिक्रियायुक्त और [कारणभूतः] कारणभूत (निमित्तरूप) है और [स्वयम् अकार्यः] स्वयं अकार्य है ।

टीकाः—यह, धर्मके ही शेष स्वरूपका कथन है ।

पुनश्च, धर्म (धर्मास्तिकाय) अगुरुलघु [1]गुणोंरूपसे अर्थात् अगुरुलघुत्व नामका जो स्वरूपप्रतिष्ठत्वके कारणभूत स्वभाव उसके अविभाग प्रतिच्छेदोंरूपसे—जो कि प्रतिसमय होनेवाली [2]षट्स्थानपतित वृद्धिहानिवाले अनन्त हैं उनके रूपसे—सदैव परिणमित होनेसे उत्पादव्ययवाला है, तथापि स्वरूपसे च्युत नहीं होता इसलिए नित्य

---

१. गुण=अंश; अविभाग परिच्छेद । [सर्व द्रव्योंकी भाँति धर्मास्तिकायमें अगुरुलघुत्व नामका स्वभाव है । वह स्वभाव धर्मास्तिकायको स्वरूपप्रतिष्ठत्वके (अर्थात् स्वरूपमें रहनेके) कारणभूत है । उसके अविभाग प्रतिच्छेदोंको यहाँ अगुरुलघु गुण (-अंश) कहे हैं ।]

२. षट्स्थानपतित वृद्धिहानि=छह स्थानमें समावेश पानेवाली वृद्धिहानि; षट्गुण वृद्धिहानि । [अगुरुलघुत्वस्वभावके अनंत अंशोंमें स्वभावसे ही प्रतिसमय षट्गुण वृद्धिहानि होती रहती है ।]

जे अगुरुलघुक अनंत ते-रूप सर्वदा ए परिणमे ।
छे नित्य, आप अकार्य छे, गतिपरिणमितने हेतु छे ।।८४।।

परिणतानामुदासीनाविनाभूतसहायमात्रत्वात्कारणभूतः, स्वास्तित्वमात्रनिर्वृत्तत्वात् स्वयमकार्य इति ॥ ८४ ॥

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहकरं हवदि लोए।
तह जीवपोग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणाहि ॥ ८५ ॥

उदकं यथा मत्स्यानां गमनानुग्रहकरं भवति लोके।
तथा जीवपुद्गलानां धर्मद्रव्यं विजानीहि ॥ ८५ ॥

है; गतिक्रियापरिणतको (गतिक्रियारूपसे परिणमित होनेमें जीव-पुद्गलोंको) [1]उदासीन [2]अविनाभावी सहायमात्र होनेसे (गतिक्रियापरिणतको) कारणभूत है; अपने अस्तित्वमात्रसे निष्पन्न होनेके कारण स्वयं अकार्य है (अर्थात् स्वयंसिद्ध होनेके कारण किसी अन्यसे उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए किसी अन्य कारणके कार्यरूप नहीं है। ८४।

गाथा ८५

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [लोके] जगतमें [उदकं] पानी [मत्स्यानां] मछलियोंको [गमनानुग्रहकरं भवति] गमनमें अनुग्रह करता है, [तथा] उसीप्रकार [धर्मद्रव्यं] धर्मद्रव्य [जीवपुद्गलानां] जीव-पुद्गलोंको गमनमें अनुग्रह करता है (–निमित्तभूत होता है) ऐसा [विजानीहि] जानो।

---

१. जिसप्रकार सिद्धभगवान, उदासीन होने पर भी, सिद्धगुणोंके अनुरागरूपसे परिणमित भव्य जीवोंको सिद्धगतिके सहकारी कारणभूत हैं, उसीप्रकार धर्म भी, उदासीन होने पर भी, अपने अपने भावोंसे ही गतिरूप परिणमित जीवपुद्गलोंको गतिका सहकारी कारण है।

२ यदि कोई एक, किसी दूसरेके विना न हो, तो पहलेको दूसरेका अविनाभावी कहा जाता है। यहाँ धर्मद्रव्यको "गतिक्रियापरिणतका अविनाभावी सहायमात्र" कहा है उसका यह अर्थ है कि—गतिक्रियापरिणत जीव-पुद्गल न हों तो वहाँ धर्मद्रव्य उन्हें सहायमात्ररूप भी नहीं है; जीव-पुद्गल स्वयं गतिक्रियारूपसे परिणमित होते हों तभी धर्मद्रव्य उन्हें उदासीन सहायमात्ररूप (निमित्तमात्ररूप) है, अन्यथा नहीं।

ज्यम जगतमां जळ मीनने अनुग्रह करे छे गमनमां।
त्यम धर्म पण अनुग्रह करे जीव-पुद्गलोने गमनमां ॥८५॥

धर्मस्य गतिहेतुत्वे दृष्टांतोऽयम् । यथोदकं स्वयमगच्छदगमयच्च स्वयमेव गच्छतां मत्स्यानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनंमनुगृह्णाति, तथा धर्मोऽपि स्वयमगच्छन् अगमयंश्च स्वयमेव गच्छतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन गमनमनुगृह्णाति इति ॥ ८५ ॥

जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं ।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥ ८६ ॥

यथा भवति धर्मद्रव्यं तथा तज्जानीहि द्रव्यमधर्माख्यम् ।
स्थितिक्रियायुक्तानां कारणभूतं तु पृथिवीव ॥ ८६ ॥

टीकाः—यह, धर्मके गतिहेतुत्वका दृष्टान्त है ।

जिसप्रकार पानी स्वयं गमन न करता हुआ और (परको) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करती हुई मछलियोंको उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारण-मात्ररूपसे गमनमें अनुग्रह करता है, उसीप्रकार धर्म (धर्मास्तिकाय) भी स्वयं गमन न करता हुआ और (परको) गमन न कराता हुआ, स्वयमेव गमन करते हुए जीव-पुद्गलोंको उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्ररूपसे [1]गमनमें अनुग्रह करता है । ८५ ।

गाथा ८६

अन्वयार्थः—[यथा] जिसप्रकार [धर्मद्रव्यं भवति] धर्मद्रव्य है [तथा] उसीप्रकार [अधर्माख्यम् द्रव्यम्] अधर्म नामका द्रव्य भी [जानीहि] जानो; [तत् तु] परन्तु वह (गतिक्रियायुक्तको कारणभूत होनेके बदले) [स्थितिक्रियायुक्तानाम्] स्थितिक्रियायुक्तको [पृथिवी इव] पृथ्वीकी भाँति [कारणभूतम्] कारणभूत है (अर्थात् स्थितिक्रियापरिणत जीव-पुद्गलोंको निमित्तभूत है) ।

---

१. गमनमें अनुग्रह करना अर्थात् गमनमें उदासीन अविनाभावी सहायरूप (निमित्तरूप) कारणमात्र होना ।

ज्यम धर्मनामक द्रव्य तेम अधर्मनामक द्रव्य छे ।
पण द्रव्य आ छे पृथ्वी माफक हेतु थितिपरिणमितने ॥८६॥

अधर्मस्वरूपाख्यानमेतत् । यथा धर्मः प्रज्ञापितस्तथाऽधर्मोऽपि प्रज्ञापनीयः । अयं तु विशेषः । स गतिक्रियायुक्तानामुदकवत्कारणभूतः, एषः पुनः स्थितिक्रियायुक्तानां पृथिवीवत्कारणभूतः । यथा पृथिवी स्वयं पूर्वमेव तिष्ठंती परमस्थापयंती च स्वयमेव तिष्ठतामश्वादीनामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णाति, तथाऽधर्मोऽपि स्वयं पूर्वमेव तिष्ठन् परमस्थापयंश्च स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामुदासीनाविनाभूतसहायकारणमात्रत्वेन स्थितिमनुगृह्णातीति ।। ८६ ।।

जादो अलोगलोगो जेसिं सब्भावदो य गमणठिदी ।
दो वि य मया विभत्ता अविभत्ता लोयमेत्ता य ।।८७।।

जातमलोकलोकं ययोः सद्भावतश्च गमनस्थिती ।
द्वावपि च मतौ विभक्तावविभक्तौ लोकमात्रौ च ।।८७।।

टीकाः—यह, अधर्मके स्वरूपका कथन है ।

जिसप्रकार धर्मका प्रज्ञापन किया गया, उसीप्रकार अधर्मका भी प्रज्ञापन करने योग्य है । परन्तु यह (निम्नोक्तानुसार) अन्तर है : वह (–धर्मास्तिकाय) गतिक्रियायुक्तको पानीकी भाँति कारणभूत है और यह (–अधर्मास्तिकाय) स्थितिक्रियायुक्तको पृथ्वीकी भाँति कारणभूत है । जिसप्रकार पृथ्वी स्वयं पहलेसे ही स्थितिरूप (–स्थिर) वर्तती हुई तथा परको स्थिति (–स्थिरता) न कराती हुई, स्वयमेव स्थितिरूपसे परिणमित अश्वादिकको उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्रकी भाँति स्थितिमें अनुग्रह करती है, उसीप्रकार अधर्म (अधर्मास्तिकाय) भी स्वयं पहलेसे ही स्थितिरूपसे वर्तता हुआ और परको स्थिति न कराता हुआ, स्वयमेव स्थितिरूप परिणमित होते हुए जीव–पुद्गलोंको उदासीन अविनाभावी सहायरूप कारणमात्रकी भाँति स्थितिमें अनुग्रह करता है ।८६।

गाथा ८७

अन्वयार्थः—[गमनस्थिती] (जीव-पुद्गलकी) गति-स्थिति [च] तथा [अलोकलोकं] अलोक और लोकका विभाग, [ययोः सद्भावतः] उन दो द्रव्योंके

धर्माधरम होवाथी लोक-अलोक ने स्थितिगति बने ।
ते उभय भिन्न-अभिन्न छे ने सकललोकप्रमाण छे ।।८७।।

धर्माधर्मसद्भावे हेतूपन्यासोऽयम् । धर्माधर्मौ विद्येते, लोकालोकविभागान्यथानुपपत्तेः । जीवादिसर्वपदार्थानामेकत्र वृत्तिरूपो लोकः । शुद्धैकाकाशवृत्तिरूपोऽलोकः । तत्र जीवपुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ । तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेताम्, तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत । ततो न लोकालोकविभागः सिध्येत । धर्माधर्मयोस्तु जीवपुद्गलयोर्गतितत्पूर्वस्थित्योर्बहिरङ्गहेतुत्वेन सद्भावेऽभ्युपगम्यमाने लोकालोकविभागो जायत इति । किञ्च धर्माधर्मौ द्वावपि परस्परं पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वाद्विभक्तौ । एकक्षेत्रावगाढत्वाद-

---

सद्भावसे [जातम्] होता है । [च] और [द्वौ अपि] वे दोनों [विभक्तौ] विभक्त, [अविभक्तौ] अविभक्त [च] और [लोकमात्रौ] लोकप्रमाण [मतौ] कहे गए हैं ।

टीकाः—यह, धर्म और अधर्मके सद्भावकी सिद्धिके लिए हेतु दर्शाया गया है ।

धर्म और अधर्म विद्यमान हैं, क्योंकि लोक और अलोकका विभाग अन्यथा नहीं बन सकता । जीवादि सर्व पदार्थोंके एकत्र-अस्तित्वरूप लोक है; शुद्ध एक आकाशके अस्तित्वरूप अलोक है । वहाँ, जीव और पुद्गल स्वरससे ही (स्वभावसे ही) गतिपरिणामको तथा गतिपूर्वक स्थितिपरिणामको प्राप्त होते हैं । यदि गतिपरिणाम अथवा गतिपूर्वक स्थितिपरिणामका स्वयं अनुभव करनेवाले उन जीव-पुद्गलको बहिरंगहेतु धर्म और अधर्म न हों, तो जीव-पुद्गलके [1]निरर्गल गतिपरिणाम और स्थितिपरिणाम होनेसे अलोकमें भी उनका (जीव-पुद्गलका) होना किससे निवारा जा सकता है ? (किसीसे नहीं निवारा जा सकता ।) इसलिए लोक और अलोकका विभाग सिद्ध नहीं होता । किन्तु यदि जीव-पुद्गलकी गतिके और गतिपूर्वक स्थितिके बहिरंग हेतुओंके रूपमें धर्म और अधर्मका सद्भाव स्वीकार किया जाए तो लोक और अलोकका विभाग (सिद्ध) होता है । (इसलिए धर्म और अधर्म विद्यमान हैं ।) और (उनके सम्बन्धमें विशेष विवरण यह है कि), धर्म और अधर्म दोनों परस्पर पृथग्भूत अस्तित्वसे निष्पन्न होनेसे विभक्त (भिन्न) हैं; एकक्षेत्रावगाही होनेसे अविभक्त (अभिन्न) हैं; समस्त लोकमें प्रवर्तमान जीव–पुद्गलोंको गति-

---

१. निरर्गल = निरंकुश; अमर्यादित ।

विमक्तौ । निष्क्रियत्वेन सकललोकवर्तिनोर्जीवपुद्गलयोर्गतिस्थित्युपग्रहकरणाल्लोक मात्राविति ॥८७॥

ण य गच्छदि धम्मत्थो गमणं ण करेदि अण्णदवियस्स ।
हवदि गदिस्स य पसरो जीवाणं पोग्गलाणं च ॥ ८८ ॥

न च गच्छति धर्मास्तिको गमनं न करोत्यन्यद्रव्यस्य ।
भवति गतेः सः प्रसरो जीवानां पुद्गलानां च ॥ ८८ ॥

धर्माधर्मयोर्गतिस्थितिहेतुत्वेऽप्यत्यंतौदासीन्याख्यापनमेतत् । यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयंतीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते, न तथा धर्मः । स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेवापद्यते । कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् । किंतु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः

स्थितिमें निष्क्रियरूपसे अनुग्रह करते हैं इसलिए (-निमित्तरूप होते हैं इसलिये) लोकप्रमाण हैं ।८७।

गाथा ८८

अन्वयार्थः—[धर्मास्तिकः] धर्मास्तिकाय [न गच्छति] गमन नहीं करता [च] और [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्यको [गमनं न करोति] गमन नहीं कराता; [सः] वह, [जीवानां पुद्गलानां च] जीवों तथा पुद्गलोंको (गतिपरिणाममें आश्रयमात्ररूप होनेसे) [गतेः प्रसरः] गतिका उदासीन प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसारमें उदासीन निमित्तभूत) [भवति] है ।

टीकाः—धर्म और अधर्म गति और स्थितिके हेतु होने पर भी वे अत्यन्त उदासीन हैं ऐसा यहाँ कथन है ।

जिसप्रकार गतिपरिणत पवन ध्वजाओंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है; उसीप्रकार धर्म (जीव-पुद्गलोंके गतिपरिणामका हेतुकर्ता) नहीं है । वह (धर्म) वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी गतिपरिणामको ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर

धर्मास्ति गमन करे नहीं, न करावतो परद्रव्यने ।
जीव-पुद्गलोना गतिप्रसार तणो उदासीन हेतु छे ॥८८॥

प्रसरो भवति। अपि च यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणतस्तुरंगोऽश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते, न तथाऽधर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपूर्वस्थितिपरि-

उसे (परके) [1]सहकारीकी भाँति परके गतिपरिणामका हेतुकर्तृत्व कहाँसे होगा ? (—नहीं हो सकता।) किन्तु जिस प्रकार पानी मछलियोंको (गतिपरिणाममें) मात्र आश्रयरूप कारणकी भाँति गतिका उदासीन ही प्रसारक है, उसीप्रकार धर्म जीव-पुद्‌गलोंको (गतिपरिणाममें) मात्र आश्रयरूप कारणकी भाँति गतिका उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिप्रसारका उदासीन ही निमित्त) है।

और (अधर्मास्तिकायके सम्बन्धमें भी ऐसा है कि)—जिसप्रकार गति-पूर्वकस्थितिपरिणत अश्व सवारके (गतिपूर्वक) स्थितिपरिणामका हेतुकर्ता दिखाई देता है, उसी प्रकार अधर्म (जीव-पुद्‌गलोंके गतिपूर्वक स्थितिपरिणामका हेतुकर्ता) नहीं है। वह (अधर्म) वास्तवमें निष्क्रिय होनेसे कभी गतिपूर्वक स्थितिपरिणामको ही प्राप्त नहीं होता; तो फिर उसे (परके) [2]सहस्थायीकी भाँति परके गतिपूर्वक स्थितिपरिणामका हेतुकर्तृत्व कहाँसे होगा ? (नहीं हो सकता।) किन्तु जिसप्रकार

१. सहकारी=साथमें कार्य करनेवाला अर्थात् साथमें गति करनेवाला। [ध्वजाके साथ पवन भी गति करता है इसलिए यहाँ पवनको (ध्वजाके) सहकारीकी भाँति हेतुकर्ता कहा है; और जीव-पुद्‌गलोंके साथ धर्मास्तिकाय गमन न करके (अर्थात् सहकारी न बनकर), मात्र उन्हें (गतिमें) आश्रयरूप कारण बनता है इसलिए धर्मास्तिकायको उदासीन निमित्त कहा है। पवनको हेतुकर्ता कहा उसका यह अर्थ नहीं समझना कि पवन ध्वजाओंका गतिपरिणाम कराता होगा। उदासीन निमित्त हो या हेतुकर्ता हो—दोनों परमें अकिंचित्कर हैं। उनमें मात्र उपरोक्तानुसार ही अन्तर है। अब अगली गाथाकी टीकामें आचार्यदेव स्वयं ही कहेंगे कि "वास्तवमें समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामोंसे ही निश्चयसे गतिस्थिति करते हैं।" इसलिए ध्वजा, सवार इत्यादि सब, अपने परिणामोंसे ही गतिस्थिति करते हैं, उसमें धर्म तथा पवन, और अधर्म तथा अश्व अविशेषरूपसे अकिंचित्कर हैं ऐसा निर्णय करना।]

२. सहस्थायी=साथमें स्थिति (स्थिरता) करनेवाले। [अश्व सवारके साथ स्थिति करता है, इसलिए यहाँ अश्वको सवारके सहस्थायीकी भाँति सवारके स्थितिपरिणामका हेतुकर्ता कहा है। अधर्मास्तिकाय तो गतिपूर्वक स्थितिको प्राप्त होनेवाले जीव-पुद्‌गलोंके साथ स्थिति नहीं करता, पहलेसे ही स्थित है; इस प्रकार वह सहस्थायी न होनेसे जीव-पुद्‌गलोंके गतिपूर्वक स्थिति-परिणामका हेतुकर्ता नहीं है।]

णाममेवापद्यते । कुतोऽस्य सहस्थायित्वेन परेषां गतिपूर्वस्थितिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम् । किन्तु पृथिवीवत्तुरंगस्य जीवपुद्गलानामाश्रयकारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतिपूर्वस्थितेः प्रसरो भवतीति ॥ ८८ ॥

विज्जदि जेसिं गमणं ठाणं पुण तेसिमेव संभवदि ।
ते सगपरिणामेहिं दु गमणं ठाणं च कुव्वंति ॥८९॥

विद्यते येषां गमनं स्थानं पुनस्तेषामेव संभवति ।
ते स्वकपरिणामैस्तु गमनं स्थानं च कुर्वन्ति ॥८९॥

धर्माधर्मयोरौदासीन्ये हेतूपन्यासोऽयम् । धर्मः किल न जीवपुद्गलानां कदाचिद्गतिहेतुत्वमभ्यस्यति, न कदाचित्स्थितिहेतुत्वमधर्मः । तौ हि परेषां गतिस्थित्योर्यदि मुख्यहेतू स्यातां तदा येषां गतिस्तेषां गतिरेव, न स्थितिः, येषां स्थितिस्तेषां स्थितिरेव, न गतिः ।

पृथ्वी अश्वको (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाममें) मात्र आश्रयरूप कारणकी भाँति गतिपूर्वक स्थितिकी उदासीन ही प्रसारक है, उसीप्रकार अधर्म जीव-पुद्गलोंको (गतिपूर्वक स्थितिपरिणाममें) मात्र आश्रयरूप कारणकी भाँति गतिपूर्वक स्थितिका उदासीन ही प्रसारक (अर्थात् गतिपूर्वक-स्थितिप्रसारका उदासीन ही निमित्त) है ।८८।

गाथा ८९

अन्वयार्थः—[येषां गमनं विद्यते] (धर्म-अधर्म गति-स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं, क्योंकि) जिन्हें गति होती है [तेषाम् एव पुनः स्थानं संभवति] उन्हींको फिर स्थिति होती है (और जिन्हें स्थिति होती है उन्हींको फिर गति होती है) । [ते तु] वे (गतिस्थितिमान पदार्थ) तो [स्वकपरिणामैः] अपने परिणामोंसे [गमनं स्थानं च] गति और स्थिति [कुर्वन्ति] करते हैं ।

टीकाः—यह, धर्म और अधर्मकी उदासीनताके सम्बन्धमें हेतु कहा गया है ।

वास्तवमें (निश्चयसे) धर्म जीव-पुद्गलोंको कभी गतिहेतु नहीं होता, अधर्म कभी स्थितिहेतु नहीं होता; क्योंकि वे परको गतिस्थितिके यदि मुख्य हेतु (निश्चयहेतु) हों, तो जिन्हें गति हो उन्हें गति ही रहना चाहिए, स्थिति नहीं होना

रे ! जेमने गति होय छे, तेओ ज वळी स्थिर थाय छे ।
ते सर्व निज परिणामथी ज करे गतिस्थितिभावने ॥८९॥

तत एकेषामपि गतिस्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू । किंतु व्यवहारनयव्यवस्थापितौ उदासीनौ । कथमेवं गतिस्थितिमतां पदार्थानां गतिस्थिती भवत इति चेत्, सर्वे हि गतिस्थितिमंतः पदार्थाः स्वपरिणामैरेव निश्चयेन गतिस्थिती कुर्वंतीति ॥८९॥

—इति धर्माधर्मद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानम् ।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पोग्गलाणं च ।
जं देदि विवरमखिलं तं लोगे हवदि आगासं ॥९०॥

सर्वेषां जीवानां शेषाणां तथैव पुद्गलानां च ।
यद्ददाति विवरमखिलं तल्लोके भवत्याकाशम् ॥९०॥

चाहिए; और जिन्हें स्थिति हो उन्हें स्थिति ही रहना चाहिए, गति नहीं होना चाहिए। किन्तु एकको ही (–उसी एक पदार्थको) गति और स्थिति देखनेमें आती है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि वे (धर्म-अधर्म) गति-स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं, किन्तु व्यवहारनयस्थापित (व्यवहारनय द्वारा स्थापित—कथित) उदासीन हेतु हैं ।

प्रश्नः—ऐसा हो तो गतिस्थितिमान पदार्थोंको गतिस्थिति किसप्रकार होती है ?

उत्तरः—वास्तवमें समस्त गतिस्थितिमान पदार्थ अपने परिणामोंसे ही निश्चयसे गतिस्थिति करते हैं ।८९।

इसप्रकार धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब आकाशद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान है ।

गाथा ९०

अन्वयार्थः—[लोके] लोकमें [जीवानाम्] जीवोंको [च] और [पुद्गलानाम्] पुद्गलोंको [तथा एव] वैसे ही [सर्वेषाम् शेषाणाम्] शेष समस्त द्रव्योंको

जे लोकमां जीव-पुद्गलोने, शेष द्रव्य समस्तने ।
अवकाश दे छे पूर्ण, ते आकाशनामक द्रव्य छे ॥९०॥

आकाशस्वरूपाख्यानमेतत् । षड्द्रव्यात्मके लोके सर्वेषां शेषद्रव्याणां यत्समस्तावकाशनिमित्तं विशुद्धक्षेत्ररूपं तदाकाशमिति ॥९०॥

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा य लोगदो णण्णा ।
तत्तो अणण्णमण्णं आयासं अन्तवदिरित्तं ॥ ९१ ॥

जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च लोकतोऽनन्ये ।
ततोऽनन्यदन्यदाकाशमंतव्यतिरिक्तम् ॥ ९१ ॥

लोकाद्बहिराकाशसूचनेयम् । जीवादीनि शेषद्रव्याण्यवधृतपरिमाणत्वाल्लोकादनन्या-

---

[यद्] जो [अखिलं विवरं] सम्पूर्ण अवकाश [ददाति] देता है, [तद्] वह [आकाशम् भवति] आकाश है ।

टीकाः—यह, आकाशके स्वरूपका कथन है ।

षट्द्रव्यात्मक लोकमें शेष [1]सभी द्रव्योंको जो परिपूर्ण अवकाशका निमित्त है, वह आकाश है—जो कि (आकाश) विशुद्धक्षेत्ररूप है ।९०।

गाथा ९१

अन्वयार्थः—[जीवाः पुद्गलकायाः धर्माधर्मौ च] जीव, पुद्गलकाय, धर्म, अधर्म (तथा काल) [लोकतः अनन्ये] लोकसे अनन्य हैं; [अंतव्यतिरिक्तम् आकाशम्] अन्त रहित ऐसा आकाश [ततः] उससे (लोकसे) [अनन्यत् अन्यत्] अनन्य तथा अन्य है ।

टीकाः—यह, लोकके बाहर (भी) आकाश होनेकी सूचना है ।

जीवादि शेष द्रव्य (—आकाशके अतिरिक्त द्रव्य) मर्यादित परिमाणवाले

---

१. निश्चयनयसे नित्यनिरंजन-ज्ञानमय परमानन्द जिनका एक लक्षण है ऐसे अनन्तानंत जीव, उनसे अनन्तगुने पुद्गल, असंख्य कालाणु और असंख्यप्रदेशी धर्म तथा अधर्म—यह सभी द्रव्य विशिष्ट अवगाहगुण द्वारा लोकाकाशमें—यद्यपि वह लोकाकाश मात्र असंख्यप्रदेशी ही है तथापि—अवकाश प्राप्त करते हैं ।

जीव-पुद्गलादिक शेष द्रव्य अनन्य जाणो लोकथी ।
नभ अंतशून्य अनन्य तेम ज अन्य छे ए लोकथी ॥९१॥

न्येव । आकाशं त्वनंतत्वाल्लोकादनन्यदन्यच्चेति ॥९१॥

आगासं अवगासं गमणट्ठिदिकारणेहिं देदि जदि ।
उड्ढंगदिप्पधाणा सिद्धा चिट्ठन्ति किध तत्थ ॥९२॥

आकाशमवकाशं गमनस्थितिकारणाभ्यां ददाति यदि ।
ऊर्ध्वंगतिप्रधानाः सिद्धाः तिष्ठन्ति कथं तत्र ॥ ९२ ॥

आकाशस्यावकाशैकहेतोर्गतिस्थितिहेतुत्वशङ्कायां दोषोपन्यासोऽयम् । यदि खल्वाकाशमवगाहिनामवगाहहेतुरिव गतिस्थितिमतां गतिस्थितिहेतुरपि स्यात्, तदा सर्वोत्कृष्ट-

---

होनेके कारण लोकसे [1]अनन्य ही हैं; आकाश तो अनन्त होनेके कारण लोकसे अनन्य तथा अन्य है ।९१।

गाथा ९२

अन्वयार्थः—[यदि आकाशम्] यदि आकाश [गमनस्थितिकारणाभ्याम्] गति-स्थितिके कारण सहित [अवकाशं ददाति] अवकाश देता हो (अर्थात् यदि आकाश अवकाशहेतु भी हो और गति-स्थितिहेतु भी हो) तो [ऊर्ध्वंगतिप्रधानाः सिद्धाः] ऊर्ध्वगतिप्रधान सिद्ध [तत्र] उसमें (आकाशमें) [कथम्] क्यों [तिष्ठन्ति] स्थिर हों ? (आगे गमन क्यों न करें ?)

टीकाः—जो मात्र अवकाशका ही हेतु है ऐसा जो आकाश उसमें गतिस्थिति-हेतुत्व (भी) होनेकी शंका की जाये तो दोष आता है उसका यह कथन है ।

---

१. यहाँ यद्यपि सामान्यरूपसे पदार्थोंका लोकसे अनन्यपना कहा है तथापि निश्चयसे अमूर्तपना, केवलज्ञानपना, सहजपरमानन्दपना, नित्यनिरंजनपना इत्यादि लक्षणों द्वारा जीवोंका इतर द्रव्योंसे अन्यपना है और अपने-अपने लक्षणों द्वारा इतर द्रव्योंका जीवोंसे भिन्नपना है ऐसा समझना ।

अवकाशदायक आभ गति-थितिहेतुता पण जो धरे ।
तो ऊर्ध्वगतिपरधान सिद्धो केम तेमां स्थिति लहे ॥९२॥

स्वाभाविकोर्ध्वगतिपरिणता भगवंतः सिद्धा बहिरङ्गांतरङ्गसाधनसामग्र्यां सत्यामपि कुतस्तत्राकाशे तिष्ठंतीति ॥ ९२ ॥

जम्हा उवरिट्ठाणं सिद्धाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
तम्हा गमणट्ठाणं आयासे जाण णत्थि त्ति ॥ ९३ ॥

यस्मादुपरिस्थानं सिद्धानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
तस्माद्गमनस्थानमाकाशे जानीहि नास्तीति ॥९३॥

स्थितिपक्षोपन्यासोऽयम् । यतो गत्वा भगवंतः सिद्धाः लोकोपर्यवतिष्ठंते, ततो गतिस्थितिहेतुत्वमाकाशे नास्तीति निश्चेतव्यम् । लोकालोकावच्छेदकौ धर्माधर्मावेव गतिस्थितिहेतू मंतव्याविति ॥ ९३ ॥

यदि आकाश, जिसप्रकार वह [1]अवगाहवालोंको अवगाहहेतु है उसीप्रकार, गतिस्थितिवालोंको गति-स्थितिहेतु भी हो, तो सर्वोत्कृष्ट स्वाभाविक ऊर्ध्वगतिसे परिणत सिद्धभगवन्त, बहिरंग-अंतरंग साधनरूप सामग्री होने पर भी, क्यों (-किस कारण) उसमें—आकाशमें—स्थिर हों ? ।९२।

गाथा ९३

अन्वयार्थः—[**यस्मात्**] जिससे [**जिनवरैः**] जिनवरोंने [**सिद्धानाम्**] सिद्धोंकी [**उपरिस्थानं**] लोकके ऊपर स्थिति [**प्रज्ञप्तम्**] कही है, [**तस्मात्**] इसलिए [**गमनस्थानम् आकाशे न अस्ति**] गति-स्थिति आकाशमें नहीं होती (अर्थात् गति-स्थितिहेतुत्व आकाशमें नहीं है) [**इति जानीहि**] ऐसा जानो ।

टीकाः—(गतिपक्ष सम्बन्धी कथन करनेके पश्चात्) यह, स्थितिपक्ष संबंधी कथन है ।

जिससे सिद्धभगवन्त गमन करके लोकके ऊपर स्थिर होते हैं (अर्थात् लोकके ऊपर गतिपूर्वक स्थिति करते हैं), उससे गतिस्थितिहेतुत्व आकाशमें नहीं है ऐसा निश्चय करना; लोक और अलोकका विभाग करनेवाले धर्म तथा अधर्मको ही गति तथा स्थितिके हेतु मानना । ९३ ।

---

१. अवगाह=लीन होना; मज्जित होना; अवकाश पाना ।

भाखी जिनोए लोकना अग्रे स्थिति सिद्धो तणी ।
ते कारणे जाणो—गतिस्थिति आभमां होती नथी ॥९३॥

जदि हवदि गमणहेदू आगासं ठाणकारणं तेसिं ।
पसजदि अलोगहाणी लोगस्स य अन्तपरिवुड्ढी ॥९४॥

यदि भवति गमनहेतुराकाशं स्थानकारणं तेषाम् ।
प्रसजत्यलोकहानिर्लोकस्य चांतपरिवृद्धिः ॥ ९४ ॥

आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वाभावे हेतूपन्यासोऽयम् । नाकाशं गतिस्थितिहेतुः, लोकालोकसीमव्यवस्थायास्तथोपपत्तेः । यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत्, तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते, पूर्वं पूर्वं व्यवस्थाप्यमानश्चांतो लोकस्योत्तरोत्तरपरिवृद्ध्या विघटते । ततो न तत्र तद्धेतुरिति ॥९४॥

गाथा ९४

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [आकाशं] आकाश [तेषाम्] जीवपुद्गलोंको [गमनहेतुः] गतिहेतु और [स्थानकारणं] स्थितिहेतु [भवति] हो तो [अलोकहानिः] अलोककी हानिका [च] और [लोकस्य अंतपरिवृद्धिः] लोकके अंतकी वृद्धिका [प्रसजति] प्रसंग आए ।

टीकाः—यहाँ, आकाशको गतिस्थितिहेतुत्वका अभाव होने सम्बन्धी हेतु उपस्थित किया गया है ।

आकाश गतिस्थितिका हेतु नहीं है, क्योंकि लोक और अलोककी सीमाकी व्यवस्था इसीप्रकार बन सकती है । यदि आकाशको ही गति-स्थितिका निमित्त माना जाए, तो आकाशका सद्भाव सर्वत्र होनेका कारण जीव–पुद्गलोंकी गतिस्थितिकी कोई सीमा न रहनेसे प्रतिक्षण अलोककी हानि होगी और पहले-पहले व्यवस्थापित हुआ लोकका अंत उत्तरोत्तर वृद्धि पानेसे लोकका अंत ही टूट जाएगा (अर्थात् पहले-पहले निश्चित हुआ लोकका अंत फिर-फिर आगे बढ़ते जानेसे लोकका अन्त ही नहीं बन सकेगा) । इसलिए आकाशमें गति–स्थितिका हेतु नहीं है ।९४।

नभ होय जो गतिहेतु ने स्थितिहेतु पुद्गल-जीवने ।
तो हानि थाय अलोकनी, लोकान्त पामे वृद्धिने ॥९४॥

तम्हा धम्माधम्मा गमणट्ठिदिकारणाणि णागासं ।
इदि जिणवरेहिं भणिदं लोगसहावं सुणंताणं ॥९५॥

तस्माद्धर्माधर्मौ गमनस्थितिकारणे नाकाशम् ।
इति जिनवरैः भणितं लोकस्वभावं शृण्वताम् ॥९५॥

आकाशस्य गतिस्थितिहेतुत्वनिरासव्याख्योपसंहारोऽयम् । धर्माधर्मावेव गतिस्थितिकारणे नाकाशमिति ॥ ९५ ॥

धम्माधम्मागासा अपुधब्भूदा समाणपरिमाणा ।
पुधगुवलद्धिविसेसा करेंति एगत्तमण्णत्तं ॥९६॥

धर्माधर्माकाशान्यपृथग्भूतानि समानपरिमाणानि ।
पृथगुपलब्धिविशेषाणि कुर्वंत्येकत्वमन्यत्वम् ॥ ९६ ॥

गाथा ९५

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसलिए [गमनस्थितिकारणे] गति और स्थितिके कारण [धर्माधर्मौ] धर्म और अधर्म हैं, [न आकाशम्] आकाश नहीं है । [इति] ऐसा [लोकस्वभावं शृण्वताम्] लोकस्वभावके श्रोताओंसे [जिनवरैः भणितम्] जिनवरोंने कहा है ।

टीकाः—यह, आकाशको गतिस्थितिहेतुत्व होनेके खंडन सम्वन्धी कथनका उपसंहार है ।

धर्म और अधर्म ही गति और स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं ।९५।

गाथा ९६

अन्वयार्थः—[धर्माधर्माकाशानि] धर्म, अधर्म और आकाश (लोकाकाश) [समानपरिमाणानि] समान परिमाणवाले [अपृथग्भूतानि] अपृथग्भूत होनेसे तथा

तेथी गतिस्थितिहेतुओ धर्माधरम छे, नभ नहीं ।
भाख्युं जिनोए आम लोकस्वभावना श्रोता प्रति ॥९५॥

धर्माधरम-नभने समानप्रमाणयुत अपृथक्त्वथी ।
वळी भिन्न-भिन्न विशेषथी, एकत्व ने अन्यत्व छे ॥९६॥

धर्माधर्मलोकाकाशानामवगाहवशादेकत्वेऽपि वस्तुत्वेनान्यत्वमत्रोक्तम् । धर्माधर्मलोकाकाशानि हि समानपरिमाणत्वात्सहावस्थानमात्रेणैवैकत्वभाञ्जि । वस्तुतस्तु व्यवहारेण गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपेण, निश्चयेन विभक्तप्रदेशत्वरूपेण विशेषेण पृथगुपलभ्यमानेनान्यत्वभाञ्ज्येव भवंतीति ॥ ९६ ॥

इति आकाशद्रव्यास्तिकायव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ चूलिका ।

[पृथगुपलब्धिविशेषाणि] पृथक्-उपलब्ध (भिन्न-भिन्न) विशेषवाले होनेसे [एकत्वम् अन्यत्वम्] एकत्व तथा अन्यत्वको [कुर्वंति] करते हैं ।

टीका:—यहाँ धर्म, अधर्म और लोकाकाशका अवगाहकी अपेक्षासे एकत्व होने पर भी वस्तुरूपसे अन्यत्व कहा गया है ।

धर्म, अधर्म और लोकाकाश समान परिमाणवाले होनेके कारण साथ रहनेमात्रसे ही (—मात्र एकक्षेत्रावगाहकी अपेक्षासे ही) एकत्ववाले हैं; वस्तुतः तो, (१) व्यवहारसे गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहनहेतुत्वरूप (पृथक्-उपलब्ध विशेष द्वारा) तथा (२) निश्चयसे [1]विभक्तप्रदेशत्वरूप पृथक्-उपलब्ध [2]विशेष द्वारा, वे अन्यत्ववाले ही हैं ।

भावार्थ:—धर्म, अधर्म और लोकाकाशका एकत्व तो मात्र एकक्षेत्रावगाहकी अपेक्षासे ही कहा जा सकता है; वस्तुरूपसे तो उन्हें अन्यत्व ही है, क्योंकि (१) उनके लक्षण गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व और अवगाहनहेतुत्वरूप भिन्न-भिन्न हैं तथा (२) उनके प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं ।९६।

इसप्रकार आकाशद्रव्यास्तिकायका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब [3]चूलिका है ।

---

१. विभक्त=भिन्न । [धर्म, अधर्म और आकाशको भिन्नप्रदेशपना है ।]

२. विशेष=विशिष्टता; विशेषता; मुख्यता । [व्यवहारसे तथा निश्चयसे धर्म, अधर्म और आकाशके विशेष पृथक्-उपलब्ध हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं ।]

३. चूलिका=शास्त्रमें जिसका कथन न हुआ हो उसका व्याख्यान करना अथवा जिसका कथन हो चुका हो उसका विशेष व्याख्यान करना अथवा दोनोंका यथायोग्य व्याख्यान करना ।

आगासकालजीवा धम्माधम्मा य मुत्तिपरिहीणा ।
मुत्तं पुग्गलदव्वं जीवो खलु चेदणो तेसु ।। ९७ ।।

आकाशकालजीवा धर्माधर्मौ च मूर्तिपरिहीनाः ।
मूर्तं पुद्गलद्रव्यं जीवः खलु चेतनस्तेषु ।। ९७ ।।

अत्र द्रव्याणां मूर्तामूर्तत्वं चेतनाचेतनत्वं चोक्तम् । स्पर्शरसगंधवर्णसद्भावस्वभावं मूर्तं, स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावममूर्तम् । चैतन्यसद्भावस्वभावं चेतनं, चैतन्याभावस्वभावमचेतनम् । तत्रामूर्तमाकाशं, अमूर्तः कालः, अमूर्तः स्वरूपेण जीवः पररूपावेशान्मूर्तोऽपि, अमूर्तो धर्मः, अमूर्तोऽधर्मः, मूर्तः पुद्गल एवैक इति । अचेतनमाकाशं, अचेतनः कालः, अचेतनो धर्मः, अचेतनोऽधर्मः, अचेतनः पुद्गलः, चेतनो जीव एवैक इति ।।९७।।

गाथा ९७

अन्वयार्थः—[आकाशकालजीवाः] आकाश, काल, जीव, [धर्माधर्मौ च] धर्म और अधर्म [मूर्तिपरिहीनाः] अमूर्त हैं, [पुद्गलद्रव्यं मूर्तं] पुद्गलद्रव्य मूर्त है । [तेषु] उनमें [जीवः] जीव [खलु] वास्तवमें [चेतनः] चेतन है ।

टीकाः—यहाँ द्रव्योंका मूर्तामूर्तपना (मूर्तपना अथवा अमूर्तपना) और चेतना-चेतनपना (-चेतनपना अथवा अचेतनपना) कहा गया है ।

स्पर्श-रस-गंध-वर्णका सद्भाव जिसका स्वभाव है वह मूर्त है; स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका अभाव जिसका स्वभाव है वह अमूर्त है । चैतन्यका सद्भाव जिसका स्वभाव है वह चेतन है; चैतन्यका अभाव जिसका स्वभाव है वह अचेतन है । वहाँ, आकाश अमूर्त है, काल अमूर्त है, जीव स्वरूपसे अमूर्त है, पररूपमें [1]प्रवेश द्वारा (-मूर्त द्रव्यके संयोगकी अपेक्षासे) मूर्त भी है, धर्म अमूर्त है, अधर्म अमूर्त है; पुद्गल ही एक मूर्त है । आकाश अचेतन है, काल अचेतन है, धर्म अचेतन है, अधर्म अचेतन है, पुद्गल अचेतन है; जीव ही एक चेतन है ।९७।

---

१. जीव निश्चयसे अमूर्त-अखण्ड-एकप्रतिभासमय होनेसे अमूर्त है, रागादिरहित सहजानन्द जिसका एक स्वभाव है ऐसे आत्मतत्त्वकी भावनारहित जीव द्वारा उपार्जित जो मूर्त कर्म उसके संसर्ग द्वारा व्यवहारसे मूर्त भी है ।

आतमा अने आकाश, धर्म, अधर्म, काल अमूर्त छे ।
छे मूर्त पुद्गलद्रव्य; तेमां जीव छे चेतन खरे ।। ९७ ।।

जीवा पोग्गलकाया सह सक्किरिया हवंति ण य सेसा ।
पोग्गलकरणा जीवा खंधा खलु कालकरणा दु ॥९८॥

जीवाः पुद्गलकायाः सह सक्रिया भवन्ति न च शेषाः ।
पुद्गलकरणा जीवाः स्कन्धा खलु कालकरणास्तु ॥ ९८ ॥

अत्र सक्रियनिष्क्रियत्वमुक्तम् । प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया । तत्र सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः जीवाः, सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः पुद्गलाः । निष्क्रियमाकाशं, निष्क्रियो धर्मः, निष्क्रियोऽधर्मः, निष्क्रियः कालः । जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः । तदभावान्निः-

---

गाथा ९८

अन्वयार्थः—[सह जीवाः पुद्गलकायाः] बाह्य करण सहित स्थित जीव और पुद्गल [सक्रियाः भवन्ति] सक्रिय हैं, [न च शेषाः] शेष द्रव्य सक्रिय नहीं हैं (–निष्क्रिय हैं); [जीवाः] जीव [पुद्गलकरणाः] पुद्गलकरणवाले (–जिन्हें सक्रियपनेमें पुद्गल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं [स्कन्धाः खलु कालकरणाः तु] और स्कन्ध अर्थात् पुद्गल तो कालकरणवाले (–जिन्हें सक्रियपनेमें काल बहिरंग साधन हो ऐसे) हैं ।

टीकाः—यहाँ (द्रव्योंका) सक्रिय-निष्क्रियपना कहा गया है ।

प्रदेशान्तरप्राप्तिका हेतु (–अन्य प्रदेशकी प्राप्तिका कारण) ऐसी जो परिस्पन्दरूप पर्याय, वह क्रिया है । वहाँ, बहिरंग साधनके साथ रहनेवाले जीव सक्रिय हैं; बहिरंग साधनके साथ रहनेवाले पुद्गल सक्रिय हैं । आकाश निष्क्रिय है; धर्म निष्क्रिय है; अधर्म निष्क्रिय है; काल निष्क्रिय है ।

जीवोंको सक्रियपनेका बहिरङ्ग साधन कर्म-नोकर्मके संचयरूप पुद्गल हैं; इसलिए जीव पुद्गलकरणवाले हैं । उसके अभावके कारण (–पुद्गलकरणके अभावके कारण) सिद्धोंको निष्क्रियपना है (अर्थात् सिद्धोंको कर्म-नोकर्मके संचयरूप पुद्गलोंका

जीव-पुद्गलो सहभूत छे सक्रिय, निष्क्रिय शेष छे ।
छे काल पुद्गलने करण, पुद्गल करण छे जीवने ॥९८॥

क्रियत्वं सिद्धानाम् । पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः । न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः । ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति ॥ ९८ ॥

जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता ।
सेसं हवदि अमुत्तं चित्तं उभयं समादियदि ॥ ९९ ॥

ये खलु इन्द्रियग्राह्या विषया जीवैर्भवन्ति ते मूर्ताः ।
शेषं भवत्यमूर्तं चित्तमुभयं समाददाति ॥ ९९ ॥

मूर्तामूर्तलक्षणाख्यानमेतत् । इह हि जीवैः स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्भिरिन्द्रियैस्तद्विषयभूताः स्पर्शरसगंधवर्णस्वभावा अर्था गृह्यन्ते । श्रोत्रेन्द्रियेण तु त एव तद्विषयहेतुभूतशब्दाकार-

---

अभाव होनेसे वे निष्क्रिय हैं ।) पुद्गलोंको सक्रियपनेका बहिरंग साधन [1]परिणाम-निष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरणवाले हैं ।

कर्मादिककी भाँति (अर्थात् जिसप्रकार कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोंका अभाव होता है) कालका अभाव नहीं होता; इसलिए सिद्धोंकी भाँति (अर्थात् जिस-प्रकार सिद्धोंको निष्क्रियपना होता है उसप्रकार) पुद्गलोंको निष्क्रियपना नहीं होता । ९८ ।

गाथा ९९

अन्वयार्थः—[ये खलु] जो पदार्थ [जीवैः इन्द्रियग्राह्याः विषयाः] जीवोंके इन्द्रियग्राह्य विषय हैं [ते मूर्ताः भवन्ति] वे मूर्त हैं और [शेषं] शेष पदार्थसमूह [अमूर्तं भवति] अमूर्त है । [चित्तम्] चित्त [उभयं] उन दोनोंको [समाददाति] ग्रहण करता है (–जानता है) ।

टीकाः—यह, मूर्त और अमूर्तके लक्षणका कथन है ।

इस लोकमें जीवों द्वारा स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय द्वारा उनके (–उन इन्द्रियोंके) विषयभूत, स्पर्श-रस-गंध-वर्णस्वभाववाले पदार्थ

---

१. परिणामनिष्पादक=परिणामको उत्पन्न करनेवाला; परिणाम उत्पन्न होनेमें जो निमित्तभूत (बहिरंग साधनभूत) है ऐसा ।

छे जीवने जे विषय इंद्रियग्राह्य, ते सौ मूर्त छे ।
बाकी बधुंय अमूर्त छे; मन जाणतुं ते उभय ने ॥९९॥

परिणता गृह्यन्ते । ते कदाचित्स्थूलस्कन्धत्वमापन्नाः कदाचित्सूक्ष्मत्वमापन्नाः कदाचित्परमाणुत्वमापन्नाः इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावाद् गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्ता इत्युच्यंते । शेषमितरत् समस्तमप्यर्थजातं स्पर्शरसगंधवर्णाभावस्वभावमिन्द्रियग्रहणयोग्यताया अभावादमूर्तमित्युच्यते । चित्तग्रहणयोग्यतासद्भावभाग्भवति तदुभयमपि; चित्तं ह्यनियतविषयमप्राप्यकारि मतिश्रुतज्ञानसाधनीभूतं मूर्तममूर्तं च समाददातीति ॥९९॥

—इति चूलिका समाप्ता ।

(—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जिनका स्वभाव है ऐसे पदार्थ) ग्रहण होते हैं (—ज्ञात होते हैं); और श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा वही पदार्थ उसके (श्रोत्रेन्द्रियके) [1]विषयहेतुभूत शब्दाकार परिणमित हुए ग्रहण होते हैं । वे (वे पदार्थ), कदाचित् स्थूलस्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, कदाचित् सूक्ष्मत्वको (सूक्ष्मस्कन्धपनेको) प्राप्त होते हुए और कदाचित् परमाणुपनेको प्राप्त होते हुए इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताका (सदैव) सद्भाव होनेसे 'मूर्त' कहलाते हैं ।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका अभाव जिसका स्वभाव है ऐसा शेष अन्य समस्त पदार्थसमूह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताके अभावके कारण 'अमूर्त' कहलाता है ।

वे दोनों (—पूर्वोक्त दोनों प्रकारके पदार्थ) चित्त द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताके सद्भाववाले हैं; चित्त—जो कि [2]अनियत विषयवाला, [3]अप्राप्यकारी और मतिश्रुतज्ञानके साधनभूत (—मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञानमें निमित्तभूत) है वह—मूर्त तथा अमूर्तको ग्रहण करता है (—जानता है) । ९९ ।

इसप्रकार चूलिका समाप्त हुई ।

---

१. उन स्पर्श-रस-गंध-वर्णस्वभाववाले पदार्थोंको (अर्थात् पुद्गलोंको) श्रोत्रेन्द्रियके विषय होनेमें हेतुभूत शब्दाकारपरिणाम है, इसलिए वे पदार्थ (पुद्गल) शब्दाकार परिणमित होते हुए श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण होते हैं ।

२. अनियत=अनिश्चित । [जिसप्रकार पाँच इन्द्रियोंमेंसे प्रत्येक इन्द्रियका विषय नियत है उसप्रकार मनका विषय नियत नहीं है, अनियत है ।]

३. अप्राप्यकारी=ज्ञेय विषयोंका स्पर्श किए विना कार्य करनेवाला—जाननेवाला । [मन और चक्षु अप्राप्यकारी हैं; चक्षुके अतिरिक्त चार इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं ।

अथ कालद्रव्यव्याख्यानम् ।

कालो परिणामभवो परिणामो दव्वकालसंभूदो ।
दोण्हं एस सहावो कालो खणभंगुरो णियदो ।। १०० ।।

कालः परिणामभवः परिणामो द्रव्यकालसंभूतः ।
द्वयोरेष स्वभावः कालः क्षणभङ्गुरो नियतः ।। १०० ।।

व्यवहारकालस्य निश्चयकालस्य च स्वरूपाख्यानमेतत् । तत्र क्रमानुपाती समयाख्यः पर्यायो व्यवहारकालः, तदाधारभूतं द्रव्यं निश्चयकालः । तत्र व्यवहारकालो निश्चयकाल-पर्यायरूपोऽपि जीवपुद्गलानां परिणामेनावच्छिद्यमानत्वात्तत्परिणामभव इत्युपगीयते, जीवपुद्गलानां परिणामस्तु वहिरङ्गनिमित्तभूतद्रव्यकालसद्भावे सति संभूतत्वाद् द्रव्यकालसंभूत इत्यभिधीयते ।

अब, कालद्रव्यका व्याख्यान है ।

गाथा १००

अन्वयार्थः—[कालः परिणामभवः] काल परिणामसे उत्पन्न होता है (अर्थात् व्यवहारकालका माप जीव-पुद्गलोंके परिणाम द्वारा होता है); [परिणामः द्रव्य-कालसंभूतः] परिणाम द्रव्यकालसे उत्पन्न होता है ।—[द्वयोः एषः स्वभावः] यह, दोनोंका स्वभाव है । [कालः क्षणभंगुरः नियतः] काल क्षणभंगुर तथा नित्य है ।

टीकाः—यह, व्यवहारकाल तथा निश्चयकालके स्वरूपका कथन है ।

वहाँ, 'समय' नामकी जो क्रमिक पर्याय सो व्यवहारकाल है; उसके आधार-भूत द्रव्य सो निश्चयकाल है ।

वहाँ, व्यवहारकाल निश्चयकालकी पर्यायरूप होने पर भी जीव-पुद्गलोंके परिणामसे नपता है—ज्ञात होता है इसलिये "जीव-पुद्गलोंके परिणामसे उत्पन्न होने-वाला" कहलाता है; और जीव-पुद्गलोंके परिणाम वहिरंग-निमित्तभूत द्रव्यकालके सद्भावमें उत्पन्न होनेके कारण "द्रव्यकालसे उत्पन्न होनेवाले" कहलाते हैं । वहाँ

परिणामभव छे काल, कालपदार्थभव परिणाम छे ।
—आ छे स्वभावो उभयना; क्षणभंगी ने ध्रुव काल छे ।।१००।।

तत्रेदं तात्पर्यं—व्यवहारकालो जीवपुद्गलपरिणामेन निश्चीयते, निश्चयकालस्तु तत्परिणामान्यथानुपपत्त्येति । तत्र क्षणभङ्गी व्यवहारकालः सूक्ष्मपर्यायस्य तावन्मात्रत्वात्, नित्यो निश्चयकालः स्वगुणपर्यायाधारद्रव्यत्वेन सर्वदैवाविनश्वरत्वादिति ।। १०० ।।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो ।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ।। १०१ ।।

काल इति च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः ।
उत्पन्नप्रध्वंस्यपरो दीर्घांतरस्थायी ।। १०१ ।।

नित्यक्षणिकत्वेन कालविभागख्यापनमेतत् । यो हि द्रव्यविशेषः 'अयं कालः, अयं

तात्पर्य यह है कि—व्यवहारकाल जीव-पुद्गलोंके परिणाम द्वारा निश्चित होता है; और निश्चयकाल जीव-पुद्गलोंके परिणामकी अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा (अर्थात् जीव-पुद्गलोंके परिणाम अन्य प्रकारसे नहीं बन सकते इसलिए) निश्चित होता है ।

वहाँ, व्यवहारकाल [1]क्षणभंगी है, क्योंकि वह मात्र सूक्ष्म पर्याय जितना ही (–क्षणमात्र जितना ही, समयमात्र जितना ही) है; निश्चयकाल नित्य है, क्योंकि वह अपने गुण–पर्यायोंके आधारभूत द्रव्यरूपसे सदैव अविनाशी है । १०० ।

गाथा १०१

अन्वयार्थः—[कालः इति च व्यपदेशः] 'काल' ऐसा व्यपदेश [सद्भावप्ररूपकः] सद्भावका प्ररूपक है इसलिए [नित्यः भवति] काल (निश्चयकाल) नित्य है । [उत्पन्नध्वंसी अपरः] उत्पन्नध्वंसी ऐसा जो दूसरा काल (अर्थात् उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला जो व्यवहारकाल) वह [दीर्घान्तरस्थायी] (क्षणिक होने पर भी प्रवाह-अपेक्षासे) दीर्घ स्थितिका भी (कहा जाता) है ।

टीकाः—कालके 'नित्य' और 'क्षणिक' ऐसे दो विभागोंका यह कथन है ।

---

१. क्षणभंगी=प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला; प्रतिसमय जिसका ध्वंस होता है ऐसा; क्षणभंगुर; क्षणिक ।

छे 'काल' संज्ञा सत्प्ररूपक तेथी काल सुनित्य छे ।
उत्पन्नध्वंसी अन्य जे ते दीर्घस्थायी पण ठरे ।।१०१।।

काल:' इति सदा व्यपदिश्यते स खलु स्वस्य सद्भावमावेदयन् भवति नित्यः । यस्तु पुनरुत्पन्नमात्र एव प्रध्वस्यते स खलु तस्यैव द्रव्यविशेषस्य समयाख्यः पर्याय इति । स तूत्संगितक्षणभंगोऽप्युपदर्शितस्वसंतानो नयबलाद्दीर्घांतरस्थाय्युपगीयमानो न दुष्यति; ततो न खल्वावलिकापल्योपमसागरोपमादिव्यवहारो विप्रतिषिध्यते । तदत्र निश्चयकालो नित्यः द्रव्यरूपत्वात्, व्यवहारकालः क्षणिकः पर्याय रूपत्वादिति ॥१०१॥

एदे कालागासा धम्माधम्मा य पोग्गला जीवा ।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्तं ॥१०२॥

एते कालाकाशे धर्माधर्मौ च पुद्गला जीवाः ।
लभंते द्रव्यसंज्ञां कालस्य तु नास्ति कायत्वम् ॥१०२॥

"यह काल है, यह काल है"—ऐसा करके जिस द्रव्यविशेषका सदैव व्यपदेश (निर्देश, कथन) किया जाता है, वह (द्रव्यविशेष अर्थात् निश्चयकालरूप मुख्य (खास) द्रव्य सचमुच अपने सद्भावको प्रगट करता हुआ नित्य है; और जो उत्पन्न होते ही नष्ट होता है, वह (व्यवहारकाल) सचमुच उसी द्रव्यविशेषकी 'समय' नामक पर्याय है। वह क्षणभंगुर होने पर भी अपनी संततिको (प्रवाहको) दर्शाता है इसलिए उसे नयके बलसे "दीर्घकाल तक स्थित रहनेवाला" कहनेमें दोष नहीं है; इसलिए आवलिका, पल्योपम, सागरोपम इत्यादि व्यवहारका निषेध नहीं किया जाता।

इसप्रकार यहाँ ऐसा कहा है कि—निश्चयकाल द्रव्यरूप होनेसे नित्य है, व्यवहारकाल पर्यायरूप होनेसे क्षणिक है ।१०१।

गाथा १०२

अन्वयार्थः—[एते] यह [कालाकाशे] काल, आकाश, [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म, [पुद्गलाः] पुद्गल [च] और [जीवाः] जीव (सब) [द्रव्यसंज्ञां लभंते] 'द्रव्य' संज्ञाको प्राप्त करते हैं; [कालस्य तु] परन्तु कालको [कायत्वम्] कायपना [न अस्ति] नहीं है।

आ जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तेम ज नभ विषे ।
छे 'द्रव्य' संज्ञा सर्वने, कायत्व छे नहि कालने ॥ १०२ ॥

कालस्य द्रव्यास्तिकायत्वविधिप्रतिषेधविधानमेतत् । यथा खलु जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि सकलद्रव्यलक्षणसद्भावाद् द्रव्यव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति, तथा कालोऽपि । इत्येवं षड्द्रव्याणि । किंतु यथा जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां द्व्यादिप्रदेशलक्षणत्वमस्त्यस्तिकायत्वं, न तथा लोकाकाशप्रदेशसंख्यानामपि कालाणूनामेकप्रदेशत्वादस्त्यस्तिकायत्वम् । अत एव च पञ्चास्तिकायप्रकरणे न हीह मुख्यत्वेनोपन्यस्तः कालः । जीवपुद्गलपरिणामावच्छिद्यमानपर्यायत्वेन तत्परिणामान्यथानुपपत्त्यानुमीयमानद्रव्यत्वेनात्रैवांतर्भावितः ॥१०२ ।

—इति कालद्रव्यव्याख्यानं समाप्तम् ।

टीकाः—यह, कालको द्रव्यपनेके विधानका और अस्तिकायपनेके निषेधका कथन है (अर्थात् कालको द्रव्यपना है किन्तु अस्तिकायपना नहीं है ऐसा यहाँ कहा है) ।

जिसप्रकार वास्तवमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशको द्रव्यके समस्त लक्षणोंका सद्भाव होनेसे वे 'द्रव्य' संज्ञाको प्राप्त करते हैं, उसीप्रकार काल भी (उसे द्रव्यके समस्त लक्षणोंका सद्भाव होनेसे) 'द्रव्य' संज्ञाको प्राप्त करता है । इसप्रकार छह द्रव्य हैं । किन्तु जिसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशको [1]द्वि-आदि प्रदेश जिसका लक्षण है ऐसा अस्तिकायपना है, उसीप्रकार कालाणुओंको—यद्यपि उनकी संख्या लोकाकाशके प्रदेशों जितनी (—असंख्य) है तथापि—एकप्रदेशीपनेके कारण अस्तिकायपना नहीं है । और ऐसा होनेसे ही (अर्थात् काल अस्तिकाय न होनेसे ही) यहाँ पंचास्तिकायके प्रकरणमें मुख्यतः कालका कथन नहीं किया गया है; (परन्तु) जीव—पुद्गलोंके परिणाम द्वारा जो ज्ञात होता है—मपता है ऐसी उसकी पर्यायें होनेसे तथा जीव-पुद्गलोंके परिणामकी अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है ऐसा वह द्रव्य होनेसे उसे यहाँ [2]अन्तर्भूत किया गया है ।१०२।

इसप्रकार कालद्रव्यका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

---

१. द्वि-आदि = दो या अधिक; दो से लेकर अनन्त तक ।

२. अन्तर्भूत करना = भीतर समा लेना; समाविष्ट करना; समावेश करना । [इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक शास्त्रमें कालका मुख्यरूपसे वर्णन नहीं है, पाँच अस्तिकायोंका मुख्यरूपसे वर्णन है । वहाँ जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकायके परिणामोंका वर्णन करते हुए, उन परिणामों द्वारा जिसके परिणाम ज्ञात होते हैं—नपते हैं उस पदार्थका (कालका) तथा उन परिणामोंकी अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा जिसका अनुमान होता है उस पदार्थका (कालका) गौणरूपसे वर्णन करना उचित है—ऐसा मानकर यहाँ पंचास्तिकायप्रकरणमें गौणरूपसे कालके वर्णनका समावेश किया गया है ।]

एवं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं वियाणित्ता ।
जो मुयदि रागदोसे सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं ॥१०३॥

एवं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकायसंग्रहं विज्ञाय ।
यो मुञ्चति रागद्वेषौ स गाहते दुःखपरिमोक्षम् ॥१०३॥

तदवबोधफलपुरस्सरः पंचास्तिकायव्याख्योपसंहारोऽयम् । न खलु कालकलितपंचास्तिकायेभ्योऽन्यत् किमपि सकलेनापि प्रवचनेन प्रतिपाद्यते । ततः प्रवचनसार एवायं पंचास्तिकायसंग्रहः । यो हि नामामुं समस्तवस्तुतत्त्वाभिधायिनमर्थतोऽर्थितयावबुध्यात्रैव जीवास्तिकायां-

---

गाथा १०३

अन्वयार्थः—[एवम्] इसप्रकार [प्रवचनसारं] प्रवचनके सारभूत [पंचास्तिकायसंग्रहं] 'पंचास्तिकायसंग्रहको' [विज्ञाय] जानकर [यः] जो [रागद्वेषौ] रागद्वेषको [मुञ्चति] छोड़ता है, [सः] वह [दुःखपरिमोक्षम् गाहते] दुःखसे परिमुक्त होता है ।

टीकाः—यहाँ पंचास्तिकायके अवबोधका फल कहकर पंचास्तिकायके व्याख्यानका उपसंहार किया गया है ।

वास्तवमें सम्पूर्ण (द्वादशांगरूपसे विस्तीर्ण) प्रवचन काल सहित पंचास्तिकायसे अन्य कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता; इसलिए प्रवचनका सार ही यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' है । जो पुरुष समस्तवस्तुतत्त्वका कथन करनेवाले इस 'पंचास्तिकायसंग्रहको' [1]अर्थतः [2]अर्थीरूपसे जानकर, इसीमें कहे हुए जीवास्तिकायमें

---

१. अर्थतः=अर्थानुसार; वाच्यका लक्ष करके; वाच्यसापेक्ष; यथार्थ रीतिसे ।

२. अर्थीरूपसे=गरजीरूपसे; याचकरूपसे; सेवकरूपसे; कुछ प्राप्त करनेके प्रयोजनसे (अर्थात् हितप्राप्तिके हेतुसे) ।

ए रीत प्रवचनसाररूप 'पंचास्तिसंग्रह' जाणीने ।
जो जीव छोडे रागद्वेष, लहे सकलदुखमोक्षने ॥१०३॥

तर्गतमात्मानं स्वरूपेणात्यंतविशुद्धचैतन्यस्वभावं निश्चित्य परस्परकार्यकारणीभूतानादिरागद्वेष-परिणामकर्मबन्धसंततिसमारोपितस्वरूपविकारं तदात्वेऽनुभूयमानमवलोक्य तत्कालोन्मीलित-विवेकज्योतिः कर्मबंधसंततिप्रवर्तिकां रागद्वेषपरिणतिमत्यस्यति, स खलु जीर्यमाणस्नेहो जघन्य-

---

[1]अन्तर्गत स्थित अपनेको (निज आत्माको) स्वरूपसे अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाव-वाला निश्चित करके, [2]परस्पर कार्यकारणभूत ऐसे अनादि रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्धकी परम्परासे जिसमें [3]स्वरूपविकार [4]आरोपित है ऐसा अपनेको (निज आत्माको) उस काल अनुभवमें आता देखकर, उस काल विवेकज्योति प्रगट होनेसे (अर्थात् अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभावका और विकारका भेदज्ञान उसी काल प्रगट प्रवर्तमान होनेसे) कर्मबन्धकी परम्पराका प्रवर्तन करनेवाली रागद्वेषपरिणतिको छोड़ता है, वह पुरुष, वास्तवमें जिसका [5]स्नेह जीर्ण होता जाता है ऐसा, जघन्य [6]स्नेहगुणके सन्मुख वर्तते हुए परमाणुकी भाँति भावी बन्धसे पराङ्मुख वर्तता हुआ,

---

१. जीवास्तिकायमें स्वयं (निज आत्मा) समा जाता है, इसलिए जैसा जीवास्तिकायके स्वरूपका वर्णन किया गया है वैसा ही अपना स्वरूप है, अर्थात् स्वयं भी स्वरूपसे अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यस्वभाववाला है।

२. रागद्वेषपरिणाम और कर्मबन्ध अनादि कालसे एक-दूसरेको कार्य-कारणरूप हैं।

३. स्वरूपविकार=स्वरूपका विकार। [स्वरूप दो प्रकारका है : (१) द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत स्वरूप, और (२) पर्यायार्थिक नयके विषयभूत स्वरूप। जीवमें जो विकार होता है वह पर्यायार्थिक नयके विषयभूत स्वरूपमें होता है; द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत स्वरूपमें नहीं; वह (द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत) स्वरूप तो सदैव अत्यन्त विशुद्ध चैतन्यात्मक है]।

४. आरोपित=(नया अर्थात् औपाधिकरूपसे) किया हुआ। [स्फटिकमणिमें औपाधिकरूपसे होनेवाली रंगीन दशाकी भाँति जीवमें औपाधिकरूपसे विकारपर्याय होती हुई कदाचित् अनुभवमें आती है।]

५. स्नेह=रागादिरूप चिकनाहट।

६. स्नेह=स्पर्शगुणकी पर्यायरूप चिकनाहट। (जिसप्रकार जघन्य चिकनाहटके सन्मुख वर्तता हुआ परमाणु भावी बन्धसे पराङ्मुख है, उसीप्रकार जिसके रागादि जीर्ण होते जाते हैं ऐसा पुरुष भावी बन्धसे पराङ्मुख है।)

स्नेहगुणाभिमुखपरमाणुवद्भाविबन्धपराङ्मुखः पूर्वबन्धात्प्रच्यवमानः शिखितप्तोदकदौःस्थ्यानुकारिणो दुःखस्य परिमोक्षं विगाहत इति ॥१०३॥

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहद मोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरापरो जीवो ॥१०४॥

ज्ञात्वैतदर्थं तदनुगमनोद्यतो निहतमोहः ।
प्रशमितरागद्वेषो भवति हतपरापरो जीवः ॥ १०४ ॥

दुःखविमोक्षकरणक्रमाख्यानमेतत् । एतस्य शास्त्रस्यार्थभूतं शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानं कश्चिज्जीवस्तावज्जानीते । ततस्तमेवानुगंतुमुद्यमते । ततोऽस्य क्षीयते दृष्टिमोहः । ततःस्वरूप-

---

पूर्व बंधसे छूटता हुआ, अग्नितप्त जलकी [1]दुःस्थिति समान जो दुःख उससे परिमुक्त होता है ।१०३।

गाथा १०४

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [एतद् अर्थं ज्ञात्वा] इस अर्थको जानकर (–इस शास्त्रके अर्थभूत शुद्ध आत्माको जानकर), [तदनुगमनोद्यतः] उसके अनुसरणका उद्यम करता हुआ [निहतमोहः] हतमोह होकर (–जिसे दर्शनमोहका क्षय हुआ हो ऐसा होकर), [प्रशमितरागद्वेषः] रागद्वेषको प्रशमित (-निवृत्त) करके, [हतपरापरः भवति] उत्तर और पूर्व बन्धका जिसे नाश हुआ है ऐसा होता है ।

टीकाः—यह, दुःखसे विमुक्त होनेके क्रमका कथन है ।

प्रथम, कोई जीव इस शास्त्रके अर्थभूत शुद्धचैतन्यस्वभाववाले (निज) आत्माको जानता है; इसलिये (फिर) उसीके अनुसरणका उद्यम करता है; इसलिये उसे दृष्टिमोहका क्षय होता है; इसलिये स्वरूपके परिचयके कारण ज्ञानज्योति प्रगट

---

१. दुःस्थिति=अशांत स्थिति (अर्थात् तले-ऊपर होना; खदबद होना); अस्थिरता; खराब-बुरी स्थिति । [जिसप्रकार अग्नितप्त जल खदबद होता है, तले ऊपर होता रहता है, उसीप्रकार दुःख आकुलतामय है ।]

आ अर्थ जाणी, अनुगमन-उद्यम करी, हणी मोहने ।
प्रशमावी रागद्वेष, जीव उत्तर-पूरव विरहित बने ॥ १०४ ॥

परिचयादुन्मज्जति ज्ञानज्योतिः। ततो रागद्वेषौप्रशाम्यतः। ततः उत्तरः पूर्वश्च बंधो विनश्यति। ततः पुनर्बंधहेतुत्वाभावात् स्वरूपस्थो नित्यं प्रतपतीति ॥ १०४ ॥

इति समयव्याख्यायामंतर्नीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥ १ ॥

होती है; इसलिये रागद्वेष प्रशमित होते हैं—निवृत्त होते हैं; इसलिये उत्तर और पूर्व (—बादका और पहलेका) बन्ध विनष्ट होता है; इसलिये पुनः, बन्ध होनेके हेतुत्वका अभाव होनेसे स्वरूपस्थरूपसे सदैव तपता है—प्रतापवंत वर्तता है (अर्थात् वह जीव सदा स्वरूपस्थित रहकर परमानन्दज्ञानादिरूप परिणमित होता है) ॥ १०४ ॥

इसप्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रह शास्त्रकी श्रीमद्‌ अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) समयव्याख्या नामक टीकामें षड्द्रव्य-पंचास्तिकायवर्णन नामका प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।
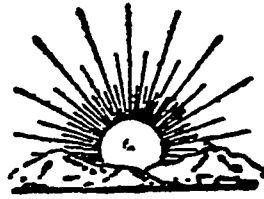
नवपदार्थपूर्वक

मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन

द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन
शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम् ।
पदार्थभंगेन कृतावतारं
प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य ॥७॥

अभिवंदिऊण सिरसा अपुणब्भवकारणं महावीरं ।
तेसिं पयत्थभंगं मग्गं मोक्खस्स वोच्छामि ॥१०५॥

[प्रथम, श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव पहले श्रुतस्कन्धमें क्या कहा गया है और दूसरे श्रुतस्कन्धमें क्या कहा जाएगा वह श्लोक द्वारा अति संक्षेपमें दर्शाते हैं :]

[श्लोकार्थः—] यहाँ (इस शास्त्रके प्रथम श्रुतस्कन्धमें) द्रव्यस्वरूपके प्रतिपादन द्वारा बुध पुरुषोंको (बुद्धिमान जीवोंको) शुद्ध तत्त्व (शुद्धात्मतत्त्व) का उपदेश दिया गया । अब पदार्थभेद द्वारा उपोद्घात करके (–नव पदार्थरूप भेद द्वारा प्रारम्भ करके) उसके मार्गका (–शुद्धात्मतत्त्वके मार्गका अर्थात् उसके मोक्ष मार्गका) वर्णन किया जाता है । [७]

[अब इस द्वितीय श्रुतस्कन्धमें श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचित गाथा-सूत्र प्रारम्भ किए जाते हैं:]

शिरसा नमी अपुनर्जनमना हेतु श्री महावीरने ।
भाखुं पदार्थविकल्प तेम ज मोक्ष केरा मार्गने ॥१०५॥

अभिवंद्य शिरसा अपुनर्भवकारणं महावीरम् ।
तेषां पदार्थभंगं मार्गं मोक्षस्य वक्ष्यामि ।। १०५ ।।

आप्तस्तुतिपुरस्सरा प्रतिज्ञेयम् । अमुना हि प्रवर्तमानमहाधर्मतीर्थस्य मूलकर्तृत्वेनापुनर्भवकारणस्य भगवतः परमभट्टारकमहादेवाधिदेवश्रीवर्धमानस्वामिनः सिद्धिनिबंधनभूतां भावस्तुतिमासूत्र्य, कालकलितपंचास्तिकायानां पदार्थविकल्पो मोक्षस्य मार्गश्च वक्तव्यत्वेन प्रतिज्ञात इति ।। १०५ ।।

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ।।१०६।।

सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं चारित्रं रागद्वेषपरिहीणम् ।
मोक्षस्य भवति मार्गो भव्यानां लब्धबुद्धीनाम् ।।१०६।।

गाथा १०५

अन्वयार्थः—[अपुनर्भवकारणं] अपुनर्भवके कारण [महावीरम्] श्री महावीरको [शिरसा अभिवंद्य] शिरसा वंदन करके, [तेषां पदार्थभङ्गं] उनका पदार्थभेद (—काल सहित पंचास्तिकायका नवपदार्थरूप भेद) तथा [मोक्षस्य मार्गं] मोक्षका मार्ग [वक्ष्यामि] कहूँगा ।

टीकाः—यह, आप्तकी स्तुतिपूर्वक प्रतिज्ञा है ।

प्रवर्तमान महाधर्मतीर्थके मूल कर्ता जो [1]अपुनर्भवके कारण हैं ऐसे भगवान, परम भट्टारक, महादेवाधिदेव श्री वर्धमानस्वामीकी, सिद्धत्वके निमित्तभूत भावस्तुति करके, काल सहित पंचास्तिकायका पदार्थभेद (अर्थात् छह द्रव्योंका नव पदार्थरूप भेद) तथा मोक्षका मार्ग कहनेकी इस गाथासूत्रमें प्रतिज्ञा की गई है ।१०५।

गाथा १०६

अन्वयार्थः—[सम्यक्त्वज्ञानयुक्तं] सम्यक्त्व और ज्ञानसे संयुक्त ऐसा [चारित्रं]

---

१. अपुनर्भव = मोक्ष । [परम पूज्य भगवान श्री वर्धमानस्वामी, वर्तमानमें प्रवर्तित जो रत्नत्रयात्मक महाधर्मतीर्थ उसके मूल प्रतिपादक होनेसे, मोक्षसुखरूपी सुधारसके पिपासु भव्योंको मोक्षके निमित्तभूत हैं ।]

सम्यक्त्वज्ञान समेत चारित रागद्वेषविहीन जे ।
ते होय छे निर्वाणमारग लब्धबुद्धि भव्यने ।।१०६।।

मोक्षमार्गस्यैव तावत्सूचनेयम् । सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव नासम्यक्त्वज्ञानयुक्तं, चारित्रमेव नाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीणमेव न रागद्वेषापरिहीणम्, मोक्षस्यैव न भावतो बंधस्य, मार्ग एव नामार्गः, भव्यानामेव नाभव्यानां, लब्धबुद्धीनामेव नालब्धबुद्धीनां, क्षीणकषायत्वे भवत्येव न कषायसहितत्वे भवतीत्यष्टधा नियमोऽत्र द्रष्टव्यः ॥१०६॥

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसएसु विरूढमग्गाणं ॥१०७॥

चारित्र—[रागद्वेपपरिहीणम्] जो कि रागद्वेषसे रहित हो वह, [लब्धबुद्धीनाम्] लब्धबुद्धि [भव्यानां] भव्यजीवोंको [मोक्षस्य मार्गः] मोक्षका मार्ग [भवति] होता है ।

टीकाः—प्रथम, मोक्षमार्गकी ही यह सूचना है ।

सम्यक्त्व और ज्ञानसे ही युक्त—न कि असम्यक्त्व और अज्ञानसे युक्त, चारित्र ही—न कि अचारित्र, रागद्वेष रहित हो ऐसा ही (चारित्र)—न कि रागद्वेष सहित हो ऐसा, मोक्षका ही—[1]भावतः न कि बंधका, मार्ग ही—न कि अमार्ग, भव्योंको ही—न कि अभव्योंको, [2]लब्धबुद्धियोंको ही—न कि अलब्धबुद्धियोंको, [3]क्षीणकषायपनेमें ही होता है—न कि कषायसहितपनेमें होता है । इसप्रकार आठ प्रकारसे नियम यहाँ देखना (अर्थात् इस गाथामें उपरोक्त आठ प्रकारसे नियम कहा है ऐसा समझना) । १०६ ।

---

१. भावतः=भाव अनुसार; आशय अनुसार । ('मोक्षका' कहते ही 'बंधका नहीं' ऐसा भाव अर्थात् आशय स्पष्ट समझमें आता है ।

२. लब्धबुद्धि=जिन्होंने बुद्धि प्राप्त की हो ऐसे ।

३. क्षीणकषायपनेमें ही=क्षीणकषायपना होते ही; क्षीणकषायपना हो तभी । [सम्यक्त्वज्ञानयुक्त चारित्र—जो कि रागद्वेषरहित हो; लब्धबुद्धि भव्यजीवोंको, क्षीणकषायपना होते ही, मोक्षका मार्ग होता है]।

'भावो' तणी श्रद्धा सुदर्शन, बोध तेनो ज्ञान छे ।
वधु रूढ मार्ग थतां विषयमां साम्य ते चारित्र छे ॥१०७॥

सम्यक्त्वं श्रद्धानं भावानां तेषामधिगमो ज्ञानम् ।
चारित्रं समभावो विषयेषु विरूढमार्गाणाम् ॥ १०७ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सूचनेयम् । भावाः खलु कालकलितपंचास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्थाः । तेषां मिथ्यादर्शनोदयापादिताश्रद्धानाभावस्वभावं भावांतरं श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविनिश्चयबीजम् । तेषामेव मिथ्यादर्शनो दयान्नौयान-

---

गाथा १०७

अन्वयार्थः—[भावानां] भावोंका (—नव पदार्थोंका) [श्रद्धानं] श्रद्धान [सम्यक्त्वं] वह सम्यक्त्व है; [तेषाम् अधिगमः] उनका अवबोध [ज्ञानम्] वह ज्ञान है; [विरूढमार्गाणाम्] (निज तत्त्वमें) जिनका मार्ग विशेष रूढ हुआ है उन्हें [विषयेषु] विषयोंके प्रति वर्तता हुआ [समभावः] समभाव [चारित्रम्] वह चारित्र है ।

टीकाः—यह, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी सूचना है ।

काल सहित पंचास्तिकायके भेदरूप नव पदार्थ वे वास्तवमें 'भाव' हैं । उन 'भावोंका' मिथ्यादर्शनके उदयसे प्राप्त होनेवाला जो अश्रद्धान उसके अभावस्वभाववाला जो [1]भावान्तर—श्रद्धान (अर्थात् नव पदार्थोंका श्रद्धान), वह सम्यग्दर्शन है—जो कि (सम्यग्दर्शन) शुद्ध चैतन्यरूप आत्मतत्त्वके [2]विनिश्चयका बीज है । [3]नौकागमन-केसंस्कारकी भाँति मिथ्यादर्शनके उदयके कारण जो स्वरूपविपर्ययपूर्वक अध्यवसित होते हैं (अर्थात् विपरीत स्वरूपसे समझमें आते हैं—भासित होते हैं) ऐसे उन

---

१. भावान्तर=भावविशेष; खास-मुख्य भाव; दूसरा भाव; भिन्न भाव । [नव पदार्थोंके अश्रद्धानका अभाव जिसका स्वभाव है ऐसा भावान्तर (—नवपदार्थोंके श्रद्धानरूप भाव) वह सम्यग्दर्शन है ।]

२. विनिश्चय=निश्चय; दृढ़ निश्चय ।

३. जिसप्रकार नावमें बैठे हुए किसी मनुष्यको नावकी गतिके संस्कारवश, पदार्थ विपरीत स्वरूपसे समझमें आते हैं (अर्थात् स्वयं गतिमान होने पर भी स्थिर हो ऐसा समझमें आता है और वृक्ष, पर्वत आदि स्थिर होने पर भी गतिमान समझमें आते हैं), उसीप्रकार जीवको मिथ्यादर्शनके उदयवश नव पदार्थ विपरीत स्वरूपसे समझमें आते हैं ।

संस्कारादि* स्वरूपविपर्ययेणाध्यवसीयमानानां तन्निवृत्तौ समञ्जसाध्यवसायः सम्यग्ज्ञानं, मनाग्ज्ञानचेतनाप्रधानात्मतत्त्वोपलंभबीजम् । सम्यग्दर्शनज्ञानसन्निधानादमार्गेभ्यः समग्रेभ्यः परिच्युत्य स्वतत्वे विशेषेण रूढमार्गाणां सतामिन्द्रियानिन्द्रियविषयभूतेष्वर्थेषुरागद्वेषपूर्वकविकाराभावान्निर्विकारावबोधस्वभावः समभावश्चारित्रं, तदात्वायतिरमणीयमनणीयसोऽपुनर्भवसौख्यस्यैकबीजम् । इत्येष त्रिलक्षणो मोक्षमार्गःपुरस्तान्निश्चयव्यवहाराभ्यां व्याख्यास्यते । इह तु सम्यग्दर्शनज्ञानयोर्विषयभूतानां नवपदार्थानामुपोद्घातहेतुत्वेन सूचित इति ॥१०७॥

'भावोंका' ही (—नव पदार्थोंका ही), मिथ्यादर्शनके उदयकी निवृत्ति होने पर, जो सम्यक् अध्यवसाय (सत्य समझ, यथार्थ अवभास, सच्चा अवबोध) होना, वह सम्यग्ज्ञान है—जो कि (सम्यग्ज्ञान) कुछ अंशोंमें ज्ञानचेतनाप्रधान आत्मतत्त्वकी उपलब्धिका (अनुभूतिका) बीज है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके सद्भावके कारण समस्त अमार्गोंसे छूटकर जो स्वतत्त्वमें विशेषरूपसे [1]रूढ़ मार्गवाले हुए हैं उन्हें इन्द्रिय और मनके विषयभूत पदर्थोंके प्रति रागद्वेषपूर्वक विकारके अभावके कारण जो निर्विकारज्ञानस्वभाववाला समभाव होता है, वह चारित्र है—जो कि (चारित्र) उस कालमें और आगामी कालमें रमणीय है और अपुनर्भवके (मोक्षके) महा सौख्यका एक बीज है ।

—ऐसे इस त्रिलक्षण (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक) मोक्षमार्गका आगे निश्चय और व्यवहारसे व्याख्यान किया जाएगा । यहाँ तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयभूत नवपदार्थोंके [2]उपोद्घातके हेतुरूपसे उसकी सूचना दी गई है । १०७ ।

---

* यहाँ, 'संस्कारादिके' बदले जहाँ तक सम्भव है 'संस्कारादिव' होना चाहिए ऐसा लगता है ।

१. रूढ़=पक्का, परिचयसे दृढ़ हुआ । (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके कारण जिनका स्वतत्त्वगत मार्ग विशेष रूढ़ हुआ है उन्हें इन्द्रियमनके विषयोंके प्रति रागद्वेषके अभावके कारण वर्तता हुआ निर्विकारज्ञानस्वभावी समभाव वह चारित्र है ।)

२. उपोद्घात=प्रस्तावना । [सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है । मोक्षमार्गके प्रथम दो अंग जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान उनके विषय नव पदार्थ हैं; इसलिये अब अगली गाथाओंमें नव पदार्थोंका व्याख्यान किया जाता है । मोक्षमार्गका विस्तृत व्याख्यान आगे किया जायेगा । यहाँ तो नव पदार्थोंके व्याख्यानकी प्रस्तावनाके हेतुरूपसे उसकी मात्र सूचना दी गई है ।]

जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं ।
संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा ॥ १०८ ॥

जीवाजीवौ भावौ पुण्यं पापं चास्रवस्तयोः ।
संवरनिर्जरबन्धा मोक्षश्च भवन्ति ते अर्थाः ॥ १०८ ॥

पदार्थानां नामस्वरूपाभिधानमेतत् । जीवः, अजीवः, पुण्यं, पापं, आस्रवः, संवरः, निर्जरा, बन्धः, मोक्ष इति नवपदार्थानां नामानि । तत्र चैतन्यलक्षणो जीवास्तिक एवेह जीवः । चैतन्याभावलक्षणोऽजीवः । स पंचधा पूर्वोक्त एव— पुद्गलास्तिकः, धर्मास्तिकः, अधर्मास्तिकः, आकाशास्तिकः, कालद्रव्यं चेति । इमौ हि जीवाजीवौ पृथग्भूतास्तित्वनिर्वृत्तत्वेन भिन्नस्वभावभूतौ मूलपदार्थौ । जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ताः सप्तान्ये पदार्थाः । शुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः

गाथा १०८

अन्वयार्थः—[जीवाजीवौ भावौ] जीव और अजीव—दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा [तयोः] उन दो के [पुण्यं] पुण्य, [पापं च] पाप, [आस्रवः] आस्रव, [संवरनिर्जराबंधाः] संवर, निर्जरा, बंध [च] और [मोक्षः] मोक्ष—[ते अर्थाः भवन्ति] वह (नव) पदार्थ हैं ।

टीकाः—यह, पदार्थोंके नाम और स्वरूपका कथन है ।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष—इसप्रकार नव पदार्थोंके नाम हैं ।

उनमें, चैतन्य जिसका लक्षण है ऐसा जीवास्तिक ही (–जीवास्तिकाय ही) यहाँ जीव है । चैतन्यका अभाव जिसका लक्षण है वह अजीव है : वह (अजीव) पाँच प्रकारसे पहले कहा ही है— पुद्गलास्तिक, धर्मास्तिक, अधर्मास्तिक, आकाशास्तिक और कालद्रव्य । यह जीव और अजीव (दोनों) पृथक् अस्तित्व द्वारा निष्पन्न होनेसे भिन्न जिनके स्वभाव हैं ऐसे (दो) मूल पदार्थ हैं ।

वे भाव—जीव अजीव, तद्गत पुण्य तेम ज पाप ने ।
आसरव, संवर, निर्जरा, वणी बन्ध, मोक्ष—पदार्थ छे ॥ १०८ ॥

कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पुण्यम् । अशुभपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पापम् । मोहरागद्वेषपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानाञ्चास्रवः । मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो जीवस्य, तन्निमित्तः कर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां च संवरः । कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरंगान्तरङ्गतपोभिर्बृंहित-शुद्धोपयोगो जीवस्य, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां च निर्जरा । मोहरागद्वेषस्निग्धपरिणामो जीवस्य, तन्निमित्तेन कर्मत्वपरिणतानां जीवेन सहान्योन्यसंमूर्च्छनं पुद्गलानां च बंधः । अत्यंतशुद्धात्मोपलम्भो जीवस्य, जीवेन सहात्यंतविश्लेषः कर्मपुद्गलानां च मोक्ष इति ।। १०८ ।।

जीव और पुद्गलके संयोग परिणामसे उत्पन्न होनेवाले सात अन्य पदार्थ हैं । (उनका संक्षिप्त स्वरूप निम्नानुसार है:—) जीवके शुभपरिणाम (वह पुण्य है) तथा वे (शुभ परिणाम) जिनका निमित्त हैं ऐसे पुद्गलोंके कर्मपरिणाम (–शुभ-कर्मरूप परिणाम) वह पुण्य है । जीवके अशुभ परिणाम (वह पाप है) तथा वे (अशुभ परिणाम) जिनका निमित्त हैं ऐसे पुद्गलोंके कर्मपरिणाम (–अशुभकर्मरूप परिणाम) वह पाप है । जीवके मोहरागद्वेषरूप परिणाम (वह आस्रव है) तथा वे (मोहरागद्वेषरूप परिणाम) जिनका निमित्त हैं ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंके कर्मपरिणाम वह आस्रव है । जीवके मोहरागद्वेषरूप परिणामका निरोध (वह संवर है) तथा वह (मोहरागद्वेषरूप परिणामका निरोध) जिसका निमित्त है ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंके कर्मपरिणामका निरोध वह संवर है । कर्मके वीर्यका (–कर्मकी शक्तिका) [1]शातन करनेमें समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अंतरंग (बारह प्रकारके) तपों द्वारा वृद्धिको प्राप्त जीवका शुद्धोपयोग (वह निर्जरा है) तथा उसके प्रभावसे (–वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोगके निमित्तसे) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलोंका एकदेश [2]संक्षय वह निर्जरा है । जीवके, मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध परिणाम (वह बंध है) तथा उनके (–स्निग्ध परिणामोंके) निमित्तसे कर्मरूप परिणत पुद्गलोंका जीवके साथ अन्योन्य अवगाहन (–विशिष्ट शक्ति सहित एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्ध) वह बंध है । जीवकी अत्यन्त शुद्ध आत्मोपलब्धि (वह मोक्ष है) तथा कर्मपुद्गलोंका जीवसे अत्यन्त विश्लेष (वियोग) वह मोक्ष है ।१०८।

---

१. शातन करना=पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना ।

२. संक्षय=सम्यक् प्रकारसे क्षय ।

अथ जीवपदार्थानां व्याख्यानं प्रपंचयति ।

जीवा संसारत्था णिव्वादा चेदणप्पगा दुविहा ।
उवओगलक्खणा वि य देहादेहप्पवीचारा ॥१०९॥

जीवाः संसारस्था निर्वृत्ताः चेतनात्मका द्विविधाः ।
उपयोगलक्षणा अपि च देहादेहप्रवीचाराः ॥ १०९ ॥

जीवस्वरूपोद्देशोऽयम् । जीवाः हि द्विविधाः, संसारस्था अशुद्धा, निर्वृत्ताः शुद्धाश्च । ते खलूभयेऽपि चेतनास्वभावाः, चेतनापरिणामलक्षणेनोपयोगेन लक्षणीयाः । तत्र संसारस्था देहप्रवीचाराः, निर्वृत्ता अदेहप्रवीचारा इति ॥ १०९ ॥

अब जीवपदार्थका व्याख्यान विस्तारपूर्वक किया जाता है ।

गाथा १०९

अन्वयार्थः—[जीवाः द्विविधाः] जीव दो प्रकारके हैं—[संसारस्थाः निर्वृत्ताः] संसारी और सिद्ध । [चेतनात्मकाः] वे चेतनात्मक (–चेतनास्वभाववाले) [अपि च] तथा [उपयोगलक्षणाः] उपयोगलक्षणवाले हैं । [देहादेहप्रवीचाराः] संसारी जीव देहमें वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देहमें न वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं ।

टीकाः—यह, जीवके स्वरूपका कथन है ।

जीव दो प्रकारके हैं—(१) संसारी अर्थात् अशुद्ध, और (२) सिद्ध अर्थात् शुद्ध । वे दोनों वास्तवमें चेतनास्वभाववाले हैं और [1]चेतनापरिणामस्वरूप उपयोग द्वारा लक्षित होनेयोग्य (पहिचानेजानेयोग्य) हैं । उनमें संसारी जीव देहमें वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित हैं और सिद्ध जीव देहमें न वर्तनेवाले अर्थात् देहरहित हैं । १०९ ।

---

१. चेतनाका परिणाम सो उपयोग । वह उपयोग जीवरूपी लक्ष्यका लक्षण है ।

जीवो द्विविध—संसारी, सिद्धो; चेतनात्मक उभय छे ।
उपयोगलक्षण उभय; अेक सदेह, अेक अदेह छे ॥ १०९ ।

पुढवी य उदगमगणी वाउ वणप्फदि जीवसंसिदा काया ।
देंति खलु मोहबहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं ॥११०॥

पृथिवी चोदकमग्निर्वायुर्वनस्पतिः जीवसंश्रिताः कायाः ।
ददति खलु मोहबहुलं स्पर्शं बहुका अपि ते तेषाम् ॥ ११० ॥

पृथिवीकायिकादिपंचभेदोद्देशोऽयम् । पृथिवीकायाः, अप्कायाः, तेजःकायाः, वायुकायाः, वनस्पतिकायाः इत्येते पुद्गलपरिणामा बंधवशाज्जीवानुसंश्रिताः, अवांतरजातिभेदाद्बहुका अपि स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमभाजां जीवानां बहिरङ्गस्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिभूताः कर्मफल-

---

गाथा ११०

अन्वयार्थः—[पृथिवी] पृथ्वीकाय, [उदकम्] अप्काय, [अग्निः] अग्निकाय, [वायुः] वायुकाय [च] और [वनस्पतिः] वनस्पतिकाय—[कायाः] यह कायें [जीवसंश्रिताः] जीवसहित हैं । [बहुकाः अपि ते] (अवान्तर जातियोंकी अपेक्षासे) उनकी भारी संख्या होने पर भी वे सभी [तेषाम्] उनमें रहनेवाले जीवोंको [खलु] वास्तवमें [मोहबहुलं] अत्यन्त मोहसे संयुक्त [स्पर्शं ददति] स्पर्श देती हैं (अर्थात् स्पर्शज्ञानमें निमित्त होती हैं) ।

टीकाः—यह, (संसारी जीवोंके भेदोंमेंसे) पृथ्वीकायिक आदि पाँच भेदोंका कथन है ।

[1]पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजःकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—ऐसे यह पुद्गलपरिणाम बंधवशात् (बंधके कारण) जीवसहित हैं । [2]अवान्तर जातिरूप भेद करने पर वे अनेक होने पर भी वे सभी (पुद्गलपरिणाम), स्पर्शनेन्द्रियावरणके

---

१. काय=शरीर । (पृथ्वीकाय आदि कायें पुद्गलपरिणाम हैं; उनका जीवके साथ बंध होनेके कारण वे जीवसहित होती हैं ।)

२. अवान्तर जाति=अन्तर्गत-जाति । (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजःकाय और वायुकाय—इन चारमेंसे प्रत्येकके सात लाख अन्तर्गत-जातिरूप भेद हैं; वनस्पतिकायके दस लाख भेद हैं ।)

भू-जल-अनल-वायु-वनस्पतिकाय जीवसहित छे ।
बहु काय ते अतिमोहसंयुत स्पर्श आपे जीवने ॥ ११० ॥

चेतनाप्रधानत्वान्मोहबहुलमेव स्पर्शोपलंभं संपादयन्तीति ॥ ११० ॥

ति त्थावरतणुजोगा अणिलाणलकाइया य तेसु तसा ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एइंदिया णेया ॥ १११ ॥

त्रयः स्थावरतनुयोगा अनिलानलकायिकाश्च तेषु त्रसाः ।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ॥ १११ ॥

एदे जीवणिकाया पंचविधा पुढविकाइयादीया ।
मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया ॥११२॥

क्षयोपशमवाले जीवोंको वहिरंग स्पर्शनेन्द्रियकी रचनाभूत वर्तते हुए, कर्मफलचेतना-प्रधानपनेके कारण अत्यन्त मोह सहित ही [1]स्पर्शोपलब्धि संप्राप्त कराते हैं ।११०।

गाथा १११

अन्वयार्थः—[तेषु] उनमें, [त्रयः] तीन (पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक) जीव [स्थावरतनुयोगाः] स्थावर शरीरके संयोगवाले हैं [च] तथा [अनिलानलकायिकाः] वायुकायिक और अग्निकायिक जीव [त्रसाः] [2]त्रस हैं; [मनःपरिणामविरहिताः] वे सब मनपरिणामरहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना । १११ ।

---

१. स्पर्शोपलब्धि=स्पर्शकी उपलब्धि; स्पर्शका ज्ञान; स्पर्शका अनुभव । [पृथ्वीकायिक] आदि जीवोंको स्पर्शनेन्द्रियावरणका (-भावस्पर्शनेन्द्रियके आवरणका) क्षयोपशम होता है और वे-वे कायें वाह्य स्पर्शनेन्द्रियकी रचनारूप होती हैं, इसलिए वे-वे कायें उन-उन जीवोंको स्पर्शकी उपलब्धिमें निमित्तभूत होती हैं । उन जीवोंको होनेवाली वह स्पर्शोपलब्धि प्रबल मोह सहित ही होती है, क्योंकि वे जीव कर्मफलचेतनाप्रधान होते हैं ।]

२. वायुकायिक तथा अग्निकायिक जीवोंको चलनक्रिया देखकर व्यवहारसे त्रस कहा जाता है। निश्चयसे तो वे भी स्थावरनामकर्माधीनपनेके कारण—यद्यपि उन्हें व्यवहारसे चलन है तथापि—स्थावर ही हैं ।

त्यां जीव त्रण स्थावरतनु, त्रस जीव अग्नि-समीरना ।
अे सर्व मनपरिणामविरहित अेक-इंद्रिय जाणवा ॥१११॥
आ पृथ्वीकायिक आदि जीवनिकाय पाँच प्रकारना ।
सघणाय मनपरिणामविरहित जीव अेकेंद्रिय कह्या ॥ ११२ ।.

एते जीवनिकायाः पंचविधाः पृथिवीकायिकाद्याः ।
मनःपरिणामविरहिता जीवा एकेन्द्रिया भणिताः ॥११२॥

पृथिवीकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयम् । पृथिवीकायिकादयो हि जीवाः स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सत्येकेन्द्रिया अमनसो भवंतीति ॥११२॥

अंडेसु पवड्ढंता गब्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥ ११३ ॥

अंडेषु प्रवर्धमाना गर्भस्था मानुषाश्च मूर्च्छां गताः ।
यादृशास्तादृशा जीवा एकेन्द्रिया ज्ञेयाः ॥ ११३ ॥

गाथा ११२

अन्वयार्थः—[एते] इन [पृथिवीकायिकाद्याः] पृथ्वीकायिक आदि [पञ्चविधाः] पांच प्रकारके [जीवनिकायाः] जीवनिकायोंको [मनः परिणामविरहिताः] मनपरिणाम रहित [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [भणिताः] (सर्वज्ञने) कहा है ।

टीकाः—यह, पृथ्वीकायिक आदि पांच (–पंचविध) जीवोंके एकेन्द्रियपनेका नियम है ।

पृथ्वीकायिक आदि जीव, स्पर्शनेन्द्रियके (–भावस्पर्शनेन्द्रियके) आवरणके क्षयोपशमके कारण तथा शेष इन्द्रियोंके (–चार भावेन्द्रियोंके) आवरणका उदय तथा मनके (भावमनके) आवरणका उदय होनेसे, मनरहित एकेन्द्रिय हैं ।११२।

गाथा ११३

अन्वयार्थः—[अंडेषु प्रवर्धमानाः] अंडेमें वृद्धि पानेवाले प्राणी, [गर्भस्थाः] गर्भमें रहेहुए प्राणी [च] और [मूर्च्छां गताः मानुषाः] मूर्च्छा प्राप्त मनुष्य, [यादृशाः] जैसे (बुद्धिपूर्वक व्यापार रहित) हैं, [तादृशाः] वैसे [एकेन्द्रियाः जीवाः] एकेन्द्रिय जीव [ज्ञेयाः] जानना ।

जेवा जीवो अंडस्थ, मूर्छावस्थ वा गर्भस्थ छे ।
तेवा बधा आ पंचविध अेकेंद्रि जीवो जाणजे ॥११३॥

एकेन्द्रियाणां चैतन्यास्तित्वे दृष्टांतोपन्यासोऽयम् । अंडांतर्लीनानां, गर्भस्थानां, मूर्च्छितानां च बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनेऽपि येन प्रकारेण जीवत्वं निश्चीयते, तेन प्रकारेणैकेन्द्रियाणामपि, उभयेषामपि बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनस्य समानत्वादिति ॥११३॥

संबुक्कमादुवाहा संखा सिप्पी अपादगा य किमी ।
जाणंति रसं फासं जे ते बेइंदिया जीवा ॥११४॥

शंबूकमातृवाहाः शङ्खाः शुक्तयोऽपादकाः च कृमयः ।
जानन्ति रसं स्पर्शं ये ते द्वीन्द्रियाः जीवाः ॥ ११४ ॥

टीकाः—यह, एकेन्द्रियोंको चैतन्यका अस्तित्व होने सम्बन्धी दृष्टान्तका कथन है ।

अंडेमें रहेहुए, गर्भमें रहेहुए और मूर्च्छा पाए हुए (प्राणियों) के जीवत्वका, उन्हें बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता तथापि, जिसप्रकार निश्चय किया जाता है, उसीप्रकार एकेन्द्रियोंके जीवत्वका भी निश्चय किया जाता है; क्योंकि दोनोंमें बुद्धिपूर्वक व्यापारका [1]अदर्शन समान है ।

भावार्थः—जिसप्रकार गर्भस्थादि प्राणियोंमें, ईहापूर्वक व्यवहारका अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही, उसीप्रकार एकेन्द्रियोंमें भी, ईहापूर्वक व्यवहारका अभाव होने पर भी, जीवत्व है ही ऐसा आगम, अनुमान इत्यादिसे निश्चित किया जा सकता है ।

यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना कि—जीव परमार्थसे स्वाधीन अनंत ज्ञान और सौख्य सहित होने पर भी अज्ञान द्वारा पराधीन इन्द्रियसुखमें आसक्त होकर जो कर्मबन्ध करता है उसके निमित्तसे अपनेको एकेन्द्रिय और दुःखी करता है ।११३।

गाथा ११४

अन्वयार्थः—[शंबूकमातृवाहाः] शंबूक, मातृवाह, [शंङ्खाः] शंख, [शुक्तयः] सीप [च] और [अपादकाः कृमयः] पग रहित कृमि—[ये] जो कि [रसं स्पर्शं]

---

१. अदर्शन=दृष्टिगोचर नहीं होना ।

शंबूक, छीपो, मातृवाहो, शंख, कृमि पग-वगरना ।
—जे जाणता रसस्पर्शने, ते जीव द्वींद्रिय जाणवा ॥११४॥

द्वीन्द्रियप्रकारसूचनेयम् । एते स्पर्शनरसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसयोः परिच्छेत्तारो द्वीन्द्रिया अमनसो भवंतीति ॥११४॥

जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छुयादिया कीडा ।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा ॥ ११५ ॥

यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिका वृश्चिकादयः कीटाः ।
जानन्ति रसं स्पर्शं गंधं त्रीन्द्रियाः जीवाः ॥ ११५ ॥

त्रीन्द्रियप्रकारसूचनेयम् । एते स्पर्शनरसनघ्राणेंद्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधानां परिच्छेत्तारस्त्रीन्द्रिया अमनसो भवंतीति ॥ ११५ ॥

रस और स्पर्शको [जानन्ति] जानते हैं [ते] वे—[द्वीन्द्रियाः जीवाः] द्वीन्द्रिय जीव हैं ।

टीकाः—यह, द्वीन्द्रिय जीवोंके प्रकारकी सूचना है ।

स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रियके (–इन दो भावेन्द्रियोंके) आवरणके क्षयोपशमके कारण तथा शेष इन्द्रियोंके (–तीन भावेन्द्रियोंके) आवरणका उदय तथा मनके (–भावमनके) आवरणका उदय होनेसे स्पर्श और रसको जाननेवाले यह (शंबूक आदि) जीव मनरहित द्वीन्द्रिय जीव हैं ।११४।

गाथा ११५

अन्वयार्थः—[यूकाकुंभीमत्कुणपिपीलिकाः] जूँ, कुंभी, खटमल, चींटी और [वृश्चिकादयः] बिच्छू आदि [कीटाः] जन्तु [रसं स्पर्शं गंधं] रस, स्पर्श और गंधको [जानन्ति] जानते हैं; [त्रीन्द्रियाः जीवाः] वे त्रीन्द्रिय जीव हैं ।

टीकाः—यह, त्रीन्द्रिय जीवोंके प्रकारकी सूचना है ।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रियके आवरणके क्षयोपशमके कारण तथा शेष इन्द्रियोंके आवरणका उदय तथा मनके आवरणका उदय होनेसे स्पर्श, रस और गंधको जाननेवाले यह (जूँ आदि) जीव मनरहित त्रीन्द्रिय जीव हैं । ११५ ।

जू, कुंभी, माकड, कीडी तेम ज वृश्चिकादिक जंतु जे ।
रस, गंध तेम ज स्पर्श जाणे, जीव त्रींद्रिय तेह छे ॥ ११५ ॥

उद्दंसमसयमक्खियमधुकरिभमरा पयंगमादीया ।
रूवं रसं च गंधं फासं पुण ते विजाणंति ॥ ११६ ॥

उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः पतङ्गाद्याः ।
रूपं रसं च गंधं स्पर्शं पुनस्ते विजानन्ति ॥११६॥

चतुरिन्द्रियप्रकारसूचनेयम् । एते स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरिन्द्रियावरणक्षयोपशमात् श्रोत्रेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सति स्पर्शरसगंधवर्णानां परिच्छेत्तारश्चतुरिन्द्रिया अमनसो भवंतीति ॥ ११६ ॥

सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू ।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा ॥११७॥

गाथा ११६

अन्वयार्थः—[पुनः] पुनश्च [उद्दंशमशकमक्षिकामधुकरीभ्रमराः] डाँस, मच्छर, मक्खी, मधुमक्खी, भँवरा और [पतङ्गाद्याः ते] पतंगे आदि जीव [रूपं] रूप, [रसं] रस, [गंधं] गंध, [च] और [स्पर्शं] स्पर्शको [विजानन्ति] जानते हैं । (वे चतुरिन्द्रिय जीव हैं ।)

टीकाः—यह, चतुरिन्द्रिय जीवोंके प्रकारकी सूचना है ।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रियके आवरणके क्षयोपशमके कारण तथा श्रोत्रेन्द्रियके आवरणका उदय तथा मनके आवरणका उदय होनेसे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णको जाननेवाले यह (डाँस आदि) जीव मनरहित चतुरिन्द्रिय जीव हैं ।११६।

मधमाख, भ्रमर, पतंग, माखी, डांस, मच्छर आदि जे ।
ते जीव जाणे स्पर्शने, रस, गंध तेम ज रूपने ॥ ११६ ॥

स्पर्शादि पंचक जाणतां तिर्यंच-नारक-सुर-नरो ।
—जळचर, भूचर के खेचरो—बलवान पंचेंद्रिय जीवो ॥११७॥

सुरनरनारकतिर्यञ्चो वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः ।
जलचरस्थलचरखचरा बलिनः पंचेन्द्रिया जीवाः ॥११७॥

पंचेन्द्रियप्रकारसूचनेयम् । अथ स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् नोइन्द्रियावरणोदये सति स्पर्शरसगंधवर्णशब्दानां परिच्छेत्तारः पंचेन्द्रिया अमनस्काः । केचित्तु नोइन्द्रियावरणस्यापि क्षयोपशमात् समनस्काश्च भवन्ति । तत्र देवमनुष्यनारकाः समनस्का एव, तिर्यञ्च उभयजातीया इति ॥११७॥

देवा चउण्णिकाया मणुया पुण कम्मभोगभूमीया ।
तिरिया बहुप्पयारा णेरइया पुढविभेयगदा ॥११८॥

देवाश्चतुर्णिकायाः मनुजाः पुनः कर्मभोगभूमिजाः ।
तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः नारकाः पृथिवीभेदगताः ॥ ११८ ॥

गाथा ११७

अन्वयार्थः—[वर्णरसस्पर्शगंधशब्दज्ञाः] वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको जाननेवाले [सुरनरनारकतिर्यञ्चः] देव-मनुष्य-नारक-तिर्यंच—[जलचरस्थलचरखचराः] जो जलचर, स्थलचर, खेचर होते हैं वे—[बलिनः पंचेन्द्रियाः जीवाः] बलवान पंचेन्द्रिय जीव हैं ।

टीकाः—यह, पंचेन्द्रिय जीवोंके प्रकारकी सूचना है ।

स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रियके आवरणके क्षयोपशमके कारण, मनके आवरणका उदय होनेसे, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्दको जाननेवाले जीव मनरहित पंचेन्द्रिय जीव हैं; कुछ (पंचेन्द्रिय जीव) तो, उन्हें मनके आवरणका भी क्षयोपशम होनेसे, मनसहित (पंचेन्द्रिय जीव) होते हैं ।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी मनसहित ही होते हैं; तिर्यंच दोनों जातिके (अर्थात् मनरहित तथा मनसहित) होते हैं ।११७।

गाथा ११८

अन्वयार्थः—[देवाः चतुर्णिकायाः] देवोंके चार निकाय हैं, [मनुजाः कर्मभोग-

---

नर कर्मभूमिज भोगभूमिज, देव चार प्रकारना ।
तिर्यंच बहुविध, नारकोना पृथ्वीगत भेदो कह्या ॥११८॥

इन्द्रियभेदेनोक्तानां जीवानां चतुर्गतिसंबंधत्वेनोपसंहारोऽयम् । देवगतिनाम्नो देवायुषश्चोदयाद्देवाः, ते च भवनवासिव्यंतरज्योतिष्कवैमानिकनिकायभेदाच्चतुर्धा । मनुष्यगतिनाम्नो मनुष्यायुषश्च उदयान्मनुष्याः । ते कर्मभोगभूमिजभेदात् द्वेधा । तिर्यग्गतिनाम्नस्तिर्यगायुषश्च उदयात्तिर्यञ्चः । ते पृथिवीशम्बूकयूकोद्दंशजलचरोरगपक्षिपरिसर्पचतुष्पदादिभेदादनेकधा । नरकगतिनाम्नोनरकायुषश्च उदयान्नारकाः । ते रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभूमिज-

---

भूमिजाः] मनुष्य कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे दो प्रकारके हैं, [तिर्यञ्चः बहुप्रकाराः] तिर्यंच अनेक प्रकारके हैं [पुनः] और [नारकाः पृथिवीभेदगताः] नारकोंके भेद उनकी पृथ्वियोंके भेद जितने हैं ।

टीकाः—यह, इन्द्रियोंके भेदकी अपेक्षासे कहे गए जीवोंका चतुर्गति-सम्बन्ध दर्शाते हुए उपसंहार है (अर्थात् यहाँ एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रियादिरूप जीवभेदोंका चार गतिके साथ सम्बन्ध दर्शाकर उन जीवभेदोंका उपसंहार किया गया है) ।

देवगतिनाम और देवायुके उदयसे (अर्थात् देवगतिनामकर्म और देवायुकर्मके उदयके निमित्तसे) देव होते हैं; वे भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ऐसे [1]निकायभेदोंके कारण चार प्रकारके हैं । मनुष्यगतिनाम और मनुष्यायुके उदयसे मनुष्य होते हैं; वे कर्मभूमिज और भोगभूमिज ऐसे भेदोंके कारण दो प्रकारके हैं । तिर्यंचगतिनाम और तिर्यंचायुके उदयसे तिर्यंच होते हैं; वे पृथ्वी, शंबूक, जूँ, डाँस, जलचर, उरग, पक्षी, परिसर्प, चतुष्पाद (चौपाये) इत्यादि भेदोंके कारण अनेक प्रकारके हैं । नरकगतिनाम और नरकायुके उदयसे नारक होते हैं; वे [2]रत्नप्रभाभूमिज, शर्कराप्रभाभूमिज, वालुकाप्रभाभूमिज, पंकप्रभाभूमिज, धूमप्रभाभूमिज, तमःप्रभाभूमिज और महातमःप्रभाभूमिज ऐसे भेदोंके कारण सात प्रकारके हैं ।

उनमें, देव, मनुष्य और नारकी पंचेन्द्रिय ही होते हैं । तिर्यंच तो कुछ पंचेन्द्रिय होते हैं और कुछ एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय भी होते हैं ।

भावार्थः—यहाँ ऐसा तात्पर्य ग्रहण करना चाहिए कि चार गतिसे विलक्षण, स्वात्मोपलब्धि जिसका लक्षण है ऐसी जो सिद्धगति उसकी भावना से रहित जीव

---

१. निकाय=समूह

२. रत्नप्रभाभूमिज=रत्नप्रभा नामकी भूमिमें (प्रथम नरकमें) उत्पन्न ।

भेदात्सप्तधा। तत्र देवमनुष्यनारकाः पंचेन्द्रिया एव। तिर्यञ्चस्तु केचित्पंचेन्द्रियाः, केचिदेक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रिया अपीति ॥११८॥

खीणे पुव्वणिबद्धे गदिणामे आउसे य ते वि खलु।
पाउण्णंति य अण्णं गदिमाउस्सं सलेस्सवसा ॥ ११९ ॥

क्षीणे पूर्वनिबद्धे गतिनाम्नि आयुषि च तेऽपि खलु।
प्राप्नुवन्ति चान्यां गतिमायुष्कं स्वलेश्यावशात् ॥११९॥

गत्यायुर्नामोदयनिर्वृत्तत्वाद्देवत्वादीनामनात्मस्वभावत्वोद्योतनमेतत्। क्षीयते हि क्रमेणारब्धफलो गतिनामविशेष आयुर्विशेषश्च जीवानाम्। एवमपि तेषां गत्यंतरस्यायुरंतरस्य च कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या भवति बीजं, ततस्तदुचितमेव गत्यंतरमायुरंतरं च ते

अथवा सिद्धसदृश निजशुद्धात्माकी भावनासे रहित जीव जो चतुर्गतिनामकर्म उपार्जित करते हैं उसके उदयवश वे देवादि गतियोंमें उत्पन्न होते हैं।११८।

गाथा ११९

अन्वयार्थः—[पूर्वनिबद्धे] पूर्वबद्ध [गतिनाम्नि आयुषि च] गतिनामकर्म और आयुषकर्म [क्षीणे] क्षीण होनेसे [ते अपि] जीव [स्वलेश्यावशात्] अपनी लेश्याके वश [खलु] वास्तवमें [अन्यां गतिम् आयुष्कं च] अन्य गति और आयुष्य [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त करते हैं।

टीकाः—यहाँ, गतिनामकर्म और आयुषकर्मके उदयसे निष्पन्न होते हैं इसलिए देवत्वादि अनात्मस्वभावभूत हैं (अर्थात् देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यंचत्व और नारकत्व आत्माका स्वभाव नहीं है) ऐसा दर्शाया गया है।

जीवोंको, जिसका फल प्रारम्भ हो जाता है ऐसा अमुक गतिनामकर्म और अमुक आयुषकर्म क्रमशः क्षयको प्राप्त होता है। ऐसा होने पर भी उन्हें [1]कषाय-अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप लेश्या अन्य गति और अन्य आयुषका बीज होती है (अर्थात्

---

१. कषाय-अनुरंजित=कषायरंजित; कषायसे रंगी हुई। (कषायसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति सो लेश्या है।)

गतिनाम ने आयुष्य पूर्वनिबद्ध ज्यां क्षय थाय छे।
त्यां अन्य गति-आयुष्य पामे जीव निजलेश्यावशे ॥११९॥

प्राप्नुवन्ति । एवं क्षीणाक्षीणाभ्यामपि पुनः पुनर्नवीभूताभ्यां गतिनामायुःकर्मभ्यामनात्मस्वभावभूताभ्यामपि चिरमनुगम्यमानाः संसरंत्यात्मानमचेतयमाना जीवा इति ॥११९॥

एदे जीवणिकाया देहप्पविचारमस्सिदा भणिदा ।
देहविहूणा सिद्धा भव्वा संसारिणो अभव्वा य ॥१२०॥

एते जीवनिकाया देहप्रवीचारमाश्रिताः भणिताः ।
देहविहीनाः सिद्धाः भव्याः संसारिणोऽभव्याश्च ॥१२०॥

लेश्या अन्य गतिनामकर्म और अन्य आयुषकर्मका कारण होती है), इसलिए उसको उचित ही अन्य गति तथा अन्य आयुष वे प्राप्त करते हैं। इसप्रकार [1]क्षीण-अक्षीणपनेको प्राप्त होने पर भी पुनः पुनः नवीन उत्पन्न होनेवाले गतिनामकर्म और आयुषकर्म (प्रवाहरूपसे)—यद्यपि वे अनात्मस्वभावभूत हैं तथापि—चिरकाल (जीवोंके) साथ साथ रहते हैं इसलिए, आत्माको न चेतनेवाले जीव संसरण करते हैं (अर्थात् आत्माका अनुभव न करनेवाले जीव संसारमें परिभ्रमण करते हैं) ।

भावार्थः—जीवोंको देवत्वादिकी प्राप्तिमें पौद्गलिक कर्म निमित्तभूत हैं इसलिए देवत्वादि जीवका स्वभाव नहीं है ।

[पुनश्च, देव मरकर देव ही होता रहे और मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता रहे—इस मान्यताका भी यहाँ निषेध हुआ । जीवोंको अपनी लेश्याके योग्य ही गतिनामकर्म और आयुषकर्मका बंध होता है और इसलिए उसे योग्य ही अन्य गति-आयुष प्राप्त होती है ।] । ११९ ।

गाथा १२०

अन्वयार्थः—[एते जीवनिकायाः] यह (पूर्वोक्त) जीवनिकाय [देहप्रवीचारमाश्रिताः] देहमें वर्तनेवाले अर्थात् देहसहित [भणिताः] कहे गए हैं; [देहविहीनाः सिद्धाः] देहरहित ऐसे सिद्ध हैं । [संसारिणः] संसारी [भव्याः अभव्याः च] भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकारके हैं ।

---

१. पहलेके कर्म क्षीण होते हैं और बादके अक्षीणरूपसे वर्तते हैं ।

आ उक्त जीवनिकाय सर्वे देहसहित कहेल छे ।
ने देहविरहित सिद्ध छे; संसारी भव्य अभव्य छे ॥१२०॥

उक्तजीवप्रपंचोपसंहारोऽयम् । एते ह्युक्तप्रकाराः सर्वे संसारिणो देहप्रवीचाराः, अदेहप्रवीचारा भगवंतः सिद्धाः शुद्धा जीवाः । तत्र देहप्रवीचारत्वादेकप्रकारत्वेऽपि संसारिणो द्विप्रकाराः भव्या अभव्याश्च । ते शुद्धस्वरूपोपलम्भशक्तिसद्भावासद्भावाभ्यां पाच्यापाच्यमुद्गवदभिधीयंत इति ॥१२०॥

ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता ।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ॥१२१॥

न हीन्द्रियाणि जीवाः कायाः पुनः षट्प्रकाराः प्रज्ञप्ताः ।
यद्भवति तेषु ज्ञानं जीव इति च तत्प्ररूपयन्ति ॥ १२१ ॥

टीकाः—यह उक्त (-पहले कहे गए) जीवविस्तारका उपसंहार है ।

जिनके प्रकार (पहले) कहे गए ऐसे यह समस्त संसारी देहमें वर्तनेवाले (अर्थात् देहसहित) हैं; देहमें न वर्तनेवाले (अर्थात् देहरहित) ऐसे सिद्धभगवन्त हैं—जो कि शुद्ध जीव हैं । वहाँ, देहमें वर्तनेकी अपेक्षासे संसारी जीवोंका एक प्रकार होने पर भी वे भव्य और अभव्य ऐसे दो प्रकारके हैं । '[1]पाच्य' और '[2]अपाच्य' मूँगकी भाँति जिनमें शुद्ध स्वरूपकी [3]उपलब्धिकी शक्तिका सद्भाव है उन्हें 'भव्य' और जिनमें शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धिकी शक्तिका असद्भाव है उन्हें 'अभव्य' कहा जाता है ।१२०।

गाथा १२१

अन्वयार्थः—[न हि इंद्रियाणि जीवाः] व्यवहारसे कहे जानेवाले एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीवोंमें') इंद्रियाँ जीव नहीं हैं और [षट् प्रकाराः प्रज्ञप्ताः कायाः पुनः] छह प्रकारकी शास्त्रोक्त कायें भी जीव नहीं हैं; [तेषु] उनमें [यद् ज्ञानं

---

१. पाच्य=पकनेयोग्य; रँधनेयोग्य; सीझनेयोग्य; कोरा न हो ऐसा ।

२. अपाच्य=न पकनेयोग्य; रँधने—सीझनेकी योग्यता रहित; कोरा ।

३. उपलब्धि=प्राप्ति; अनुभव ।

रे ! इंद्रियो नहि जीव, षड्विध काय पण नहि जीव छे ।
छे तेमनामां ज्ञान जे वस ते ज जीव निर्दिष्ट छे ॥१२१॥

व्यवहारजीवत्वैकांतप्रतिपत्तिनिरासोऽयम् । य इमे एकेन्द्रियादयः पृथिवीकायिकादयश्चानादिजीवपुद्गलपरस्परावगाहमवलोक्य व्यवहारनयेन जीवप्राधान्याज्जीवा इति प्रज्ञाप्यंते । निश्चयनयेन तेषु स्पर्शनादीन्द्रियाणि पृथिव्यादयश्च कायाः जीवलक्षणभूतचैतन्यस्वभावाभावान्न जीवा भवंतीति । तेष्वेव यत्स्वपरपरिच्छित्तिरूपेण प्रकाशमानं ज्ञानं तदेव गुणगुणिनोः कथञ्चिद-भेदाज्जीवत्वेन प्ररूप्यत इति ॥१२१॥

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं बिभेदि दुक्खादो ।
कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं ॥१२२॥

जानाति पश्यति सर्वमिच्छति सौख्यं बिभेति दुःखात् ।
करोति हितमहितं वा भुंक्ते जीवः फलं तयोः ॥ १२२ ॥

भवति] जो ज्ञान है [तत् जीवः] वह जीव है [इति च प्ररूपयन्ति] ऐसी (ज्ञानी) प्ररूपणा करते हैं ।

टीकाः—यह, व्यवहारजीवत्वके एकांतकी [1]प्रतिपत्तिका खण्डन है (अर्थात् जिसे मात्र व्यवहारनयसे जीव कहा जाता है उसका वास्तवमें जीवरूपसे स्वीकार करना उचित नहीं है ऐसा यहाँ समझाया है) ।

यह जो एकेन्द्रियादि तथा पृथ्वीकायिकादि 'जीव' कहे जाते हैं वे, अनादि जीव-पुद्गलका परस्पर अवगाह देखकर व्यवहारनयसे जीवके प्राधान्य द्वारा (–जीवको मुख्यता देकर) 'जीव' कहे जाते हैं । निश्चयनयसे उनमें स्पर्शनादि इन्द्रियाँ तथा पृथ्वी–आदि कायें, जीवके लक्षणभूत चैतन्यस्वभावके अभावके कारण, जीव नहीं हैं; उन्हींमें जो स्वपरकी ज्ञप्तिरूपसे प्रकाशित ज्ञान है वही, गुण-गुणीके कथंचित् अभेदके कारण, जीवरूपसे प्ररूपित किया जाता है । १२१ ।

गाथा १२२

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव [सर्वं जानाति पश्यति] सब जानता है और देखता है, [सौख्यम् इच्छति] सुखकी इच्छा करता है, [दुःखात् बिभेति] दुःखसे डरता

---

१. प्रतिपत्ति=स्वीकृति; मान्यता ।

जाणे अने देखे बधुं, सुख अभिलषे, दुःख थी डरे ।
हित-अहित जीव करे अने हित-अहितनुं फल भोगवे ॥१२२॥

अन्यासाधारणजीवकार्यख्यापनमेतत् । चैतन्यस्वभावत्वात्कर्तृस्थायाः क्रियायाः ज्ञप्तेर्दृशेश्च जीव एव कर्ता, न तत्संबन्धः पुद्गलो, यथाकाशादि । सुखाभिलाषक्रियायाः दुःखोद्वेगक्रियायाः स्वसंवेदितहिताहितनिर्वर्तनक्रियायाश्च चैतन्यविवर्तरूपसङ्कल्पप्रभवत्वात्स एव कर्ता, नान्यः । शुभाशुभकर्मफलभूताया इष्टानिष्ट विषयोपभोगक्रियायाश्च सुखदुःखस्वरूप-

---

है [हितम् अहितम् करोति] हित-अहितको (शुभ-अशुभ भावोंको) करता है [वा] और [तयोः फलं भुंक्ते] उनके फलको भोगता है ।

टीकाः— यह, अन्यसे असाधारण ऐसे जीवकार्योंका कथन है (अर्थात् अन्य द्रव्योंसे असाधारण ऐसे जो जीवके कार्य वे यहाँ दर्शाये हैं) ।

चैतन्यस्वभावपनेके कारण, कर्तृस्थित (कर्तामें रहनेवाली) क्रियाका— ज्ञप्ति तथा दृशिका—जीव ही कर्ता है; उसके सम्बन्धमें रहा हुआ पुद्गल उसका कर्ता नहीं है, जिसप्रकार आकाशादि नहीं हैं उसीप्रकार । (चैतन्यस्वभावके कारण जानने और देखनेकी क्रियाका जीव ही कर्ता है; जहाँ जीव है वहाँ चार अरूपी अचेतन द्रव्य भी हैं तथापि वे जिसप्रकार जानने और देखनेकी क्रियाके कर्ता नहीं हैं उसीप्रकार जीवके साथ सम्बंधमें रहे हुए कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल भी उस क्रियाके कर्ता नहीं हैं ।) चैतन्यके विवर्तरूप (-परिवर्तनरूप) संकल्पकी उत्पत्ति (जीवमें) होनेके कारण, सुखकी अभिलाषारूप क्रियाका, दुःखके उद्वेगरूप क्रियाका तथा स्वसंवेदित हित-अहितकी निष्पत्तिरूप क्रियाका (-अपनेसे सचेत किए जानेवाले शुभ-अशुभ भावोंको रचनेरूप क्रियाका) जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं है । शुभाशुभ कर्मके फलभूत [1]इष्टानिष्टविषयोपभोगक्रियाका, सुख-दुःखस्वरूप स्वपरिणामक्रियाकी भाँति, जीव ही कर्ता है; अन्य नहीं ।

इससे ऐसा समझाया कि (उपरोक्त) असाधारण कार्यों द्वारा पुद्गलसे भिन्न ऐसा आत्मा अनुमेय (-अनुमान कर सकने योग्य) है ।

भावार्थः—शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म आदि पुद्गल या अन्य कोई अचेतन द्रव्य कदापि जानते नहीं हैं, देखते नहीं हैं, सुखकी इच्छा नहीं करते, दुःखसे डरते

---

१. इष्टानिष्ट विषय जिसमें निमित्तभूत होते हैं ऐसे सुखदुःखपरिणामोंके उपभोगरूप क्रियाको जीव करता है इसलिए उसे इष्टानिष्ट विषयोंके उपभोगरूप क्रियाका कर्ता कहा जाता है ।

स्वपरिणामक्रियाया इव स एव कर्ता, नान्यः । एतेनासाधारणकार्यानुमेयत्वं पुद्गलव्यतिरिक्त-स्यात्मनोद्योतितमिति ।१२२।

एवमभिगम्म जीवं अण्णेहिं वि पज्जएहिं बहुगेहिं ।
अभिगच्छदु अज्जीवं णाणंतरिदेहिं लिंगेहिं ।।१२३।।

एवमभिगम्य जीवमन्यैरपि पर्यायैर्बहुकैः ।
अभिगच्छत्वजीवं ज्ञानांतरितैर्लिङ्गैः ।। १२३ ।।

जीवाजीवव्याख्योपसंहारोपक्षेपसूचनेयम् । एवमनया दिशा व्यवहारनयेन कर्मग्रन्थ-प्रतिपादितजीवगुणमार्गणास्थानादिप्रपञ्चितविचित्रविकल्परूपैः, निश्चयनयेन मोहरागद्वेष-

---

नहीं हैं, हित-अहितमें प्रवर्तते नहीं हैं या उनके फलको नहीं भोगते; इसलिए जो जानता है और देखता है, सुखकी इच्छा करता है, दुःखसे भयभीत होता है, शुभ-अशुभ भावोंमें प्रवर्तता है और उनके फलको भोगता है, वह, अचेतन पदार्थोंके साथ रहने पर भी सर्व अचेतन पदार्थोंकी क्रियाओंसे बिलकुल विशिष्ट प्रकारकी क्रियाएँ करनेवाला, एक विशिष्ट पदार्थ है । इसप्रकार जीव नामका चैतन्यस्वभावी पदार्थविशेष—कि जिसका ज्ञानी स्वयं स्पष्ट अनुभव करते हैं वह—अपनी असाधारण क्रियाओं द्वारा अनुमेय भी है ।१२२।

गाथा १२३

अन्वयार्थः—[एवम्] इसप्रकार [अन्यैः अपि बहुकैः पर्यायैः] अन्य भी बहुत-सी पर्यायों द्वारा [जीवम् अभिगम्य] जीवको जानकर [ज्ञानांतरितैः लिङ्गैः] ज्ञानसे अन्य ऐसे (जड़) लिंगों द्वारा [अजीवम् अभिगच्छतु] अजीवको जानो ।

टीकाः—यह, जीव-व्याख्यानके उपसंहारकी और अजीव-व्याख्यानके प्रारंभकी सूचना है ।

इसप्रकार इस निर्देशके अनुसार (अर्थात् ऊपर संक्षेपमें समझाए अनुसार),

---

बीजाय बहु पर्यायथी अे रीत जाणी जीवने ।
जाणो अजीवपदार्थ ज्ञानविभिन्न जड लिंगो वडे ।।१२३।।

परिणतिसंपादितविश्वरूपत्वात्कदाचिदशुद्धैः कदाचित्तदभावाच्छुद्धैश्चैतन्यविवर्तग्रन्थिरूपैर्बहुभिः पर्यायैः जीवमधिगच्छेत् । अधिगम्य चैवमचैतन्यस्वभावत्वात् ज्ञानादर्थान्तरभूतैरितः प्रपंच्यमानैर्लिङ्गैर्जीवसंबद्धमसंबद्धं वा स्वतो भेदबुद्धिप्रसिद्ध्यर्थमजीवमधिगच्छेदिति ।।१२३।।

—इति जीवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ अजीवपदार्थव्याख्यानम् ।

---

(१) व्यवहारनयसे [1]कर्मग्रन्थप्रतिपादित जीवस्थान–गुणस्थान–मार्गणास्थान इत्यादि द्वारा [2]प्रपंचित विचित्र भेदरूप बहु पर्यायों द्वारा, तथा (२) निश्चयनयसे मोहरागद्वेषपरिणतिसंप्राप्त [3]विश्वरूपताके कारण कदाचित् अशुद्ध (ऐसे) और कदाचित् उसके (–मोहरागद्वेषपरिणतिके) अभावके कारण शुद्ध ऐसी [4]चैतन्यविवर्तग्रन्थिरूप बहु पर्यायों द्वारा, जीवको जानो । इसप्रकार जीवको जानकर, अचैतन्यस्वभावके कारण, [5]ज्ञानसे अर्थांतरभूत ऐसे, यहाँसे (अबकी गाथाओंमें) कहे जानेवाले लिंगों द्वारा, [6]जीव-सम्बद्ध या जीव-असम्बद्ध अजीवको, अपनेसे भेदबुद्धिकी प्रसिद्धिके अर्थसे जानो ।१२३।

इसप्रकार जीव पदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब, अजीव पदार्थका व्याख्यान है ।

---

१. कर्मग्रन्थप्रतिपादित = गोम्मटसारादि कर्मपद्धतिके ग्रंथोंमें प्ररूपित—निरूपित ।

२. प्रपंचित = विस्तार-पूर्वक कही गई ।

३. मोहरागद्वेषपरिणतिके कारण जीवको विश्वरूपता अर्थात् अनेकरूपता प्राप्त होती है ।

४. ग्रंथि = गाँठ । [जीवकी कदाचित् अशुद्ध और कदाचित् शुद्ध ऐसी पर्यायें चैतन्यविवर्तकी—चैतन्यपरिणमनकी—ग्रन्थियाँ हैं; निश्चयनयसे उनके द्वारा जीवको जानो ।]

५. ज्ञानसे अर्थान्तरभूत = ज्ञानसे अन्यवस्तुभूत; ज्ञानसे अन्य अर्थात् जड़ । [अजीवका स्वभाव अचैतन्य होनेके कारण ज्ञानसे अन्य ऐसे जड़ चिह्नों द्वारा वह ज्ञात होता है ।]

६. जीवके साथ सम्बद्ध या जीवके साथ असम्बद्ध ऐसे अजीवको जाननेका प्रयोजन यह है कि समस्त अजीव अपनेसे (स्वजीवसे) बिलकुल भिन्न हैं ऐसी बुद्धि उत्पन्न हो ।

आगासकालपोग्गलधम्माधम्मेसु णत्थि जीवगुणा ।
तेसिं अचेदणत्तं भणिदं जीवस्स चेदणदा ।। १२४ ।।

आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु न सन्ति जीवगुणाः ।
तेषामचेतनत्वं भणितं जीवस्य चेतनता ।। १२४ ।।

आकाशादीनामेवाजीवत्वे हेतूपन्यासोऽयम् । आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु चैतन्यविशेषरूपा जीवगुणा नो विद्यंते, आकाशादीनां तेषामचेतनत्वसामान्यत्वात् । अचेतनत्वसामान्यं चाकाशादीनामेष, जीवस्यैव चेतनत्वसामान्यादिति ।।१२४।।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा बेंति अज्जीवं ।।१२५।।

गाथा १२४

अन्वयार्थः—[आकाशकालपुद्गलधर्माधर्मेषु] आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें [जीवगुणाः न सन्ति] जीवके गुण नहीं हैं; (क्योंकि) [तेषाम् अचेतनत्वं भणितम्] उन्हें अचेतनपना कहा है, [जीवस्य चेतनता] जीवको चेतनता कही है ।

टीकाः—यह, आकाशादिका ही अजीवपना दर्शानेके लिए हेतुका कथन है ।

आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्ममें चैतन्यविशेषोंरूप जीवगुण विद्यमान नहीं है; क्योंकि उन आकाशादिको अचेतनत्वसामान्य है और अचेतनत्वसामान्य आकाशादिको ही है; क्योंकि जीवको ही चेतनत्वसामान्य है ।१२४।

छे जीवगुण नहि आत्म-धर्म-अधर्म-पुद्गल-कालमां ।
तेमां अचेतनता कही, चेतनपणुं कह्युं जीवमां ।।१२४।।

सुखदुःखसंचेतन, अहितनी भीति, उद्यम हित विषे ।
जेने कदी होतां नथी, तेने अजीव श्रमणो कहे ।।१२५।।

सुखदुःखज्ञानं वा हितपरिकर्म चाहितभीरुत्वम् ।
यस्य न विद्यते नित्यं तं श्रमणा विंदंत्यजीवम् ॥ १२५॥

आकाशादीनामचेतनत्वसामान्ये पुनरनुमानमेतत् । सुखदुःखज्ञानस्य हितपरिकर्मणोऽहितभीरुत्वस्य चेति चैतन्यविशेषाणां नित्यमनुपलब्धेरविद्यमानचैतन्यसामान्या एवाकाशादयोऽजीवा इति ॥ १२५ ॥

गाथा १२५

अन्वयार्थः—[सुखदुःखज्ञानं वा] सुखदुःखका ज्ञान, [हितपरिकर्म] हितका उद्यम [च] और [अहितभीरुत्वम्] अहितका भय—[यस्य नित्यं न विद्यते] यह जिसे सदैव नहीं होते, [तम्] उसे [श्रमणाः] श्रमण [अजीवम् विंदंति] अजीव कहते हैं ।

टीकाः—यह पुनश्च, आकाशादिका अचेतनत्वसामान्य निश्चित करनेके लिए अनुमान है ।

आकाशादिको सुखदुःखका ज्ञान, [1]हितका उद्यम और अहितका भय—इन चैतन्यविशेषोंकी सदा अनुपलब्धि है (अर्थात् यह चैतन्यविशेष आकाशादिको किसी काल नहीं देखे जाते), इसलिए (ऐसा निश्चित होता है कि) आकाशादि अजीवोंको चैतन्यसामान्य विद्यमान नहीं है ।

भावार्थः—जिसे चेतनत्वसामान्य हो उसे चेतनत्वविशेष होना ही चाहिए । जिसे चेतनत्वविशेष न हो उसे चेतनत्वसामान्य भी नहीं होता । अब, आकाशादि पांच द्रव्योंको सुखदुःखका संचेतन, हितके लिए प्रयत्न और अहितकी भीति—यह चेतनत्वविशेष कभी देखे नहीं जाते; इसलिए निश्चित होता है कि आकाशादिको चेतनत्वसामान्य भी नहीं है अर्थात् अचेतनत्वसामान्य ही है । १२५ ।

---

१. हित और अहितके सम्बन्धमें आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नामक टीकामें निम्नोक्तानुसार विवरण है:—

अज्ञानी जीव फूलकी माला, स्त्री, चंदनादिको तथा उनके कारणभूत दानपूजादिको हित समझते हैं और सर्प, विष, कंटकादिको अहित समझते हैं । सम्यग्ज्ञानी जीव अक्षय अनंत सुखको तथा उसके कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मद्रव्यको हित समझते हैं और आकुलताके उत्पादक ऐसे दुःखको तथा उसके कारणभूत मिथ्यात्वरागादिपरिणत आत्मद्रव्यको अहित समझते हैं ।

संठाणा संघादा वण्णरसप्फासगंधसद्दा य ।
पोग्गलदव्वप्पभवा होंति गुणा पज्जया य बहू ॥१२६॥
अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१२७॥

संस्थानानि संघाताः वर्णरसस्पर्शगंधशब्दाश्च ।
पुद्गलद्रव्यप्रभवा भवन्ति गुणाः पर्यायाश्च बहवः ॥१२६॥
अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १२७ ॥

जीवपुद्गलयोः संयोगेऽपि भेदनिबंधनस्वरूपाख्यानमेतत् । यत्खलु शरीरशरीरिसंयोगे स्पर्शरसगंधवर्णगुणत्वात्सशब्दत्वात्संस्थानसङ्घातादिपर्यायपरिणतत्वाच्च इन्द्रियग्रहणयोग्यं, तत्पु-

---

गाथा १२६–१२७

अन्वयार्थः—[संस्थानानि] (समचतुरस्रादि) संस्थान, [संघाताः] (औदारिक शरीर सम्बन्धी) संघात, [वर्णरसस्पर्शगंधशब्दाः च] वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द—[बहवः गुणाः पर्यायाः च] ऐसे जो बहु गुण और पर्यायें हैं, [पुद्गलद्रव्यप्रभवाः भवन्ति] वे पुद्गलद्रव्यनिष्पन्न हैं ।

[अरसम् अरूपम् अगंधम्] जो अरस, अरूप तथा अगंध है, [अव्यक्तम्] अव्यक्त है, [अशब्दम्] अशब्द है, [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] अनिर्दिष्ट-संस्थान है (अर्थात् जिसका कोई संस्थान नहीं कहा ऐसा है), [चेतनागुणम्] चेतनागुणवाला है और [अलिङ्गग्रहणम्] इंद्रियों द्वारा अग्राह्य है, [जीवं जानीहि] उसे जीव जानो ।

टीकाः—जीव-पुद्गलके संयोगमें भी, उनके भेदके कारणभूत स्वरूपका यह कथन है (अर्थात् जीव और पुद्गलके संयोगमें भी, जिसके द्वारा उनका भेद जाना जा सकता है ऐसे उनके भिन्न-भिन्न स्वरूपका यह कथन है) ।

संस्थान-संघातो, वरण-रस-गंध-शब्द-स्पर्श जे ।
ते बहु गुणो ने पर्ययो पुद्गलदरव निष्पन्न छे ॥१२६॥
जे चेतनागुण, अरसरूप, अगंधशब्द, अव्यक्त छे ।
निर्दिष्ट नहि संस्थान, इन्द्रियग्राह्य नहि, ते जीव छे ॥१२७॥

द्गलद्रव्यम् । यत्पुनरस्पर्शरसगंधवर्णगुणत्वाद शब्दत्वादनिर्दिष्टसंस्थानत्वादव्यक्तत्वादिपर्यायैः परिणतत्वाच्च नेन्द्रियग्रहणयोग्यं, तच्चेतनागुणत्वात् रूपिभ्योऽरूपिभ्यश्चाजीवेभ्यो विशिष्टं जीवद्रव्यम् । एवमिह जीवाजीवयोर्वास्तवो भेदः सम्यग्ज्ञानिनां मार्गप्रसिद्ध्यर्थं प्रतिपादित इति ।। १२६–१२७ ।।

—इति अजीवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

शरीर और [1]शरीरीके संयोगमें, (१) जो वास्तवमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-गुणवाला होनेके कारण, सशब्द होनेके कारण तथा संस्थान-संघातादि पर्यायोंरूपसे परिणत होनेके कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य है, वह पुद्गलद्रव्य है; और (२) जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणरहित होनेके कारण, अशब्द होनेके कारण, अनिर्दिष्टसंस्थान होनेके कारण तथा [2]अव्यक्तत्वादि पर्यायोंरूपसे परिणत होनेके कारण इन्द्रियग्रहणयोग्य नहीं है, वह चेतनागुणमयपनेके कारण रूपी तथा अरूपी अजीवोंसे [3]विशिष्ट (भिन्न) ऐसा जीवद्रव्य है ।

इसप्रकार यहाँ जीव और अजीवका वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियोंके मार्गकी प्रसिद्धिके हेतु प्रतिपादित किया गया ।

[भावार्थः—अनादि मिथ्यावासनाके कारण जीवोंको स्वयं कौन है उसका वास्तविक ज्ञान नहीं है और अपनेको शरीरादिरूप मानते हैं । उन्हें जीवद्रव्य तथा अजीवद्रव्यका यथार्थ भेद दर्शाकर मुक्तिका मार्ग प्राप्त करानेके हेतु यहाँ जड़-पुद्गल-द्रव्यके और चेतन जीवद्रव्यके वीतरागसर्वज्ञकथित लक्षण कहे गए । जो जीव उन लक्षणोंको जानकर अपनेको स्वतःसिद्ध स्वतंत्र द्रव्यरूपसे पहिचानकर, भेदविज्ञानी अनुभवी होता है, वह निजात्मद्रव्यमें लीन होकर मोक्षमार्गको साधकर शाश्वत निराकुल सुखका भोक्ता होता है ।] । १२६-१२७ ।

इसप्रकार अजीव पदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

---

१. शरीरी=देही; शरीरवाला (अर्थात् आत्मा) ।

२. अव्यक्तत्वादि=अव्यक्त आदि; अप्रगटत्व आदि ।

३. विशिष्ट=भिन्न; विलक्षण; मुख्य प्रकारका ।

उक्तौ मूलपदार्थौ। अथ संयोगपरिणामनिर्वृत्तेतरसप्तपदार्थानामुपोद्घातार्थं जीव-पुद्गलकर्मचक्रमनुवर्ण्यते—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

यः खलु संसारस्थो जीवस्ततस्तु भवति परिणामः।
परिणामात्कर्म कर्मणो भवति गतिषु गतिः ॥ १२८ ॥
गतिमधिगतस्य देहो देहादिन्द्रियाणि जायंते।
तैस्तु विषयग्रहणं ततो रागो वा द्वेषो वा ॥ १२९ ॥
जायते जीवस्यैवं भावः संसारचक्रवाले।
इति जिनवरैर्भणितोऽनादिनिधनः सनिधनो वा ॥ १३० ॥

दो मूलपदार्थ कहे गए। अब (उनके) संयोगपरिणामसे निष्पन्न होनेवाले अन्य सात पदार्थोंके उपोद्घातके हेतु जीवकर्म और पुद्गलकर्मके चक्रका वर्णन किया जाता है।

गाथा १२८–१३०

अन्वयार्थः—[यः] जो [खलु] वास्तवमें [संसारस्थः जीवः] संसारस्थित

संसारगत जे जीव छे परिणाम तेने थाय छे।
परिणामथी कर्मो, करमथी गमन गतिमां थाय छे ॥१२८॥
गतिप्राप्तने तन थाय, तनथी इन्द्रियो वणी थाय छे।
अेनाथी विषय ग्रहाय, रागद्वेष तेथी थाय छे ॥१२९॥
अे रीत भाव अनादिनिधन अनादिसांत थया करे।
संसारचक्र विषे जीवोने—अेम जिनदेवो कहे ॥ १३० ॥

इह हि संसारिणो जीवादनादिबंधनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति । परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मणो नारकादिगतिषु गतिः । गत्यधिगमनाद्देहः । देहादिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्यो विषयग्रहणम् । विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धः परिणामः । परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म । कर्मणः पुनर्नारकादिगतिषु गतिः । गत्यधिगमनात्पुनर्देहः । देहात्पुनरिन्द्रियाणि । इन्द्रियेभ्यः पुनर्विषयग्रहणम् । विषयग्रहणात्पुना रागद्वेषौ । रागद्वेषाभ्यां पुनरपि स्निग्धः परिणामः । एवमिदमन्योन्यकार्यकारणभूतजीवपुद्गलपरिणामात्मकं कर्मजालं संसारचक्रे जीवस्यानाद्यनिधनं अनादिसनिधनं वा चक्रवत्प-

---

जीव है [ततः तु परिणामः भवति] उससे परिणाम होता है (अर्थात् उसे स्निग्ध परिणाम होता है), [परिणामात् कर्म] परिणामसे कर्म और [कर्मणः] कर्मसे [गतिषु गतिः भवति] गतियोंमें गमन होता है ।

[गतिम् अधिगतस्य देहः] गतिप्राप्तको देह होती है, [देहात् इन्द्रियाणि जायंते] देहसे इन्द्रियाँ होती हैं, [तैः तु विषयग्रहणं] इन्द्रियोंसे विषयग्रहण और [ततः रागः वा द्वेषः वा] विषयग्रहणसे राग अथवा द्वेष होता है ।

[एवं भावः] ऐसे भाव, [संसारचक्रवाले] संसारचक्रमें [जीवस्य] जीवको [अनादिनिधनः सनिधनः वा] अनादि-अनन्त अथवा अनादि-सांत [जायते] होते रहते हैं—[इति जिनवरैः भणितः] ऐसा जिनवरोंने कहा है ।

टीकाः—इस लोकमें संसारी जीवसे अनादि बंधनरूप उपाधिके वश स्निग्ध परिणाम होता है; परिणामसे पुद्गलपरिणामात्मक कर्म, कर्मसे नरकादि गतियोंमें गमन, गतिकी प्राप्तिसे देह, देहसे इंद्रियाँ, इन्द्रियोंसे विषयग्रहण, विषयग्रहणसे रागद्वेष, रागद्वेषसे फिर स्निग्ध परिणाम, परिणामसे फिर पुद्गलपरिणामात्मक कर्म, कर्मसे फिर नरकादि गतियोंमें गमन, गतिकी प्राप्तिसे फिर देह, देहसे फिर इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे फिर विषयग्रहण, विषयग्रहणसे फिर रागद्वेष, रागद्वेषसे फिर स्निग्ध परिणाम । इसप्रकार यह अन्योन्य [1]कार्यकारणभूत जीवपरिणामात्मक और पुद्गलपरिणामात्मक

---

१. कार्य अर्थात् नैमित्तिक और कारण अर्थात् निमित्त । [जीवपरिणामात्मक कर्म और पुद्गलपरिणामात्मक कर्म परस्पर कार्यकारणभूत अर्थात् नैमित्तिक-निमित्तभूत हैं । वे कर्म किसी जीवको अनादि-अनन्त और किसीको अनादि-सांत होते हैं ।

रिवर्तते । तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीवपरिणामनिमित्तः पुद्गलपरिणामश्च वक्ष्यमाणपदार्थबीजत्वेन संप्रधारणीय इति ॥ १२८-१३० ॥

कर्मजाल संसारचक्रमें जीवको अनादि-अनन्तरूपसे अथवा अनादि-सांतरूपसे चक्रकी भाँति पुनः पुनः होते रहते हैं ।

इसप्रकार यहाँ (ऐसा कहा कि), पुद्गलपरिणाम जिनका निमित्त है ऐसे जीवपरिणाम और जीवपरिणाम जिनका निमित्त है ऐसे पुद्गलपरिणाम अब कहे जाने-वाले (पुण्यादि सात) पदार्थोंके बीजरूप अवधारना ।

भावार्थः—जीव और पुद्गलको परस्पर निमित्त-नैमित्तिकरूपसे परिणाम होता है । उस परिणामके कारण पुण्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिनका वर्णन अगली गाथाओंमें किया जाएगा ।

प्रश्नः—पुण्यादि सात पदार्थोंका प्रयोजन जीव और अजीव इन दो से ही पूरा हो जाता है, क्योंकि वे जीव और अजीवकी ही पर्यायें हैं । तो फिर वे सात पदार्थ किसलिए कहे जा रहे हैं ?

उत्तरः—भव्योंको हेय तत्त्व और उपादेय तत्त्व (अर्थात् हेय और उपादेय तत्त्वोंका स्वरूप तथा उनके कारण) दर्शानेके हेतु उनका कथन है । दुःख वह हेयतत्त्व है, उसका कारण संसार है, संसारका कारण आस्रव और बंध दो हैं (अथवा विस्तार पूर्वक कहें तो पुण्य, पाप, आस्रव और बंध चार हैं) और उनका कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र है । सुख वह उपादेय तत्त्व है, उसका कारण मोक्ष है, मोक्षका कारण संवर और निर्जरा है और उनका कारण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है । यह प्रयोजनभूत बात भव्य जीवोंको प्रगटरूपसे दर्शानेके हेतु पुण्यादि [1]सात पदार्थोंका कथन है । १२८-१३० ।

---

१. अज्ञानी और ज्ञानी जीव पुण्यादि सात पदार्थोंमेंसे किन-किन पदार्थोंके कर्ता हैं तत्सम्बन्धी आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति नामकी टीकामें निम्नोक्तानुसार वर्णन है :—

अज्ञानी जीव निर्विकार स्वसंवेदनके अभावके कारण पापपदार्थका तथा आस्रवबंध-पदार्थोंका कर्ता होता है; कदाचित् मंद मिथ्यात्वके उदयसे, देखे हुए—सुने हुए—अनुभव किए हुए भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्ध द्वारा, भविष्यकालमें पापका अनुबन्ध करनेवाले पुण्य-

अथ पुण्यपापपदार्थव्याख्यानम् ।

मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि ।
विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो ॥१३१॥

मोहो रागो द्वेषश्चित्तप्रसादः वा यस्य भावे ।
विद्यते तस्य शुभो वा अशुभो वा भवति परिणामः ॥१३१॥

पुण्यपापयोग्यभावस्वभावाख्यापनमेतत् । इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः । विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ । तस्यैव मंदोदये विशुद्ध-

---

अब पुण्य-पापपदार्थका व्याख्यान है ।

गाथा १३१

अन्वयार्थः—[यस्य भावे] जिसके भावमें [मोहः] मोह, [रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [वा] अथवा [चित्तप्रसादः] चित्तप्रसन्नता [विद्यते] है, [तस्य] उसे [शुभः वा अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभ [परिणामः] परिणाम [भवति] है ।

टीकाः—यह, पुण्य-पापके योग्य भावके स्वभावका (—स्वरूपका) कथन है ।

यहाँ, दर्शनमोहनीयके विपाकसे जो कलुषित परिणाम वह मोह है; विचित्र (—अनेक प्रकारके) चारित्रमोहनीयका विपाक जिसका आश्रय (—निमित्त) है

पदार्थका भी कर्ता होता है । जो ज्ञानी जीव है वह, निर्विकार-आत्मतत्त्वविषयक रुचि, तद्विषयक ज्ञप्ति और तद्विषयक निश्चल अनुभूतिरूप अभेदरत्नत्रयपरिणाम द्वारा, संवर-निर्जरा-मोक्षपदार्थोंका कर्ता होता है; और जीव जब पूर्वोक्त निश्चयरत्नत्रयमें स्थिर नहीं रह सकता तब निर्दोषपरमात्मस्वरूप अर्हंत-सिद्धोंकी तथा उनका (निर्दोष परमात्माका) आराधन करनेवाले आचार्य-उपाध्याय-साधुओंकी निर्भर असाधारण भक्तिरूप ऐसा जो संसारविच्छेदके कारणभूत, परम्परासे मुक्तिकारणभूत, तीर्थंकरप्रकृति आदि पुण्यका अनुबन्ध करनेवाला विशिष्ट पुण्य उसे अनीहितवृत्तिसे निदानरहित परिणामसे करता है । इसप्रकार अज्ञानी जीव पापादि चार पदार्थोंका कर्ता है और ज्ञानी संवरादि तीन पदार्थोंका कर्ता है ।

छे राग, द्वेष, विमोह, चित्तप्रसादपरिणति जेहने ।
ते जीवने शुभ वा अशुभ परिणामनो सद्भाव छे ॥१३१॥

परिणामता चित्तप्रमादपरिणामः । एवमिमे यस्य भावे भवन्ति, तस्यावश्यं भवति शुभोऽशुभो वा परिणामः । तत्र यत्र प्रशस्तरागश्चित्तप्रसादश्च तत्र शुभः परिणामः, यत्र तु मोहद्वेषावप्रशस्तरागश्च तत्राऽशुभ इति ॥ १३१ ॥

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स ।
दोण्हं पोग्गलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥१३२॥

शुभपरिणामः पुण्यमशुभः पापमिति भवति जीवस्य ।
द्वयोः पुद्गलमात्रो भावः कर्मत्वं प्राप्तः ॥ १३२ ॥

ऐसी प्रीति-अप्रीति वह राग-द्वेष है; उसीके (–चारित्रमोहनीयके ही) मंद उदयसे होनेवाले जो विशुद्ध परिणाम वह [1]चित्तप्रसादपरिणाम (–मनकी प्रसन्नतारूप परिणाम) है । इसप्रकार यह (मोह, राग, द्वेष अथवा चित्तप्रसाद) जिसके भावमें है उसे अवश्य शुभ अथवा अशुभ परिणाम है । उसमें, जहाँ प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद है वहाँ शुभ परिणाम है और जहाँ मोह, द्वेष तथा अप्रशस्त राग है वहाँ अशुभ परिणाम है । १३१ ।

गाथा १३२

अन्वयार्थः—[जीवस्य] जीवके [शुभ परिणामः] शुभपरिणाम [पुण्यम्] पुण्य हैं और [अशुभः] अशुभ परिणाम [पापम् इति भवति] पाप हैं; [द्वयोः] उन दोनोंके द्वारा [पुद्गलमात्रः भावः] पुद्‌गलमात्र भाव [कर्मत्वं प्राप्तः] कर्मपनेको प्राप्त होते हैं (अर्थात् जीवके पुण्य-पापभावके निमित्तसे साता-असातावेदनीयादि पुद्‌गलमात्र परिणाम व्यवहारसे जीवका कर्म कहे जाते हैं) ।

[यहाँ ज्ञानीके विशिष्ट पुण्यको संसारविच्छेदके कारणभूत कहा वहाँ ऐसा समझना कि—वास्तवमें तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र ही संसारविच्छेदके कारणभूत हैं, परन्तु जब वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपूर्णदशामें होता है तब उसके साथ अनिच्छितवृत्तिसे वर्तते हुए विशिष्ट पुण्यमें संसारविच्छेदके कारणपनेका आरोप किया जाता है। वह आरोप भी वास्तविक कारणके—सम्यग्दर्शनादिके—अस्तित्वमें ही हो सकता है ।]

१. प्रसाद=प्रसन्नता; विशुद्धता; उज्ज्वलता ।

शुभ भाव जीवना पुण्य छे ने अशुभ भावो पाप छे ।
तेना निमित्ते पौद्‌गलिक परिणाम कर्मपणुं लहे ॥१३२॥

पुण्यपापस्वरूपाख्यानमेतत् । जीवस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नः शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भवति भावपुण्यम् । एवं जीवस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नोऽशुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम् । पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभ-

---

टीकाः—यह, पुण्य-पापके स्वरूपका कथन है ।

जीवरूप कर्ताके [1]निश्चयकर्मभूत शुभपरिणाम द्रव्यपुण्यको निमित्तमात्ररूपसे कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्रवके' प्रसंगका अनुसरण करके (-अनुलक्ष करके) वे शुभपरिणाम 'भावपुण्य' हैं । (सातावेदनीयादि द्रव्यपुण्यास्रवका जो प्रसंग बनता है उसमें जीवके शुभपरिणाम निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्य पुण्यास्रव' प्रसंगके पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत शुभपरिणामको भी 'भावपुण्य' ऐसा नाम है ।) इसप्रकार जीवरूप कर्ताके निश्चयकर्मभूत अशुभ परिणाम द्रव्यपापको निमित्तमात्ररूपसे कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपापास्रवके' प्रसंगका अनुसरण करके (—अनुलक्ष करके) वे अशुभ-परिणाम 'भावपाप' हैं ।

पुद्गलरूप कर्ताके [2]निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (—सातावेद-नीयादि मुख्य प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीवके शुभपरिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपुण्य हैं । पुद्गलरूप कर्ताके निश्चयकर्मभूत विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम (—असातावेदनीयादि विशिष्ट प्रकृतिरूप परिणाम)—कि जिनमें जीवके अशुभपरिणाम निमित्त हैं वे—द्रव्यपाप हैं ।

इसप्रकार व्यवहार तथा निश्चय द्वारा आत्माको मूर्त तथा अमूर्त कर्म दर्शाया गया ।

भावार्थः—निश्चयसे जीवके अमूर्त शुभाशुभपरिणामरूप भावपुण्यपाप जीवका कर्म हैं । शुभाशुभपरिणाम द्रव्यपुण्यपापका निमित्तकारण होनेके कारण मूर्त ऐसे वे

---

१. जीव कर्ता है और शुभपरिणाम उसका (अशुद्धनिश्चयनयसे) निश्चयकर्म है ।

२. पुद्गल कर्ता है और विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम उसका निश्चयकर्म है (अर्थात् निश्चयसे पुद्गल कर्ता है और सातावेदनीयादि विशिष्टप्रकृतिरूप परिणाम उसका कर्म है) ।

परिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम् । पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम् । एवं व्यवहारनिश्चयाभ्यामात्मनो मूर्तममूर्तं च कर्म प्रज्ञापितमिति ।। १३२ ।।

जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं ।
जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि ।। १३३ ।।

यस्मात्कर्मणः फलं विषयः स्पर्शैर्भुज्यते नियतम् ।
जीवेन सुखं दुःखं तस्मात्कर्माणि मूर्तानि ।। १३३ ।।

मूर्तकर्मसमर्थनमेतत् । यतो हि कर्मणां फलभूतः सुखदुःखहेतुविषयो मूर्तो मूर्तैरिन्द्रि-

---

पुद्गलपरिणामरूप (साता-असातावेदनीयादि) द्रव्यपुण्यपाप व्यवहारसे जीवका कर्म कहे जाते हैं । १३२ ।

गाथा १३३

अन्वयार्थः—[यस्मात्] क्योंकि [कर्मणः फलं] कर्मका फल [विषयः] जो (मूर्त) विषय वे [नियतम्] नियमसे [स्पर्शैः] (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादिइन्द्रियों द्वारा [जीवेन] जीव द्वारा [सुखं दुःखं] सुखरूपसे अथवा दुःखरूपसे [भुज्यते] भोगे जाते हैं, [तस्मात्] इसलिए [कर्माणि] कर्म [मूर्तानि] मूर्त हैं ।

टीकाः—यह, मूर्त कर्मका समर्थन है ।

कर्मका फल जो सुख-दुःखके हेतुभूत मूर्त विषय वे नियमसे मूर्त इन्द्रियों द्वारा जीवसे भोगे जाते हैं, इसलिए कर्मके मूर्तपनेका अनुमान हो सकता है । वह इसप्रकारः— जिसप्रकार मूषकविष मूर्त है उसीप्रकार कर्म मूर्त है, क्योंकि (मूषकविषके फलकी भाँति) मूर्तके सम्बन्ध द्वारा अनुभवमें आनेवाला ऐसा मूर्त उसका फल है । [चूहेके विषका फल (-शरीरमें सूजन आना, बुखार आना आदि) मूर्त है और मूर्त शरीरके सम्बन्ध द्वारा अनुभवमें आता है—भोगा जाता है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि चूहेका विष मूर्त है; उसीप्रकार कर्मका फल (-विषय) मूर्त है और मूर्त इन्द्रियोंके

छे कर्मनुं फल विषय, तेने नियमथी अक्षो वडे ।
जीव भोगवे दुःखे-सुखे, तेथी करम ते मूर्त छे ।।१३३।।

यैर्जीवेन नियतं भुज्यते, ततः कर्मणां मूर्तत्वमनुमीयते । तथा हि—मूर्तं कर्म, मूर्तसंबंधेनानुभूयमानमूर्तफलत्वादाखुविषवदिति ॥ १३३ ॥

मुत्तो फासदि मुत्तं मुत्तो मुत्तेण बंधमणुहवदि ।
जीवो मुत्तिविरहिदो गाहदि ते तेहिं उग्गहदि ॥१३४॥

मूर्तः स्पृशति मूर्तं मूर्तो मूर्तेन बंधमनुभवति ।
जीवो मूर्तिविरहितो गाहति तानि तैरवगाह्यते ॥१३४॥

मूर्तकर्मणोरमूर्तजीवमूर्तकर्मणोश्चबंध प्रकारसूचनेयम् । इह हि संसारिणि जीवेऽनादिसंतानेन प्रवृत्तमास्ते मूर्तकर्म । तत्स्पर्शादिमत्त्वादागामि मूर्तकर्म स्पृशति, ततस्तन्मूर्तं तेन सह स्नेहगुणवशाद्बंधमनुभवति । एष मूर्तयोः कर्मणोर्बन्धप्रकारः । अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवो

संबंध द्वारा अनुभवमें आता है—भोगा जाता है; इसलिए अनुमान हो सकता है कि कर्म मूर्त है ।] । १३३ ।

गाथा १३४

अन्वयार्थः—[मूर्तः मूर्तं स्पृशति] मूर्त मूर्तको स्पर्श करता है, [मूर्तः मूर्तेन] मूर्त मूर्तके साथ [बंधम् अनुभवति] बंधको प्राप्त होता है; [मूर्ति विरहितः जीवः] मूर्तत्वरहित जीव [तानि गाहति] मूर्तकर्मोंको अवगाह देता है और [तैः अवगाह्यते] मूर्तकर्म जीवको अवगाह देते हैं (अर्थात् दोनों एक-दूसरेमें अवगाह प्राप्त करते हैं) ।

टीकाः—यह, मूर्तकर्मका मूर्तकर्मके साथ जो बंधप्रकार तथा अमूर्त जीवका मूर्तकर्मके साथ जो बंधप्रकार उसकी सूचना है ।

यहाँ (इस लोकमें), संसारी जीवमें अनादि संततिसे (-प्रवाहसे) प्रवर्तता हुआ मूर्तकर्म विद्यमान है । वह, स्पर्शादिवाला होनेके कारण, आगामी मूर्तकर्मको स्पर्श करता है; इसलिए मूर्त ऐसा वह उसके साथ, स्निग्धत्वगुणके वश (-अपनी स्निग्धरूक्षत्वपर्यायके कारण), बंधको प्राप्त होता है । यह, मूर्तकर्मका मूर्तकर्मके साथ बंधप्रकार है ।

मूरत मूरत स्पर्शे अने मूरत मूरत बंधन लहे ।
आतमा अमूरत ने करम अन्योन्य अवगाहन लहे ॥१३४॥

ऽनादिमूर्तकर्मनिमित्तरागादिपरिणामस्निग्धः सन् विशिष्टतया मूर्तानि कर्माण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामैः मूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽवगाह्यते च । अयं त्वन्योन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बंधप्रकारः । एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कथञ्चिद्बंधो न विरुध्यते ।। १३४ ।।

—इति पुण्यपापपदार्थव्याख्यानम् ।

अथ आस्रव पदार्थव्याख्यानम् ।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्तम्हि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।१३५।।

रागो यस्य प्रशस्तोऽनुकम्पासंश्रितश्च परिणामः ।
चित्ते नास्ति कालुष्यं पुण्यं जीवस्यास्रवति ।। १३५ ।।

पुनश्च (अमूर्त जीवका मूर्तकर्मोंके साथ बंधप्रकार इसप्रकार है कि), निश्चयनयसे जो अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्तकर्म जिसका निमित्त है ऐसे रागादिपरिणाम द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ, मूर्तकर्मोंको विशिष्टरूपसे अवगाहता है (अर्थात् एक-दूसरेको परिणाममें निमित्तमात्र हों ऐसे सम्बन्धविशेष सहित मूर्तकर्मोंके क्षेत्रमें व्याप्त होता है) और उस रागादिपरिणामके निमित्तसे जो अपने (ज्ञानावरणादि) परिणामको प्राप्त होते हैं ऐसे मूर्तकर्म भी जीवको विशिष्टरूपसे अवगाहते हैं (अर्थात् जीवके प्रदेशोंके साथ विशिष्टतापूर्वक एकक्षेत्रावगाहको प्राप्त होते हैं) । यह, जीव और मूर्तकर्मका अन्योन्य-अवगाहस्वरूप बंधप्रकार है । इसप्रकार अमूर्त ऐसे जीवका भी मूर्त पुण्यपापकर्मके साथ कथंचित् (—किसी प्रकार) बंध विरोधको प्राप्त नहीं होता । १३४ ।

इसप्रकार पुण्य-पापपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब आस्रवपदार्थका व्याख्यान है ।

गाथा १३५

अन्वयार्थः—[यस्य] जिस जीवको [प्रशस्तः रागः] प्रशस्त राग है,

छे रागभाव प्रशस्त, अनुकंपासहित परिणाम छे ।
मनमां नहीं कालुष्य छे, त्यां पुण्य-आस्रव होय छे ।।१३५।।

पण्यास्रवस्वरूपाख्यानमेतत् । प्रशस्तरागोऽनुकम्पापरिणतिः चित्तस्याकलुषत्वं चेति त्रयः शुभा भावाः द्रव्यपुण्यास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपण्यास्रवः । तन्निमित्तः शुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपुण्यास्रव इति ।। १३५ ।।

अरहन्तसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ।।१३६।।

अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिर्धर्मे या च खलु चेष्टा ।
अनुगमनमपि गुरूणां प्रशस्तराग इति ब्रुवन्ति ।।१३६।।

[अनुकम्पासंश्रितः परिणामः] अनुकम्पायुक्त परिणाम है [च] और [चित्ते कालुष्यं न अस्ति] चित्तमें कलुषताका अभाव है, [जीवस्य] उस जीवको [पुण्यम् आस्रवति] पुण्य आस्रवित होता है ।

टीकाः—यह, पुण्यास्रवके स्वरूपका कथन है ।

प्रशस्त राग, अनुकम्पापरिणति और चित्तकी अकलुषता—यह तीन शुभ भाव द्रव्यपुण्यास्रवको निमित्तमात्ररूपसे कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्रवके' प्रसंगका [1]अनुसरण करके (—अनुलक्ष करके) वे शुभ भाव भावपुण्यास्रव हैं और वे (शुभ भाव) जिसका निमित्त हैं ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंके शुभकर्मपरिणाम (—शुभकर्मरूप परिणाम) वे द्रव्यपुण्यास्रव हैं । १३५ ।

गाथा १३६

अन्वयार्थः—[अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः] अर्हंत-सिद्ध-साधुओंके प्रति भक्ति, [धर्मे या च खलु चेष्टा] धर्ममें यथार्थतया चेष्टा [अनुगमनम् अपि गुरूणाम्] और गुरुओंका अनुगमन, [प्रशस्तरागः इति ब्रुवन्ति] वह 'प्रशस्त राग' कहलाता है ।

---

१. शातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपुण्यास्रवका जो प्रसङ्ग बनता है उसमें जीवके प्रशस्त-रागादि शुभ भाव निमित्तकारण हैं इसलिए 'द्रव्यपुण्यास्रव'-प्रसङ्गके पीछे-पीछे उसके निमित्त-भूत शुभ भावोंको भी 'भावपुण्यास्रव' ऐसा नाम है ।

अर्हंत-साधु-सिद्ध प्रत्ये भक्ति, चेष्टा धर्ममां ।
गुरुओ तणुं अनुगमन-ओ परिणाम राग प्रशस्तना ।।१३६।।

प्रशस्तरागस्वरूपाख्यानमेतत् । अर्हत्सिद्धसाधुषु भक्तिः, धर्मे व्यवहारचारित्रानुष्ठाने वासनाप्रधाना चेष्टा, गुरूणामाचार्यादीनां रसिकत्वेनानुगमनम्—एषः प्रशस्तो रागः

टीकाः—यह, प्रशस्त रागके स्वरूपका कथन है ।

[1]अर्हंत-सिद्ध-साधुओंके प्रति भक्ति, धर्ममें—व्यवहारचारित्रके [2]अनुष्ठानमें—[3]भावनाप्रधान चेष्टा और गुरुओंका—आचार्यादिका—रसिकरूपसे [4]अनुगमन, वह 'प्रशस्त राग' है क्योंकि उसका विषय प्रशस्त है ।

---

१. अर्हंत-सिद्ध-साधुओंमें अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु पाँचोंका समावेश हो जाता है, क्योंकि 'साधुओंमें' आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनका समावेश होता है ।

[निर्दोष परमात्मासे प्रतिपक्षभूत ऐसे आर्त-रौद्रध्यानों द्वारा उपार्जित जो ज्ञानावरणादि प्रकृतियाँ उनका, रागादिविकल्परहित धर्म-शुक्लध्यानों द्वारा विनाश करके, जो क्षुधादि अठारह-दोष रहित और केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय सहित हुए, वे अर्हंत कहलाते हैं ।

लौकिक अंजनसिद्ध आदिसे विलक्षण ऐसे जो ज्ञानावरणादि-अष्टकर्मके अभावसे सम्यक्त्वादि-अष्टगुणात्मक हैं और लोकाग्रमें वसते हैं, वे सिद्ध हैं ।

विशुद्ध ज्ञान-दर्शन जिनका स्वभाव है ऐसे आत्मतत्त्वकी निश्चयरुचि, वैसी ही ज्ञप्ति वैसी ही निश्चल-अनुभूति, परद्रव्यकी इच्छाके परिहारपूर्वक उसी आत्मद्रव्यमें प्रतपन अर्थात् तपश्चरण और स्वशक्तिको गोपे विना वैसा ही अनुष्ठान—ऐसे निश्चयपंचाचारको तथा उसके साधक व्यवहारपंचाचारको—कि जिसकी विधि आचारादि शास्त्रोंमें कही है उसे—अर्थात् उभय आचारको जो स्वयं आचरते हैं और दूसरोंको उसका आचरण कराते हैं, वे आचार्य हैं ।

पांच अस्तिकायोंमें जीवास्तिकायको, छह द्रव्योंमें शुद्धजीवद्रव्यको, साततत्त्वोंमें शुद्धजीव-तत्त्वको और नव पदार्थोंमें शुद्धजीवपदार्थको जो निश्चयनयसे उपादेय कहते हैं तथा भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्गकी प्ररूपणा करते हैं और स्वयं भाते (-अनुभव करते) हैं, वे उपाध्याय हैं ।

निश्चय-चतुर्विध-आराधना द्वारा जो शुद्ध आत्मस्वरूपकी साधना करते हैं, वे साधु हैं ।]

२. अनुष्ठान=आचरण; आचरना; अमलमें लाना ।

३. भावप्रधान चेष्टा=भावप्रधान प्रवृत्ति; शुभभावप्रधान व्यापार ।

४. अनुगमन=अनुसरण; आज्ञांकितपना; अनुकूल वर्तन । [गुरुओंके प्रति रसिकरूपसे (उल्लाससे, उत्साहसे, रुचिपूर्वक) आज्ञांकित वर्तना वह प्रशस्त राग है ।]

प्रशस्तविषयत्वात् । अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति ॥ १३६ ॥

तिसिदं व भुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठुण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥१३७॥

तृषितं बुभुक्षितं वा दुःखितं दृष्ट्वा यस्तु दुःखितमनाः ।
प्रतिपद्यते तं कृपया तस्यैषा भवत्यनुकम्पा ॥ १३७ ॥

अनुकम्पास्वरूपाख्यानमेतत् । कश्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रति-

---

यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें, जो [1]स्थूल-लक्षवाला होनेसे मात्र भक्ति-प्रधान है ऐसे अज्ञानीको होता है; उच्च भूमिकामें (-ऊपरके गुणस्थानोंमें) स्थिति प्राप्त न की हो तब, [2]अस्थानका राग रोकनेके हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटानेके हेतु, कदाचित् ज्ञानीको भी होता है । १३६ ।

गाथा १३७

अन्वयार्थः—[तृषितं] तृषातुर, [बुभुक्षितं] क्षुधातुर [वा] अथवा [दुःखितं] दुःखीको [दृष्ट्वा] देखकर [यः तु] जो जीव [दुःखितमनाः] मनमें दुःख पाता हुआ [तं कृपया प्रतिपद्यते] उसके प्रति करुणासे वर्तता है, [तस्य एषा अनुकम्पा भवति] उसका वह भाव अनुकम्पा है ।

टीकाः—यह, अनुकम्पाके स्वरूपका कथन है ।

किसी तृषादिदुःखसे पीड़ित प्राणीको देखकर करुणाके कारण उसका प्रतिकार (-उपाय) करनेकी इच्छासे चित्तमें आकुलता होना वह अज्ञानीकी अनुकम्पा है । ज्ञानीकी अनुकम्पा तो, निचली भूमिकामें विहरते हुए (-स्वयं निचले गुणस्थानोंमें

---

१. अज्ञानीका लक्ष्य (-ध्येय) स्थूल होता है इसलिए उसे मात्र भक्तिकी ही प्रधानता होती है ।

२ अस्थानका=अयोग्य स्थानका, अयोग्य विषयकी ओरका; अयोग्य पदार्थोंका अवलम्बन लेनेवाला ।

दुःखित, तृषित वा क्षुधित देखी दुःख पामी मन विषे ।
करुणाथी वर्ते जेह, अनुकंपा सहित ते जीव छे ॥१३७॥

चिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा । ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णव-निमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनःखेद इति ।। १३७ ।।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा बेंति ।।१३८।।

क्रोधो वा यदा मानो माया लोभो वा चित्तमासाद्य ।
जीवस्य करोति क्षोभं कालुष्यमिति च तं बुधा वदन्ति ।।१३८।।

चित्तकलुषत्वस्वरूपाख्यानमेतत् । क्रोधमानमायालोभानां तीव्रोदये चित्तस्य क्षोभः कालुष्यम् । तेषामेव मंदोदये तस्य प्रसादोऽकालुष्यम् । तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे

वर्तता हो तब), जन्मार्णवमें निमग्न जगतके अवलोकनसे (अर्थात् संसारसागरमें डूबे हुए जगतको देखनेसे) मनमें किंचित् खेद होना वह है । * १३७ ।

गाथा १३८

अन्वयार्थः—[यदा] जब [क्रोधः वा] क्रोध, [मानः] मान, [माया] माया [वा] अथवा [लोभः] लोभ [चित्तम् आसाद्य] चित्तका आश्रय पाकर [जीवस्य] जीवको [क्षोभं करोति] क्षोभ करते हैं, तब [तं] उसे [बुधाः] ज्ञानी [कालुष्यम् इति च वदन्ति] 'कलुषता' कहते हैं ।

टीकाः— यह, चित्तकी कलुषताके स्वरूपका कथन है ।

क्रोध, मान, माया और लोभके उदयसे चित्तका क्षोभ सो कलुषता है । उन्हींके (-क्रोधादिके ही) मन्द उदयसे चित्तकी प्रसन्नता सो अकलुषता है । वह अकलुषता, कदाचित् कषायका विशिष्ट (-विशेष प्रकारका) क्षयोपशम होने पर,

---

* इस गाथाकी आचार्यवर श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीकामें इसप्रकार विवरण है:—तीव्र तृषा, तीव्र क्षुधा, तीव्र रोग आदिसे पीड़ित प्राणीको देखकर अज्ञानी जीव 'किसी भी प्रकार मैं इसका प्रतिकार करूँ' इसप्रकार व्याकुल होकर अनुकम्पा करता है; ज्ञानी तो स्वात्मभावनाको प्राप्त न करता हुआ (अर्थात् निजात्माको अनुभवकी उपलब्धि न होती हो तब), संक्लेशके परित्याग द्वारा (-अशुभ भावको छोड़कर) यथासम्भव प्रतिकार करता है तथा उसे दुःखी देखकर विशेष संवेग और वैराग्यकी भावना करता है ।

मद-क्रोध अथवा लोभ-माया चित्त-आश्रय पामीने ।
जीवने करे जे क्षोभ, तेने कलुषता ज्ञानी कहे ।। १३८ ।।

सत्यज्ञानिनो भवति । कषायोदयानुवृत्तेरसमग्रव्यावर्तितोपयोगस्यावांतरभूमिकासु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति ॥ १३८ ॥

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसएसु ।
परपरिदावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ॥ १३९ ॥

चर्या प्रमादबहुला कालुष्यं लोलता च विषयेषु ।
परपरितापापवादः पापस्य चास्रवं करोति ॥ १३९ ॥

पापास्रवस्वरूपाख्यानमेतत् । प्रमादबहुलचर्या परिणतिः, कालुष्यपरिणतिः, विषयलौल्यपरिणतिः, परपरितापपरिणतिः, परापवादपरिणतिश्चेति पञ्चाशुभा भावा द्रव्यपापास्रवस्य

अज्ञानीको होती है; कषायके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिमेंसे उपयोगको [1]असमग्ररूपसे विमुख किया हो तब (अर्थात् कषायके उदयका अनुसरण करनेवाले परिणमनमेंसे उपयोगको पूर्ण विमुख न किया हो तब), मध्यम भूमिकाओंमें (–मध्यम गुणस्थानोंमें), कदाचित् ज्ञानीको भी होती है । १३८ ।

गाथा १३९

अन्वयार्थः—[प्रमादबहुला चर्या] बहु प्रमादवाली चर्या, [कालुष्यं] कलुषता, [विषयेषु च लोलता] विषयोंके प्रति लोलुपता, [परपरितापापवादः] परको परिताप करना तथा परके अपवाद बोलना—वह [पापस्य च आस्रवं करोति] पापका आस्रव करता है ।

टीकाः—यह, पापास्रवके स्वरूपका कथन है ।

बहु प्रमादवाली चर्यारूप परिणति (–अति प्रमादसे भरे हुए आचरणरूप परिणति), कलुषतारूप परिणति, विषयलोलुपतारूप परिणति, परपरितापरूप परिणति (–परको दुःख देनेरूप परिणति) और परके अपवादरूप परिणति—यह पांच अशुभ भाव द्रव्यपापास्रवको निमित्तमात्ररूपसे कारणभूत हैं इसलिए 'द्रव्यपापास्रवके' प्रसंगका

---

१. असमग्ररूपसे=अपूर्णरूपसे; अधूरेरूपसे; अंशतः ।

चर्या प्रमादभरी, कलुषता, लुब्धता विषयो विषे ।
परिताप ने अपवाद परना, पाप-आस्रवने करे ॥१३९॥

निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापास्रवः । तन्निमित्तोऽशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यपापास्रव इति ॥१३९॥

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अट्टरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥१४०॥

संज्ञाश्च त्रिलेश्या इन्द्रियवशता चार्तरौद्रे ।
ज्ञानं च दुःप्रयुक्तं मोहः पापप्रदा भवन्ति ॥ १४० ॥

पापास्रवभूतभावप्रपञ्चाख्यानमेतत् । तीव्रमोहविपाकप्रभवा आहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञाः, तीव्रकषायोदयानुरंजितयोगप्रवृत्तिरूपाः कृष्णनीलकापोतलेश्यास्तिस्रः, रागद्वेषोदयप्रकर्षादि-

---

[1]अनुसरण करके (–अनुलक्ष करके) वे अशुभभाव भावपापास्रव हैं और वे (अशुभभाव) जिनका निमित्त हैं ऐसे जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंके अशुभकर्मपरिणाम (–अशुभकर्मरूप परिणाम) वे द्रव्यपापास्रव हैं ।१३९।

गाथा १४०

अन्वयार्थः—[संज्ञा च] (चारों) संज्ञाऍं, [त्रिलेश्या] तीन लेश्याऍं, [इन्द्रियवशता च] इन्द्रियवशता, [आर्तरौद्रे] आर्त-रौद्रध्यान, [दुःप्रयुक्तं ज्ञानं] दुःप्रयुक्त ज्ञान (–दुष्टरूपसे अशुभ कार्यमें लगा हुआ ज्ञान) [च] और [मोहः] मोह— [पापप्रदाः भवन्ति] यह भाव पापप्रद हैं ।

टीकाः—यह, पापास्रवभूत भावोंके विस्तारका कथन है ।

तीव्र मोहके विपाकसे उत्पन्न होनेवाली आहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञाऍं; तीव्र कषायके उदयसे [2]अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप कृष्ण-नील-कापोत नामकी तीन

---

१. असातावेदनीयादि पुद्गलपरिणामरूप द्रव्यपापास्रवका जो प्रसंग बनता है उसमें जीवके अशुभ भाव निमित्त कारण हैं इसलिए 'द्रव्यपापास्रव' प्रसंगके पीछे-पीछे उसके निमित्तभूत अशुभ भावोंको भी 'भावपापास्रव' ऐसा नाम है ।

२. अनुरंजित=रँगी हुई । [कषायके उदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्ति वह लेश्या है । वहाँ, कृष्णादि तीन लेश्याऍं तीव्र कषायके उदयसे अनुरंजित योगप्रवृत्तिरूप हैं ।]

संज्ञा, त्रिलेश्या, इंद्रिवशता, आर्तरौद्र ध्यान बे ।
वणी मोह ने दुर्युक्त ज्ञान प्रदान पाप तणुं करे ॥१४०॥

न्द्रियाधीनत्वम्, रागद्वेषोद्रेकात्प्रियसंयोगाप्रियवियोगवेदनामोक्षणनिदानाकांक्षणरूपमार्तम्, कषायक्रूराशयत्वाद्धिंसाऽसत्यस्तेयविषयसंरक्षणानंदरूपं रौद्रम्, नैष्कर्म्यं तु शुभकर्मणश्चान्यत्र दुष्टतया प्रयुक्तं ज्ञानम्, सामान्येन दर्शनचारित्रमोहनीयोदयोपजनिताविवेकरूपो मोहः,—एषः भावपापास्रवप्रपञ्चो द्रव्यपापास्रवप्रपञ्चप्रदो भवतीति ॥१४०॥

—इति आस्रवपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ संवरपदार्थव्याख्यानम् ।

इंदियकसायसण्णा णिग्गहिदा जेहिं सुट्ठु मग्गम्हि ।
जावत्तावत्तेसिं पिहिदं पावासवच्छिद्दं ॥ १४१ ॥

लेश्याऐं; रागद्वेषके उदयके [1]प्रकर्षके कारण वर्तता हुआ इन्द्रियाधीनपना; रागद्वेषके [2]उद्रेकके कारण प्रियके संयोगकी, अप्रियके वियोगकी, वेदनासे छुटकारेकी तथा निदानकी इच्छारूप आर्तध्यान; कषाय द्वारा [3]क्रूर ऐसे परिणामके कारण होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द, स्तेयानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्द रूप रौद्रध्यान; निष्प्रयोजन (—व्यर्थ) शुभ कर्मसे अन्यत्र (—अशुभ कार्यमें) दुष्टरूपसे लगा हुआ ज्ञान; और सामान्यरूपसे दर्शनचारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न अविवेकरूप मोह;—यह, भावपापास्रवका विस्तार द्रव्यपापास्रवके विस्तारको प्रदान करनेवाला है (अर्थात् उपरोक्त भावपापास्रवरूप अनेकविध भाव वैसे-वैसे अनेकविध द्रव्यपापास्रवमें निमित्तभूत हैं)। १४०।

इसप्रकार आस्रवपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ।

अब, संवरपदार्थका व्याख्यान है।

---

१. प्रकर्ष=उत्कर्ष; उग्रता।

२. उद्रेक=बहुलता; अधिकता।

३. क्रूर=निर्दय; कठोर; उग्र।

मार्गे रही संज्ञा-कषायो-इंद्रिनो निग्रह करे।
पापास्रवनुं छिद्र तेने तेटलुं रुंधाय छे ॥ १४१ ॥

इन्द्रियकषायसंज्ञा निगृहीता यैः सुष्ठु मार्गे ।
यावत्तावत्तेषां पिहितं पापास्रवच्छिद्रम् ॥ १४१ ॥

अनन्तरत्वात्पापस्यैव संवराख्यानमेतत् । मार्गो हि संवरः तन्निमित्तमिन्द्रियाणि कषायाः संज्ञाश्च यावतांशेन यावन्तं वा कालं निगृह्यन्ते तावतांशेन तावन्तं वा कालं पापास्रवद्वारं पिधीयते । इन्द्रियकषायसंज्ञाः भावपापास्रवो द्रव्यपापास्रवहेतुः पूर्वमुक्तः । इह तन्निरोधो भावपापसंवरो द्रव्यपापसंवरहेतुरवधारणीय इति ॥१४१॥

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

गाथा १४१

अन्वयार्थः—[यैः] जो [सुष्ठु मार्गे] भली भाँति मार्गमें रहकर [इन्द्रियकषायसंज्ञाः] इन्द्रियाँ, कषाय और संज्ञाओंका [यावत् निगृहीताः] जितना निग्रह करते हैं, [तावत्] उतना [पापास्रवच्छिद्रम्] पापास्रवका छिद्र [तेषाम्] उनको [पिहितम्] बंध होता है ।

टीकाः—पापके अनन्तर होनेसे, पापके ही संवरका यह कथन है (अर्थात् पापके कथनके पश्चात् तुरन्त होनेसे, यहाँ पापके ही संवरका कथन किया है) ।

मार्ग वास्तवमें संवर है; उसके निमित्तसे (–उसके हेतुसे) इन्द्रियों, कषायों तथा संज्ञाओंका जितने अंशमें अथवा जितने काल निग्रह किया जाता है, उतने अंशमें अथवा उतने काल पापास्रवद्वार बन्ध होता है ।

इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओं—भावपापास्रव–को द्रव्यपापास्रवका हेतु (–निमित्त) पहले (१४० वीं गाथामें) कहा था; यहाँ (इस गाथामें) उनका निरोध (–इन्द्रियों, कषायों और संज्ञाओंका निरोध)—भावपापसंवर—द्रव्यपापसंवरका अवधारना (–समझना) । १४१ ।

सौ द्रव्यमां नहि राग-द्वेष-विमोह वर्ते जेहने ।
शुभ-अशुभ कर्म न आस्रवे समदुःखसुख ते भिक्षुने ॥१४२॥

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा सर्वद्रव्येषु ।
नास्रवति शुभमशुभं समसुखदुःखस्य भिक्षोः ॥१४२॥

सामान्यसंवरस्वरूपाख्यानमेतत् । यस्य रागरूपो द्वेषरूपो मोहरूपो वा समग्रपरद्रव्येषु न हि विद्यते भावः तस्य निर्विकारचैतन्यत्वात्समसुखदुःखस्य भिक्षोः शुभमशुभं च कर्म नास्रवति, किन्तु संव्रियत एव । तदत्र मोहरागद्वेषपरिणामनिरोधो भावसंवरः । तन्निमित्तः शुभाशुभकर्मपरिणामनिरोधो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यसंवर इति ॥१४२॥

जस्स जदा खलु पुण्णं जोगे पावं च णत्थि विरदस्स ।
संवरणं तस्स तदा सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥ १४३ ॥

गाथा १४२

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे [सर्वद्रव्येषु] सर्व द्रव्योंके प्रति [रागः] राग, [द्वेषः] द्वेष [वा] या [मोहः] मोह [न विद्यते] नहीं है, [समसुखदुःखस्य भिक्षोः] उस समसुखदुःख भिक्षुको (–सुखदुःखके प्रति समभाववाले मुनिको) [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभ कर्म [न आस्रवति] आस्रवित नहीं होते ।

टीकाः—यह, सामान्यरूपसे संवरके स्वरूपका कथन है ।

जिसे समग्र परद्रव्योंके प्रति रागरूप, द्वेषरूप या मोहरूप भाव नहीं है, उस भिक्षुको—जो कि निर्विकारचैतन्यपनेके कारण [1]समसुखदुःख है उसे—शुभ और अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता, परन्तु संवर ही होता है । इसलिए यहाँ (ऐसा समझना कि) मोहरागद्वेषपरिणामका निरोध सो भावसंवर है, और वह (मोहरागद्वेषरूप परिणामका निरोध) जिसका निमित्त है ऐसा जो योगद्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोंके शुभाशुभकर्मपरिणामका (–शुभाशुभकर्मरूप परिणामका) निरोध सो द्रव्यसंवर है । १४२ ।

---

१. समसुखदुःख=जिसे सुखदुःख समान हैं ऐसे; इष्टानिष्ट संयोगोंमें जिसे हर्षशोकादि विषम परिणाम नहीं होते ऐसे । [जिसे रागद्वेषमोह नहीं है, वह मुनि निर्विकारचैतन्यमय है अर्थात् उसका चैतन्य पर्यायमें भी विकाररहित है इसलिए वह समसुखदुःख है ।]

ज्यारे न योगे पुण्य तेम ज पाप वर्ते विरतने ।
त्यारे शुभाशुभकृत करमनो थाय संवर तेहने ॥ १४३ ॥

यस्य यदा खलु पुण्यं योगे पापं च नास्ति विरतस्य ।
संवरणं तस्य तदा शुभाशुभकृतस्य कर्मणः ॥ १४३ ॥

विशेषेण संवरस्वरूपाख्यानमेतत् । यस्य योगिनो विरतस्य सर्वतो निवृत्तस्य योगे वाङ्मनःकायकर्मणि शुभपरिणामरूपं पुण्यमशुभपरिणामरूपं पापं च यदा न भवति तस्य तदा शुभाशुभभावकृतस्य द्रव्यकर्मणः संवरः स्वकारणाभावात्प्रसिद्धयति । तदत्र शुभाशुभपरिणाम-निरोधो भावपुण्यपापसंवरो द्रव्यपुण्यपापसंवरस्य हेतुः प्रधानोऽवधारणीय इति ॥ १४३ ॥

—इति संवरपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ निर्जरापदार्थव्याख्यानम् ।

गाथा १४३

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे (–जिस मुनिको), [विरतस्य] विरत वर्तते हुए, [योगे] योगमें [पुण्यं पापं च] पुण्य और पाप, [यदा] जब [खलु] वास्तवमें [न अस्ति] नहीं होते, [तदा] तब [तस्य] उसे [शुभाशुभकृतस्य कर्मणः] शुभाशुभभावकृत कर्मका [संवरणम्] संवर होता है ।

टीकाः—यह, विशेषरूपसे संवरके स्वरूपका कथन है ।

जिस योगीको, विरत अर्थात् सर्वथा निवृत्त वर्तते हुए, योगमें—वचन, मन और कायसम्बन्धी क्रियामें—शुभपरिणामरूप पुण्य और अशुभपरिणामरूप पाप जब नहीं होते, तब उसे शुभाशुभभावकृत द्रव्यकर्मका (–शुभाशुभभाव जिसका निमित्त होता है ऐसे द्रव्यकर्मका), स्वकारणके अभावके कारण, संवर होता है । इसलिए यहाँ (इस गाथामें) शुभाशुभ परिणामका निरोध—भावपुण्यपापसंवर—द्रव्यपुण्य-पापसंवरका [1]प्रधान हेतु अवधारना (–समझना) । १४३ ।

इस प्रकार संवरपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब निर्जरापदार्थका व्याख्यान है ।

---

१. प्रधान हेतु=मुख्य निमित्त । [द्रव्यसंवरमें 'मुख्य निमित्त' जीवके शुभाशुभ परिणामका निरोध है, योगका निरोध नहीं है । (यहाँ यह ध्यानमें रखने योग्य है कि द्रव्यसंवरका उपादानकारण—निश्चयकारण तो पुद्गल स्वयं ही है ।]

संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं ।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥१४४॥

संवरयोगाभ्यां युक्तस्तपोभिर्यश्चेष्टते बहुविधैः ।
कर्मणां निर्जरणं बहुकानां करोति स नियतम् ॥१४४॥

निर्जरास्वरूपाख्यानमेतत् । शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः, शुद्धोपयोगो योगः । ताभ्यां युक्तस्तपोभिरनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशादि-भेदाद्बहिरङ्गैः प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानभेदादन्तरङ्गैश्च बहुविधै-

---

गाथा १४४

अन्वयार्थः—[संवरयोगाभ्याम् युक्तः] संवर और योगसे (शुद्धोपयोगसे) युक्त ऐसा [यः] जो जीव [बहुविधैः तपोभिः चेष्टते] बहुविध तपों सहित वर्तता है, [सः] वह [नियतम्] नियमसे [बहुकानाम् कर्मणाम्] अनेक कर्मोंकी [निर्जरणं करोति] निर्जरा करता है ।

टीकाः—यह, निर्जराके स्वरूपका कथन है ।

संवर अर्थात् शुभाशुभ परिणामका निरोध, और योग अर्थात् शुद्धोपयोग; उनसे (–संवर और योगसे) युक्त ऐसा जो (पुरुष), अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेशादि भेदोंवाले बहिरंग तपों सहित और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युतसर्ग तथा ध्यान ऐसे भेदोंवाले अंतरंग तपों सहित—इसप्रकार बहुविध [1]तपों सहित वर्तता है, वह (पुरुष) वास्तवमें

---

१. जिस जीवको सहजशुद्धस्वरूपके प्रतपनरूप निश्चय-तप हो उस जीवके, हठ रहित वर्तते हुए अनशनादिसम्बन्धी भावोंको तप कहा जाता है । उसमें वर्तता हुआ शुद्धिरूप अंश वह निश्चय-तप है और शुभपनेरूप अंशको व्यवहार-तप कहा जाता है । (मिथ्यादृष्टिको निश्चय-तप नहीं है इसलिए उसके अनशनादिसम्बन्धी शुभ भावोंको व्यवहार-तप भी नहीं कहा जाता; क्योंकि जहाँ यथार्थ तपका सद्भाव ही नहीं है, वहाँ उन शुभ भावोंमें आरोप किसका किया जाए ?)

जे योग-संवरयुक्त जीव बहुविध तपो सह परिणमे ।
तेने नियमथी निर्जरा बहु कर्म केरी थाय छे ॥ १४४ ॥

यंश्चेष्टते स खलु बहूनां कर्मणां निर्जरणं करोति। तदत्र कर्मवीर्यशातनसमर्थो बहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिर्बृंहितः शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा, तदनुभावनीरसीभूतानामेकदेशसंक्षयः समुपात्तकर्मपुद्गलानां द्रव्यनिर्जरेति ॥ १४४ ॥

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥१४५॥

यः संवरेण युक्तः आत्मार्थप्रसाधको ह्यात्मानम्।
ज्ञात्वा ध्यायति नियतं ज्ञानं स संधुनोति कर्मरजः ॥१४५॥

अनेक कर्मोंकी निर्जरा करता है। इसलिए यहाँ (इस गाथामें ऐसा कहा कि), कर्मके वीर्यका (–कर्मकी शक्तिका) [1]शातन करनेमें समर्थ ऐसा जो बहिरंग और अंतरंग तपोंद्वारा [2]वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोग सो भावनिर्जरा है और उनके प्रभावसे (–वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोगके निमित्तसे) नीरस हुए ऐसे उपार्जित कर्मपुद्गलोंका एकदेश [3]संक्षय सो द्रव्यनिर्जरा है। १४४।

गाथा १४५

अन्वयार्थः—[संवरेण युक्तः] संवरसे युक्त ऐसा [यः] जो जीव, [आत्मार्थप्रसाधकः हि] वास्तवमें आत्मार्थका प्रसाधक (स्वप्रयोजनका प्रकृष्ट साधक) वर्तता

---

१. शातन करना=पतला करना; हीन करना; क्षीण करना; नष्ट करना।

२. वृद्धिको प्राप्त=बढ़ा हुआ; उग्र हुआ। [संवर और शुद्धोपयोगवाले जीवको जब उग्र शुद्धोपयोग होता है तब अनेक कर्मोंकी निर्जरा होती है। शुद्धोपयोगकी उग्रता करनेकी विधि शुद्ध आत्मद्रव्यके आलम्बनकी उग्रता करना ही है। ऐसा करनेवालेको, सहजदशामें हठ रहित जो अनशनादि सम्बन्धी भाव वर्तते हैं उनमें (शुभपनेरूप अंशके साथ) उग्र-शुद्धिरूप अंश होता है; जिससे अनेक कर्मोंकी निर्जरा होती है। (मिथ्यादृष्टिको तो शुद्धात्मद्रव्य भासित ही नहीं हुआ है; इसलिए उसे, संवर नहीं है, शुद्धोपयोग नहीं है, शुद्धोपयोगकी वृद्धिकी तो बात ही कहाँ रही ? इसलिए उसे, सहज दशा रहित—हठपूर्वक—अनशनादिसम्बन्धी शुभभाव कदाचित् भले हों तथापि, मोक्षके हेतुभूत निर्जरा बिलकुल नहीं होती।)]

३. संक्षय=सम्यक् प्रकारसे क्षय।

संवर सहित, आत्मप्रयोजननो प्रसाधक आत्मने।
जाणी, सुनिश्चल ज्ञान ध्यावे, ते करमरज निर्जरे ॥१४५॥

मुख्यनिर्जराकारणोपन्यासोऽयम् । यो हि संवरेण शुभाशुभपरिणामपरमनिरोधेन युक्तः परिज्ञातवस्तुस्वरूपः परप्रयोजनेभ्यो व्यावृत्तबुद्धिः केवलं स्वप्रयोजनसाधनोद्यतमनाः आत्मानं स्वोपलम्भेनोपलभ्य गुणगुणिनोर्वस्तुत्वेनाभेदात्तदेव ज्ञानं स्वं स्वेनाविचलितमनास्संचेतयते स खलु नितान्तनिस्स्नेहः प्रहीणस्नेहाभ्यङ्गपरिष्वङ्गशुद्धस्फटिकस्तम्भवत् पूर्वोपात्तं कर्मरजः संधुनोति । एतेन निर्जरामुख्यत्वे हेतुत्वं ध्यानस्य द्योतितमिति ॥१४५॥

हुआ, [आत्मानम् ज्ञात्वा] आत्माको जानकर (–अनुभव करके) [ज्ञानं नियतं ध्यायति] ज्ञानको निश्चलरूपसे ध्याता है, [सः] वह [कर्मरजः] कर्मरजको [संधुनोति] खिरा देता है ।

टीकाः—यह, निर्जराके मुख्य कारणका कथन है ।

संवरसे अर्थात् शुभाशुभ परिणामके परम निरोधसे युक्त ऐसा जो जीव, वस्तुस्वरूपको (हेय-उपादेय तत्त्वको) बराबर जानता हुआ परप्रयोजनसे जिसकी बुद्धि [1]व्यावृत्त हुई और मात्र स्वप्रयोजन साधनेमें जिसका [2]मन [3]उद्यत हुआ है ऐसा वर्तता हुआ, आत्माको स्वोपलब्धिसे उपलब्ध करके (–अपने स्वानुभव द्वारा अनुभव करके), गुण-गुणीका वस्तुरूपसे अभेद होनेके कारण वही [4]ज्ञानको—स्वको—स्व द्वारा अविचल परिणतिवाला होकर संचेतता है, वह जीव वास्तवमें अत्यन्त [5]निःस्नेह वर्तता हुआ—जिसको [6]स्नेहके लेपका संग प्रक्षीण हुआ है ऐसे शुद्ध स्फटिकके स्तम्भकी भाँति—पूर्वोपार्जित कर्मरजको खिरा देता है ।

इससे (–इस गाथासे) ऐसा दर्शाया कि निर्जराका मुख्य हेतु [7]ध्यान है । १४५ ।

---

१. व्यावृत्त होना = निवर्तना; निवृत्त होना; विमुख होना ।

२. मन = मति; बुद्धि; भाव; परिणाम ।

३. उद्यत होना = तत्पर होना; लगना; उद्यमवंत होना; मुड़ना; ढलना ।

४. गुणी और गुणमें वस्तु-अपेक्षासे अभेद है इसलिए आत्मा कहो या ज्ञान कहो—दोनों एक ही हैं । ऊपर जिसका 'आत्मा' शब्दसे कथन किया था उसीका यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे कथन किया है । उस ज्ञानमें—निजात्मामें—निजात्मा द्वारा निश्चल परिणति करके उसका संचेतन—संवेदन—अनुभवन करना सो ध्यान है ।

५. निःस्नेह = स्नेह रहित; मोहरागद्वेष रहित ।

६. स्नेह = तेल; चिकना पदार्थ; स्निग्धता; चिकनापन ।

७. यह ध्यान शुद्धभावरूप है ।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायदे अगणी ।। १४६ ।।

यस्य न विद्यते रागो द्वेषो मोहो वा योगपरिकर्म ।
तस्य शुभाशुभदहनो ध्यानमयो जायते अग्निः ।।१४६।।

ध्यानस्वरूपाभिधानमेतत् । शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिर्हि ध्यानम् । अथास्यात्मलाभविधिरभिधीयते । यदा खलु योगी दर्शनचारित्रमोहनीयविपाकं पुद्गलकर्मत्वात् कर्मसु संहृत्य, तदनुवृत्तेः व्यावृत्त्योपयोगममुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तं चात्यन्तशुद्ध एवात्मनि निष्कम्पं निवेशयति, तदास्य निष्क्रियचैतन्यरूपस्वरूपविश्रान्तस्य वाङ्मनःकायानभावयतः

गाथा १४६

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे [मोहः रागः द्वेषः] मोह और रागद्वेष [न विद्यते] नहीं हैं [वा] तथा [योगपरिकर्म] योगोंका सेवन नहीं है (अर्थात् मन-वचन-कायाके प्रति उपेक्षा है), [तस्य] उसे [शुभाशुभदहनः] शुभाशुभको जलानेवाली [ध्यानमयः अग्निः] ध्यानमय अग्नि [जायते] प्रगट होती है ।

टीकाः—यह, ध्यानके स्वरूपका कथन है ।

शुद्ध स्वरूपमें अविचलित चैतन्यपरिणति सो यथार्थ ध्यान है । वह ध्यान प्रगट होनेकी विधि अब कही जाती है:—जब वास्तवमें योगी, दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयका विपाक पुद्गलकर्म होनेसे उस विपाकको (अपनेसे भिन्न ऐसे अचेतन) कर्मोंमें समेट कर, तदनुसार परिणतिसे उपयोगको व्यावृत्त करके (—उस विपाकके अनुरूप परिणमनमेंसे उपयोगका निवर्तन करके), मोही, रागी और द्वेषी न होनेवाले ऐसे उस उपयोगको अत्यन्त शुद्ध आत्मामें ही निष्कंपरूपसे लीन करता है, तब उस योगीको—जो कि अपने निष्क्रिय चैतन्यरूप स्वरूपमें विश्रांत है, वचन-मन-

---

नहि रागद्वेषविमोह ने नहि योगसेवन जेहने ।
प्रगटे शुभाशुभ बाळनारो ध्यान-अग्नि तेहने ।।१४६।।

स्वकर्मस्वव्यापारयतः सकलशुभाशुभकर्मेन्धनदहनसमर्थत्वादग्निकल्पं परमपुरुषार्थसिद्ध्युपायभूतं ध्यानं जायते इति। तथा चोक्तम्—*"अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहइ इंदत्तं। लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति"। "अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

कायाको नहीं [1]भाता और स्वकर्मोंमें [2]व्यापार नहीं करता उसे—सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधनको जलानेमें समर्थ होनेसे अग्निसमान ऐसा, [3]परमपुरुषार्थसिद्धिके उपायभूत ध्यान प्रगट होता है।

फिर कहा है कि:—

"अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा भाएवि लहइ इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति॥"
"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ॥"

[अर्थ:—इस समय भी त्रिरत्नशुद्ध जीव (–इस काल भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन रत्नोंसे शुद्ध ऐसे मुनि) आत्माका ध्यान करके इन्द्रपना तथा लौकांतिक-देवपना प्राप्त करते हैं और वहांसे चयकर (मनुष्यभव प्राप्त करके) निर्वाणको प्राप्त करते हैं।

श्रुतियोंका अंत नहीं है (–शास्त्रोंका पार नहीं है,) काल अल्प है और हम [4]दुर्मेध हैं; इसलिए वही मात्र सीखनेयोग्य है कि जो जरा-मरणका क्षय करे।]

---

* इन दो उद्धृत गाथाओंमेंसे पहली गाथा श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत, मोक्षप्राभृतकी है।

१. भाना=चिंतवन करना; ध्याना; अनुभवन करना।

२. व्यापार=प्रवृत्ति। [स्वरूपविश्रांत योगीको अपने पूर्वोपार्जित कर्मोंमें प्रवर्तन नहीं है, क्योंकि वह मोहनीयकर्मके विपाकको अपनेसे भिन्न—अचेतन—जानता है तथा उस कर्मविपाकके अनुरूप परिणमनसे उसने उपयोगको विमुख किया है।]

३. पुरुषार्थ=पुरुषका अर्थ; पुरुषका प्रयोजन; आत्माका प्रयोजन; आत्मप्रयोजन। [परमपुरुषार्थ अर्थात् आत्माका परम प्रयोजन मोक्ष है और वह मोक्ष ध्यानसे सधता है, इसलिए परमपुरुषार्थकी (–मोक्षकी) सिद्धिका उपाय ध्यान है।]

४. दुर्मेध=अल्पबुद्धिवाले; मंदबुद्धि।

तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ" ॥१४६॥

—इति निर्जरापदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

भावार्थः—निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कारमें निश्चल परिणति वह [1]ध्यान है। यह ध्यान मोक्षके उपायरूप है।

जिसप्रकार थोड़ी-सी भी अग्नि बहुत-से घास और काष्ठकी राशिको अल्पकालमें जला देती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व-कषायादि विभावके परित्यागस्वरूप महा पवनसे प्रज्वलित हुई और अपूर्व-अद्भुत-परम-आह्लादात्मक सुखस्वरूप घृतसे सिंची हुई निश्चलआत्मसंवेदनरूप ध्यानाग्नि मूलोत्तरप्रकृति-भेदवाले कर्मरूपी ईंधनकी राशिको क्षणमात्रमें जला देती है।

इस पंचमकालमें भी यथाशक्ति ध्यान हो सकता है। इस कालमें जो विच्छेद है वह शुक्लध्यानका है, धर्मध्यानका नहीं। आज भी यहाँसे जीव धर्मध्यान करके देवका भव और फिर मनुष्यका भव पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और बहुश्रुतधर ही ध्यान कर सकते हैं ऐसा भी नहीं है; सारभूत अल्प श्रुतसे भी ध्यान हो सकता है। इसलिए मोक्षार्थियोंको शुद्धात्माका प्रतिपादक, संवर-निर्जराका करनेवाला तथा जरामरणका हरनेवाला सारभूत उपदेश ग्रहण करके ध्यान करने योग्य है।

[यहाँ यह लक्षमें रखने योग्य है कि उपरोक्त ध्यानका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके बिना ध्यान नहीं होता, क्योंकि निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कारकी (शुद्धात्माकी) सम्यक् प्रतीति बिना उसमें निश्चल परिणति कहाँसे हो सकती है ? इसलिए मोक्षके उपायभूत ध्यान करनेकी इच्छा रखनेवाले जीवको प्रथम तो जिनोक्त द्रव्यगुणपर्यायरूप वस्तुस्वरूपकी यथार्थ समझपूर्वक निर्विकार निष्क्रिय चैतन्यचमत्कारकी सम्यक् प्रतीतिका सर्व प्रकारसे उद्यम करनेयोग्य है; उसके पश्चात् ही उस चैतन्य-चमत्कारमें विशेष लीनताका यथार्थ उद्यम हो सकता है।] १४६।

इस प्रकार निर्जरा पदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ।

---

१. मुनिको जो शुद्धात्मस्वरूपका निश्चल उग्र आलम्बन वर्तता है उसे यहाँ मुख्यतः 'ध्यान' कहा है। (शुद्धात्मावलम्बनकी उग्रताको मुख्य न करें तो, अविरति सम्यग्दृष्टिको भी 'जघन्य ध्यान' कहनेमें विरोध नहीं है, क्योंकि उसे भी शुद्धात्मस्वरूपका जघन्य आलम्बन तो होता है।)

अथ बंधपदार्थव्याख्यानम् ।

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा ।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१४७॥

यं शुभमशुभमुदीर्णं भावं रक्तः करोति यद्यात्मा ।
स तेन भवति बद्धः पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥ १४७ ॥

बन्धस्वरूपाख्यानमेतत् । यदि खल्वयमात्मा परोपाश्रयेणानादिरक्तः कर्मोदयप्रभावत्वादुदीर्णं शुभमशुभं वा भावं करोति, तदा स आत्मा तेन निमित्तभूतेन भावेन पुद्गलकर्मणा विविधेन बद्धो भवति । तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्धः शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्धः, तन्निमित्तेन शुभाशुभकर्मत्वपरिणतानां जीवेन सहान्योन्यमूर्च्छनं पुद्गलानां द्रव्यबन्ध इति ॥ १४७ ॥

अब बंधपदार्थका व्याख्यान है ।

गाथा १४७

अन्वयार्थः—[यदि] यदि [आत्मा] आत्मा [रक्तः] रक्त (विकारी) वर्तता हुआ [उदीर्णं] उदित [यम् शुभम् अशुभम् भावम्] शुभ या अशुभ भावको [करोति] करता है, तो [सः] वह आत्मा [तेन] उस भाव द्वारा (–उस भावके निमित्तसे) [विविधेन पुद्गलकर्मणा] विविध पुद्गलकर्मोंसे [बद्धः भवति] बद्ध होता है ।

टीकाः— यह, बंधके स्वरूपका कथन है ।

यदि वास्तवमें यह आत्मा अन्यके (–पुद्गलकर्मके) आश्रय द्वारा अनादिकालसे रक्त रहकर कर्मोदयके प्रभावयुक्तरूप वर्तनेसे उदित (–प्रगट होनेवाले) शुभ या अशुभ भावको करता है, तो वह आत्मा उस निमित्तभूत भाव द्वारा विविध पुद्गलकर्मोंसे बद्ध होता है । इसलिए यहाँ (ऐसा कहा है कि), मोहरागद्वेष द्वारा स्निग्ध ऐसे जो जीवके शुभ या अशुभ परिणाम वह भावबंध है और उनके (–शुभाशुभ परिणामोंके) निमित्तसे शुभाशुभ कर्मरूप परिणत पुद्गलोंका जीवके साथ अन्योन्य अवगाहन (–विशिष्ट शक्ति सहित एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध) वह द्रव्यबंध है ।१४७।

जो आतमा उपरक्त करतो अशुभ वा शुभ भावने ।
तो ते वडे ए विविध पुद्गलकर्मथी बंधाय छे ॥ १४७ ॥

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥

योगनिमित्तं ग्रहणं योगो मनोवचनकायसंभूतः ।
भावनिमित्तो बन्धो भावो रतिरागद्वेषमोहयुतः ॥ १४८ ॥

बहिरङ्गान्तरङ्गबन्धकारणाख्यानमेतत् । ग्रहणं हि कर्मपुद्गलानां जीवप्रदेशवर्तिकर्मस्कन्धानुप्रवेशः । तत् खलु योगनिमित्तम् । योगो वाङ्मनःकायकर्मवर्गणालम्बन आत्मप्रदेशपरिस्पन्दः । बन्धस्तु कर्मपुद्गलानां विशिष्टशक्ति परिणामेनावस्थानम् । स पुनर्जीवभावनिमित्तः । जीवभावः पुना रतिरागद्वेषमोहयुतः, मोहनीयविपाकसपादितविकार इत्यर्थः । तदत्र पुद्गलानां

गाथा १४८

अन्वयार्थः—[योगनिमित्तं ग्रहणम्] ग्रहणका (–कर्मग्रहणका) निमित्त योग है; [योगः मनोवचनकायसंभूतः] योग मनवचनकायजनित (आत्मप्रदेशपरिस्पंद) है । [भावनिमित्तः बंधः] बंधका निमित्त भाव है; [भावः रतिरागद्वेषमोहयुतः] भाव रतिरागद्वेषमोहसे युक्त (आत्मपरिणाम) है ।

टीकाः—यह, बंधके बहिरंग कारण और अंतरंग कारणका कथन है ।

ग्रहण अर्थात् कर्मपुद्गलोंका जीवप्रदेशवर्ती (–जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रमें स्थित) कर्मस्कन्धोंमें प्रवेश; उसका निमित्त योग है । योग अर्थात् वचनवर्गणा, मनोवर्गणा, कायवर्गणा और कर्मवर्गणाका जिसमें आलम्बन हो ऐसा आत्मप्रदेशोंका परिस्पंद (अर्थात् जीवके प्रदेशोंका कंपन) ।

बंध अर्थात् कर्मपुद्गलोंका विशिष्ट शक्तिरूप परिणाम सहित स्थित रहना (अर्थात् कर्मपुद्गलोंका अमुक अनुभागरूप शक्ति सहित अमुक काल तक टिकना); उसका निमित्त जीवभाव है । जीवभाव रतिरागद्वेषमोहयुक्त (परिणाम) है अर्थात् मोहनीयके विपाकसे उत्पन्न होनेवाला विकार है ।

छे योगहेतुक ग्रहण, मनवचकाय-आश्रित योग छे ।
छे भावहेतुक बंध, ने मोहादिसंयुत भाव छे ॥ १४८ ॥

ग्रहणहेतुत्वाद्बहिरंगकारणं योगः, विशिष्टशक्तिस्थितिहेतुत्वादन्तरङ्गकारणं जीवभाव एवेति ॥ १४८ ॥

हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१४९॥

हेतुश्चतुर्विकल्पोऽष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥ १४९ ॥

इसलिए यहाँ (बन्धमें), बहिरंग कारण (-निमित्त) योग है क्योंकि वह पुद्गलोंके ग्रहणका हेतु है, और अन्तरंग कारण (-निमित्त) जीवभाव ही है क्योंकि वह (कर्मपुद्गलोंकी) विशिष्ट शक्ति तथा स्थितिका हेतु है ।

भावार्थः—कर्मबन्धपर्यायके चार विशेष हैं : प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबंध । इसमें स्थिति-अनुभाग ही अत्यन्त मुख्य विशेष हैं, प्रकृति-प्रदेश तो अत्यन्त गौण विशेष हैं; क्योंकि स्थिति-अनुभागके विना कर्मबन्धपर्याय नाममात्र ही रहती है । इसलिए यहाँ प्रकृति-प्रदेशबंधका मात्र 'ग्रहण' शब्दसे कथन किया है और स्थिति-अनुभागबन्धका ही 'बन्ध' शब्दसे कथन है ।

जीवके किसी भी परिणाममें वर्तता हुआ योग कर्मके प्रकृति-प्रदेशका अर्थात् 'ग्रहण'का निमित्त होता है और जीवके उसी परिणाममें वर्तता हुआ मोहरागद्वेषभाव कर्मके स्थिति-अनुभागका अर्थात् 'बन्ध'का निमित्त होता है; इसलिए मोहरागद्वेषभावको 'बन्ध'का अन्तरंग कारण (अंतरंग निमित्त) कहा है और योगको—जो कि 'ग्रहण'का निमित्त है उसे—'बन्ध'का बहिरंग कारण (बाह्य निमित्त) कहा है ।१४८।

गाथा १४९

अन्वयार्थः—[चतुर्विकल्पः हेतुः] (द्रव्यमिथ्यात्वादि) चार प्रकारके हेतु [अष्टविकल्पस्य कारणम्] आठ प्रकारके कर्मोंके कारण [भणितम्] कहे गए हैं; [तेषाम् अपि च] उन्हें भी [रागादयः] (जीवके) रागादिभाव कारण हैं; [तेषाम् अभावे] रागादिभावोंके अभावमें [न बध्यन्ते] जीव नहीं बँधते ।

हेतु चतुर्विध अष्टविध कर्मो तणां कारण कह्या ।
तेनांय छे रागादि, ज्यां रागादि नहि त्यां बंध ना ॥१४९॥

मिथ्यात्वादिद्रव्यपर्यायाणामपि बहिरङ्गकारणद्योतनमेतत् । तन्त्रान्तरे किलाष्टविकल्पकर्मकारणत्वेन बन्धहेतुर्द्रव्यहेतुरूपश्चतुर्विकल्पः प्रोक्तः मिथ्यात्वासंयमकषाययोगा इति । तेषामपि जीवभावभूता रागादयो बन्धहेतुत्वस्य हेतवः, यतो रागादिभावानामभावे द्रव्यमिथ्यात्वासंयमकषाययोगसद्भावेऽपि जीवा न बध्यन्ते । ततो रागादीनामन्तरङ्गत्वान्निश्चयेन बन्धहेतुत्वमवसेयमिति ॥ १४९ ॥

—इति बन्धपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

अथ मोक्षपदार्थव्याख्यानम् ।

टीकाः—यह, मिथ्यात्वादि द्रव्यपर्यायोंको (—द्रव्यमिथ्यात्वादि पुद्गलपर्यायोंको) भी (बंधके) बहिरंग-कारणपनेका [1]प्रकाशन है ।

ग्रन्थान्तरमें (अन्य शास्त्रमें) मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग इन चार प्रकारके द्रव्यहेतुओंको (द्रव्यप्रत्ययोंको) आठ प्रकारके कर्मोंके कारणरूपसे बन्धहेतु कहे हैं । उन्हें भी बन्धहेतुपनेके हेतु जीवभावभूत रागादिक हैं; क्योंकि [2]रागादिभावोंका अभाव होनेसे द्रव्यमिथ्यात्व, द्रव्य-असंयम, द्रव्यकषाय और द्रव्ययोगके सद्भावमें भी जीव बँधते नहीं हैं । इसलिए रागादिभावोंको अन्तरंग बन्धहेतुपना होनेके कारण [3]निश्चयसे बन्धहेतुपना है ऐसा निर्णय करना ।१४९।

इसप्रकार बन्धपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

अब मोक्षपदार्थका व्याख्यान है ।

---

१. प्रकाशन=प्रसिद्ध करना; समझाना; दर्शाना ।

२. जीवगत रागादिरूप भावप्रत्ययोंका अभाव होनेसे द्रव्यप्रत्ययोंके विद्यमानपनेमें भी जीव बँधते नहीं हैं । यदि जीवगत रागादिभावोंके अभावमें भी द्रव्यप्रत्ययोंके उदयमात्रसे बन्ध हो तो सर्वदा बन्ध ही रहे (—मोक्षका अवकाश ही न रहे), क्योंकि संसारियोंको सदैव कर्मोदयका विद्यमानपना होता है ।

३. उदयगत द्रव्यमिथ्यात्वादि प्रत्ययोंकी भाँति रागादिभाव नवीन कर्मबन्धमें मात्र बहिरंग निमित्त नहीं हैं किन्तु वे तो नवीन कर्मबंधमें 'अन्तरंग निमित्त' हैं इसलिए उन्हें 'निश्चयसे बन्धहेतु' कहे हैं ।

हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो ॥१५०॥
कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।
पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं ॥१५१॥

हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणस्तु निरोधः ॥ १५० ॥
कर्मणामभावेन च सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च।
प्राप्नोतीन्द्रियरहितमव्याबाधं सुखमनन्तम् ॥ १५१ ॥

द्रव्यकर्ममोक्षहेतुपरमसंवररूपेण भावमोक्षस्वरूपाख्यानमेतत्। आस्रवहेतुर्हि जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावः। तदभावो भवति ज्ञानिनः। तदभावे भवत्यास्रवभावाभावः। आस्रव-

---

गाथा १५०–१५१

अन्वयार्थः—[हेत्वभावे] (मोहरागद्वेषरूप) हेतुका अभाव होनेसे [ज्ञानिनः] ज्ञानीको [नियमात्] नियमसे [आस्रवनिरोधः जायते] आस्रवका निरोध होता है [तु] और [आस्रवभावेन विना] आस्रवभावके अभावमें [कर्मणः निरोधः जायते] कर्मका निरोध होता है। [च] और [कर्मणाम् अभावेन] कर्मोंका अभाव होनेसे वह [सर्वज्ञःसर्वलोकदर्शी च] सर्वज्ञ तथा सर्वलोकदर्शी होता हुआ [इन्द्रियरहितम्] इन्द्रिय रहित, [अव्याबाधम्] अव्याबाध, [अनन्तम् सुखम् प्राप्नोति] अनन्त सुखको प्राप्त करता है।

टीकाः—यह, [1]द्रव्यकर्ममोक्षके हेतुभूत परम-संवररूपसे भावमोक्षके स्वरूपका कथन है।

---

१. द्रव्यकर्ममोक्ष=द्रव्यकर्मका सर्वथा छूट जाना; द्रव्यमोक्ष। (यहाँ भावमोक्षका स्वरूप द्रव्यमोक्षके निमित्तभूत परम-संवररूपसे दर्शाया है।)

हेतु-अभावे नियमथी आस्रवनिरोधन ज्ञानीने।
आसरवभाव-अभावमां कर्मो तणुं रोधन बने ॥१५०॥
कर्मो-अभावे सर्वज्ञानी सर्वदर्शी थाय छे।
ने अक्षरहित, अनंत, अव्याबाध सुखने ते लहे ॥१५१॥

भावाभावे भवति कर्माभावः। कर्माभावेन भवति सार्वज्ञं सर्वदर्शित्वमव्याबाधमिन्द्रिय-व्यापारातीतमनन्तसुखत्वं चेति। स एष जीवन्मुक्तिनामा भावमोक्षः। कथमिति चेत्। भावः खल्वत्र विवक्षितः कर्मावृतचैतन्यस्य क्रमप्रवर्तमानज्ञप्तिक्रियारूपः। स खलु संसारिणोऽनादिमोहनीयकर्मोदयानुवृत्तिवशादशुद्धो द्रव्यकर्मास्रवहेतुः। स तु ज्ञानिनो मोहरागद्वेषानुवृत्तिरूपेण प्रहीयते। ततोऽस्य आस्रवभावो निरुध्यते। ततो निरुद्धास्रवभावस्यास्य मोहक्षयेणात्यन्तनिर्विकारमनादिमुद्रितानन्तचैतन्यवीर्यस्य शुद्धज्ञप्तिक्रियारूपेणान्तर्मुहूर्तमतिवाह्य युगपज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयेण कथञ्चित् कूटस्थज्ञानत्वमवाप्य ज्ञप्तिक्रियारूपे क्रमप्रवृत्त्य-

---

आस्रवका हेतु वास्तवमें जीवका मोहरागद्वेषरूप भाव है। ज्ञानीको उसका अभाव होता है। उसका अभाव होनेसे आस्रवभावका अभाव होता है। आस्रवभावका अभाव होनेसे कर्मका अभाव होता है। कर्मका अभाव होनेसे सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध, [१]इन्द्रियव्यापारातीत, अनन्त सुख होता है। सो यह [२]जीवन्मुक्ति नामका भावमोक्ष है। 'किसप्रकार?' ऐसा प्रश्न किया जाए तो निम्नानुसार स्पष्टीकरण है:—

यहाँ जो 'भाव' [३]विवक्षित है वह कर्मावृत (कर्मसे आवृत हुए) चैतन्यकी क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप है। वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) वास्तवमें संसारीको अनादि कालसे मोहनीयकर्मके उदयका अनुसरण करती हुई परिणतिके कारण अशुद्ध है, द्रव्यकर्मास्रवका हेतु है। परन्तु वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) ज्ञानीको मोहरागद्वेषवाली परिणतिरूपसे हानिको प्राप्त होता है इसलिए उसे आस्रवभावका निरोध होता है। इसलिए जिसे आस्रवभावका निरोध हुआ है ऐसे उस ज्ञानीको मोहक्षय द्वारा अत्यन्त निर्विकारपना होनेसे, जिसे अनादि कालसे अनन्त चैतन्य और (अनंत) वीर्य मुँद गया है ऐसा वह ज्ञानी (क्षीणमोह गुणस्थानमें) शुद्ध ज्ञप्तिक्रियारूपसे अंतर्मुहूर्त व्यतीत करके युगपद् ज्ञानावरण,

---

१. इन्द्रियव्यापारातीत=इन्द्रियव्यापार रहित।

२. जीवन्मुक्ति=जीवित रहते हुए मुक्ति; देह होने पर भी मुक्ति।

३. विवक्षित=जिसका कथन करना है।

भावाद्भावकर्म विनश्यति । ततः कर्माभावे स हि भगवान्सर्वज्ञः सर्वदर्शी व्युपरतेन्द्रियव्यापारा-व्याबाधानन्तसुखश्च नित्यमेवावतिष्ठते । इत्येष भावकर्ममोक्षप्रकारः द्रव्यकर्ममोक्षहेतुः परम-संवरप्रकारश्च ॥ १५०–१५१ ॥

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

दर्शनज्ञानसमग्रं ध्यानं नो अन्यद्रव्यसंयुक्तम् ।
जायते निर्जराहेतुः स्वभावसहितस्य साधोः ॥१५२॥

दर्शनावरण और अंतरायका क्षय होनेसे कथंचित् [1]कूटस्थ ज्ञानको प्राप्त करता है और इसप्रकार उसे ज्ञप्तिक्रियाके रूपमें क्रमप्रवृत्तिका अभाव होनेसे भावकर्मका विनाश होता है। इसलिए कर्मका अभाव होने पर वह वास्तवमें भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियव्यापारातीत–अव्याबाध–अनंतसुखवाला सदैव रहता है।

इसप्रकार यह (जो यहाँ कहा है), [2]भावकर्ममोक्षका [3]प्रकार तथा द्रव्यकर्ममोक्षका हेतुभूत परम संवरका प्रकार है। १५०–१५१।

गाथा १५२

अन्वयार्थः—[स्वभावसहितस्य साधोः] स्वभावसहित साधुको (–स्वभाव-परिणत केवलीभगवानको) [दर्शनज्ञानसमग्रं] दर्शनज्ञानसे सम्पूर्ण और [नो अन्य-द्रव्यसंयुक्तम्] अन्यद्रव्यसे असंयुक्त ऐसा [ध्यानं] ध्यान [निर्जराहेतुः जायते] निर्जराका हेतु होता है।

---

१. कूटस्थ=सर्व काल एकरूप रहनेवाला; अचल। [ज्ञानावरणादि घातिकर्मोंका नाश होने पर ज्ञान कहीं सर्वथा अपरिणामी नहीं हो जाता; परन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयोंको जाननेरूप परिवर्तित नहीं होता—सर्वदा तीनों कालके समस्त ज्ञेयों को जानता रहता है, इसलिए उसे कथंचित् कूटस्थ कहा है।]

२. भावकर्ममोक्ष=भावकर्मका सर्वथा छूट जाना; भावमोक्ष। ज्ञप्तिक्रियामें क्रमप्रवृत्तिका अभाव होना वह भावमोक्ष है अथवा सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपनेकी और अनन्तानन्दमयपनेकी प्रगटता वह भावमोक्ष है।)

३. प्रकार=स्वरूप; रीति।

दृगज्ञानथी परिपूर्ण ने परद्रव्यविरहित ध्यान जे।
ते निर्जरानो हेतु थाय स्वभाव परिणत साधुने ॥ १५२ ॥

द्रव्यकर्ममोक्षहेतुपरमनिर्जराकारणध्यानाख्यानमेतत् । एवमस्य खलु भावमुक्तस्य भगवतः केवलिनः स्वरूपतृप्तत्वाद्विश्रान्तसुखदुःखकर्मविपाककृतविक्रियस्य प्रक्षीणावरणत्वादनन्तज्ञानदर्शनसंपूर्णशुद्धज्ञानचेतनामयत्वादतीन्द्रियत्वात् चान्यद्रव्यसंयोगवियुक्तं शुद्धस्वरूपेऽविचलितचैतन्यवृत्तिरूपत्वात्कथञ्चिद्ध्यानव्यपदेशार्हमात्मनः स्वरूपं पूर्वसंचितकर्मणां शक्तिशातनं पतनं वा विलोक्य निर्जराहेतुत्वेनोपवर्ण्यत इति ॥ १५२ ॥

टीकाः—यह, द्रव्यकर्ममोक्षके हेतुभूत ऐसी परम निर्जराके कारणभूत ध्यानका कथन है ।

इसप्रकार वास्तवमें यह (–पूर्वोक्त) भावमुक्त (–भावमोक्षवाले) भगवान केवलीको—कि जिन्हें स्वरूपतृप्तपनेके कारण [1]कर्मविपाककृत सुखदुःखरूप विक्रिया अटक गई है उन्हें—आवरणके प्रक्षीणपनेके कारण, अनन्त ज्ञानदर्शनसे सम्पूर्ण शुद्धज्ञानचेतनामयपनेके कारण तथा अतीन्द्रियपनेके कारण जो अन्यद्रव्यके संयोग रहित है और शुद्ध स्वरूपमें अविचलित चैतन्यवृत्तिरूप होनेके कारण जो 'कथंचित् 'ध्यान' नामके योग्य है ऐसा आत्माका स्वरूप (–आत्माकी निज दशा) पूर्वसंचित कर्मोंकी शक्तिका [2]शातन अथवा उनका [3]पतन देखकर निर्जराके हेतुरूपसे वर्णन किया जाता है ।

भावार्थः—केवलीभगवानके आत्माकी दशा ज्ञानदर्शनावरणके क्षयवाली होनेके कारण, शुद्धज्ञानचेतनामय होनेके कारण तथा इन्द्रियव्यापारादि बहिर्द्रव्यके आलम्बन रहित होनेके कारण अन्यद्रव्यके संसर्ग रहित है और शुद्धस्वरूपमें निश्चल चैतन्यपरिणतिरूप होनेके कारण किसी प्रकार 'ध्यान' नामके योग्य है । उनकी ऐसी आत्मदशाका निर्जराके निमित्तरूपसे वर्णन किया जाता है क्योंकि उन्हें पूर्वोपार्जित कर्मोंकी शक्ति हीन होती जाती है तथा वे कर्म खिरते जाते हैं ।१५२।

---

१. केवलीभगवान निर्विकार–परमानन्दस्वरूप स्वात्मोत्पन्न सुखसे तृप्त हैं इसलिए कर्मका विपाक जिसमें निमित्तभूत होता है ऐसी सांसारिक सुखदुःखरूप (–हर्षविषादरूप) विक्रिया उन्हें विरामको प्राप्त हुई है ।

२. शातन=पतला होना; हीन होना; क्षीण होना ।

३. पतन=नाश; गलन; खिर जाना ।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ।।१५३।।

यः संवरेण युक्तो निर्जरन्नथ सर्वकर्माणि ।
व्यपगतवेद्यायुष्को मुञ्चति भवं तेन स मोक्षः ।।१५३।।

द्रव्यमोक्षस्वरूपाख्यानमेतत् । अथ खलु भगवतः केवलिनो भावमोक्षे सति प्रसिद्धपरमसंवरस्योत्तरकर्मसन्ततौ निरुद्धायां परमनिर्जराकारणध्यानप्रसिद्धौ सत्यां पूर्वकर्मसंततौ कदाचित्स्वभावेनैव कदाचित्समुद्घातविधानेनायुःकर्मसमभूतस्थित्यामायुःकर्मानुसारेणैव

गाथा १५३

अन्वयार्थः—[यः संवरेण युक्तः] जो संवरसे युक्त है ऐसा (केवलज्ञानप्राप्त) जीव [निर्जरन् अथ सर्वकर्माणि] सर्व कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ [व्यपगतवेद्यायुष्कः] वेदनीय और आयु रहित होकर [भवं मुञ्चति] भवको छोड़ता है; [तेन] इसलिए (इसप्रकार सर्व कर्मपुद्गलोंका वियोग होनेके कारण) [सः मोक्षः] वह मोक्ष है ।

टीकाः—यह, द्रव्यमोक्षके स्वरूपका कथन है ।

वास्तवमें केवलीभगवानको, भावमोक्ष होने पर, परम संवर सिद्ध होनेके कारण [1]उत्तर कर्मसंतति निरोधको प्राप्त होकर और परम निर्जराके कारणभूत ध्यान सिद्ध होनेके कारण [2]पूर्व कर्मसंतति—कि जिसकी स्थिति कदाचित् स्वभावसे ही आयुकर्मके जितनी होती है और कदाचित् [3] समुद्घातविधानसे आयुकर्मके जितनी

---

१. उत्तर कर्मसंतति=बादका कर्मप्रवाह; भावी कर्मपरम्परा ।

२. पूर्व=पहले की ।

३. केवलीभगवानको वेदनीय, नाम और गोत्रकर्मकी स्थिति कभी स्वभावसे ही (अर्थात् केवलीसमुद्घातरूप निमित्त हुए विना ही) आयुकर्मके जितनी होती है और कभी उन तीन कर्मोंकी स्थिति आयुकर्मसे अधिक होने पर भी वह स्थिति घटकर आयुकर्म जितनी होनेमें केवलीसमुद्घात निमित्त बनता है ।

संवरसहित ते जीव पूर्व समस्त कर्मो निर्जरे ।
ने आयुवेधविहीन थई भवने तजे; ते मोक्ष छे ।।१५३।।

निर्जीर्यमाणायामपुनर्भवाय तद्भवत्यागसमये वेदनीयायुर्नामगोत्ररूपाणां जीवेन सहात्यन्तविश्लेषः कर्मपुद्गलानां द्रव्यमोक्षः ।।१५३।।

—इति मोक्षपदार्थव्याख्यानं समाप्तम् ।

समाप्तं च मोक्षमार्गावयवरूपसम्यग्दर्शनज्ञानविषयभूतनवपदार्थव्याख्यानम् ।।

* * *

अथ मोक्षमार्गप्रपञ्चसूचिका चूलिका ।

जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अणण्णमयं ।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं ।।१५४।।

होती है वह—आयुकर्मके अनुसार ही निर्जरित होती हुई, [1]अपुनर्भवके लिए वह भव छूटनेके समय होनेवाला जो वेदनीय-आयु-नाम-गोत्ररूप कर्मपुद्गलोंका जीवके साथ अत्यन्त विश्लेष (वियोग) वह द्रव्यमोक्ष है ।१५३।

इसप्रकार मोक्षपदार्थका व्याख्यान समाप्त हुआ ।

और मोक्षमार्गके अवयवरूप सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके विषयभूत नव पदार्थोंका व्याख्यान भी समाप्त हुआ ।

* * *

अब [2]मोक्षमार्गप्रपंचसूचक [3]चूलिका है ।

---

१. अपुनर्भव=फिरसे भव नहीं होना । (केवलीभगवानको फिरसे भव हुए विना ही उस भवका त्याग होता है; इसलिए उनके आत्मासे कर्मपुद्गलोंका सदाके लिए सर्वथा वियोग होता है ।)

२. मोक्षमार्गप्रपंचसूचक=मोक्षमार्गका विस्तार बतलानेवाली; मोक्षमार्गका विस्तारसे कथन करनेवाली ।

३. चूलिकाके अर्थके लिए पृष्ठ १५१ की टिप्पणी देखें ।

आत्मस्वभाव अनन्यमय निर्विघ्न दर्शन ज्ञान छे ।
दृग्ज्ञान नियत अनिंद्य जे अस्तित्व ते चारित्र छे ।।१५४।।

जीवस्वभावं ज्ञानमप्रतिहतदर्शनमनन्यमयम् ।
चारित्रं च तयोर्नियतमस्तित्वमनिन्दितं भणितम् ॥१५४॥

मोक्षमार्गस्वरूपाख्यानमेतत् । जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्गः । जीवस्वभावो हि ज्ञानदर्शने अनन्यमयत्वात् । अनन्यमयत्वं च तयोर्विशेषसामान्यचैतन्यस्वभावजीवनिर्वृत्तत्वात् । अथ तयोर्जीवस्वरूपभूतयोर्ज्ञानदर्शनयोर्यन्नियतमवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपवृत्तिमयमस्तित्वं रागादिपरिणत्यभावादनिन्दितं तच्चरितं; तदेव मोक्षमार्ग इति । द्विविधं हि किल संसारिषु चरितं—स्वचरितं परचरितं च; स्वसमयपरसमयावित्यर्थः । तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं

गाथा १५४

अन्वयार्थः—[जीवस्वभावं] जीवका स्वभाव [ज्ञानम्] ज्ञान और [अप्रतिहतदर्शनम्] अप्रतिहत दर्शन है—[अनन्यमयम्] जो कि (जीवसे) अनन्यमय हैं । [तयोः] उन ज्ञानदर्शनमें [नियतम्] नियत [अस्तित्वम्] अस्तित्व—[अनिन्दितं] जो कि अनिंदित है—[चारित्रं च भणितम्] उसे (जिनेन्द्रोंने) चारित्र कहा है ।

टीकाः—यह, मोक्षमार्गके स्वरूपका कथन है ।

जीवस्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है । जीवस्वभाव वास्तवमें ज्ञानदर्शन हैं क्योंकि वे (जीवसे) अनन्यमय हैं । ज्ञानदर्शनका (जीवसे) अनन्यमयपना होनेका कारण यह है कि [1]विशेषचैतन्य और सामान्य चैतन्य जिसका स्वभाव है ऐसे जीवसे वे निष्पन्न हैं (अर्थात् जीवद्वारा ज्ञानदर्शन रचे गए हैं) । अब जीवके स्वरूपभूत ऐसे उन ज्ञानदर्शनमें [2]नियत—अवस्थित ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप [3]वृत्तिमय अस्तित्व—जो कि रागादिपरिणामके अभावके कारण अनिंदित है—वह चारित्र है; वही मोक्षमार्ग है ।

संसारियोंमें चारित्र वास्तवमें दो प्रकारका है:—(१) स्वचारित्र और (२) परचारित्र; (१) स्वसमय और (२) परसमय ऐसा अर्थ है । वहाँ, स्वभावमें अवस्थित अस्तित्वस्वरूप (चारित्र) वह स्वचारित्र है और परभावमें

---

१. विशेषचैतन्य वह ज्ञान है और सामान्यचैतन्य वह दर्शन है ।

२. नियत=अवस्थित; स्थित; स्थिर; दृढ़रूप स्थित ।

३. वृत्ति=वर्तना; होना । [उत्पादव्ययध्रौव्यरूप वृत्ति वह अस्तित्व है ।]

स्वचरितं, परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम् । तत्र यत्स्वभावावस्थितास्तित्वरूपं परभावावस्थितास्तित्वव्यावृत्तत्वेनात्यन्तमनिन्दितं तदत्र साक्षान्मोक्षमार्गत्वेनावधारणीयमिति ॥ १५४ ॥

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमओ ।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१५५॥

जीवः स्वभावनियतः अनियतगुणपर्यायोऽथ परसमयः ।
यदि कुरुते स्वकं समयं प्रभ्रस्यति कर्मवन्धात् ॥ १५५ ॥

अवस्थित अस्तित्वस्वरूप (चारित्र) वह परचारित्र है । उसमेंसे (अर्थात् दो प्रकारके चारित्रमेंसे), स्वभावमें अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र—जो कि परभावमें अवस्थित अस्तित्वसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त अनिंदित है वह—यहाँ साक्षात् मोक्षमार्गरूप अवधारना ।

[यही चारित्र 'परमार्थ' शब्दसे वाच्य ऐसे मोक्षका कारण है, अन्य नहीं—ऐसा न जानकर, मोक्षसे भिन्न ऐसे असार संसारके कारणभूत मिथ्यात्वरागादिमें लीन वर्तते हुए अपना अनंत काल गया; ऐसा जानकर उसी जीवस्वभावनियत चारित्रकी—जो कि मोक्षके कारणभूत है उसकी—निरन्तर भावना करना योग्य है । इसप्रकार सूत्रतात्पर्य है ।] । १५४ ।

गाथा १५५

अन्वयार्थः—[जीवः] जीव, [स्वभावनियतः] (द्रव्य-अपेक्षासे) स्वभावनियत होने पर भी, [अनियतगुणपर्यायः अथ परसमयः] यदि अनियत गुणपर्यायवाला हो तो परसमय है । [यदि] यदि वह [स्वकं समयं कुरुते] (नियत गुणपर्यायसे परिणमित होकर) स्वसमयको करता है तो [कर्मबन्धात्] कर्मवन्धसे [प्रभ्रस्यति] छूटता है ।

निजभावनियत अनियत गुणपर्ययपणे परसमय छे ।
ते जो करे स्वकसमयने तो कर्मबंधनथी छूटे ॥ १५५ ॥

स्वसमयपरसमयोपादानव्युदासपुरस्सरकर्मक्षयद्वारेण जीवस्वभावनियतचरितस्य मोक्षमार्गत्वद्योतनमेतत् । संसारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्याप्यनादि-मोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सतः समुपात्तभाववैश्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमयः परचरितमिति यावत् । तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्यत्वान्नियतगुणपर्यायत्वं स्वसमयः स्वचरितमिति यावत् । अथ खलु यदि कथञ्चनोद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिर्जीवः परसमयं व्युदस्य स्वसमयमुपादत्ते तदा कर्मबन्धादवश्यं भ्रश्यति । यतो हि जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्ग इति ॥१५५॥

टीका:—स्वसमयके ग्रहण और परसमयके त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है—ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ (इस गाथामें) "जीवस्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है" ऐसा दर्शाया है । संसारी जीव, (द्रव्य-अपेक्षासे) ज्ञानदर्शनमें अवस्थित होनेके कारण स्वभावमें नियत (-निश्चलरूपसे स्थित) होने पर भी, जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करके परिणति करनेके कारण [1]उपरक्त उपयोगवाला (-अशुद्ध उपयोगवाला) होता है तब (स्वयं) भावोंका विश्वरूपपना (-अनेकरूपपना) ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो [2]अनियतगुणपर्यायपना होता है वह परसमय अर्थात् परचारित्र है; वही (जीव) जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिको छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है तब (स्वयं) भावका एकरूपपना ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो [3]नियतगुणपर्यायपना होता है वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है ।

अब, वास्तवमें यदि किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञानज्योति प्रगट करके जीव परसमयको छोड़कर स्वसमयको ग्रहण करता है तो कर्मबन्धसे अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तवमें (ऐसा निश्चित होता है कि) जीवस्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है ।१५५।

---

१. उपरक्त=उपरागयुक्त । [किसी पदार्थमें होनेवाला, अन्य उपाधिके अनुरूप विकार (अर्थात् अन्य उपाधि जिसमें निमित्तभूत होती है ऐसी औपाधिक विकृति—मलिनता—अशुद्धि) वह उपराग है ।]

२. अनियत=अनिश्चित; अनेकरूप; विविध प्रकारके ।

३. नियत=निश्चित; एकरूप; अमुक एक ही प्रकारके ।

जो परदव्वम्हि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं ।
सो सगचरित्तभट्ठो परचरियचरो हवदि जीवो ॥ १५६ ॥

यः परद्रव्ये शुभमशुभं रागेण करोति यदि भावम् ।
स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरितचरो भवति जीवः ॥ १५६ ॥

परचरितप्रवृत्तस्वरूपाख्यानमेतत् । यो हि मोहनीयोदयानुवृत्तिवशाद्रज्यमानोपयोगः सन् परद्रव्ये शुभमशुभं वा भावमादधाति, स स्वकचरित्रभ्रष्टः परचरित्रचर इत्युपगीयते; यतो हि स्वद्रव्ये शुद्धोपयोगवृत्तिः स्वचरितं, परद्रव्ये सोपरागोपयोगवृत्तिः परचरितमिति ॥१५६॥

गाथा १५६

अन्वयार्थः—[यः] जो [रागेण] रागसे (—रंजित अर्थात् मलिन उपयोगसे) [परद्रव्ये] परद्रव्यमें [शुभम् अशुभम् भावम्] शुभ या अशुभ भाव [यदि करोति] करता है, [सः जीवः] वह जीव [स्वकचरित्रभ्रष्टः] स्वचारित्रभ्रष्ट ऐसा [परचरितचरः भवति] परचारित्रका आचरण करनेवाला है ।

टीकाः—यह, परचारित्रमें प्रवर्तन करनेवालेके स्वरूपका कथन है ।

जो (जीव) वास्तवमें मोहनीयके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिके वश (अर्थात् मोहनीयके उदयका अनुसरण करके परिणमित होनेके कारण) रंजितउपयोगवाला (उपरक्त-उपयोगवाला) वर्तता हुआ, परद्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको धारण करता है, वह (जीव) स्वचारित्रसे भ्रष्ट ऐसा परचारित्रका आचरण करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि वास्तवमें स्वद्रव्यमें शुद्ध-उपयोगरूप परिणति वह स्वचारित्र है और परद्रव्यमें [1]सोपराग-उपयोगरूप परिणति वह परचारित्र है ।१५६।

---

१. सोपराग=उपरागयुक्त; उपरक्त; मलिन; विकारी; अशुद्ध । [उपयोगमें होनेवाला, कर्मोदयरूप उपाधिके अनुरूप विकार (अर्थात् कर्मोदयरूप उपाधि जिसमें निमित्तभूत होती है ऐसी औपाधिक विकृति) सो उपराग है ।]

जे रागथी परद्रव्यमां करतो शुभाशुभ भावने ।
ते स्वकचरित्रथी भ्रष्ट, परचरित्र आचरनार छे ॥१५६॥

आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणोध भावेण ।
सो तेण परचरित्तो हवदि त्ति जिणा परूवेंति ॥१५७॥

आस्रवति येन पुण्यं पापं वात्मनोऽथ भावेन ।
स तेन परचरित्रः भवतीति जिनाः प्ररूपयन्ति ॥१५७॥

परचरितप्रवृत्तेर्बन्धहेतुत्वेन मोक्षमार्गत्वनिषेधनमेतत् । इह किल शुभोपरक्तो भावः पुण्यास्रवः, अशुभोपरक्तः पापास्रव इति । तत्र पुण्यं पापं वा येन भावेनास्रवति यस्य जीवस्य यदि स भावो भवति स जीवस्तदा तेन परचरित इति प्ररूप्यते । ततः परचरितप्रवृत्तिर्बन्धमार्ग एव, न मोक्षमार्ग इति ॥१५७॥

गाथा १५७

अन्वयार्थः—[येन भावेन] जिस भावसे [आत्मनः] आत्माको [पुण्यं पापं वा] पुण्य अथवा पाप [अथ आस्रवति] आस्रवित होते हैं, [तेन] उस भाव द्वारा [सः] वह (जीव) [परचरित्रः भवति] परचारित्र है—[इति] ऐसा [जिनाः] जिन [प्ररूपयन्ति] प्ररूपित करते हैं ।

टीकाः—यहाँ, परचारित्रवृत्ति बंधहेतुभूत होनेसे उसे मोक्षमार्गपनेका निषेध किया गया है (अर्थात् परचारित्रमें प्रवर्तन बंधका हेतु होनेसे वह मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा इस गाथामें दर्शाया है) ।

यहाँ वास्तवमें शुभोपरक्त भाव (–शुभरूप विकारी भाव) वह पुण्यास्रव है और अशुभोपरक्त भाव (–अशुभरूप विकारी भाव) पापास्रव है । वहाँ, पुण्य अथवा पाप जिस भावसे आस्रवित होते हैं, वह भाव जब जिस जीवको हो तब वह जीव उस भाव द्वारा परचारित्र है—ऐसा (जिनेन्द्रों द्वारा) प्ररूपित किया जाता है । इसलिए (ऐसा निश्चित होता है कि) परचारित्रमें प्रवृत्ति सो बंधमार्ग ही है, मोक्षमार्ग नहीं है ।१५७।

रे ! पुण्य अथवा पाप जीवने आस्रवे जे भावथी ।
तेना वडे ते 'परचरित' निर्दिष्ट छे जिनदेवथी ॥१५७॥

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

यः सर्वसङ्गमुक्तः अनन्यमनाः आत्मानं स्वभावेन ।
ज्ञानाति पश्यति नियतं सः स्वकचरितं चरति जीवः ॥१५८॥

स्वचरितप्रवृत्तस्वरूपाख्यानमेतत् । यः खलु निरुपरागोपयोगत्वात्सर्वसङ्गमुक्तः परद्रव्यव्यावृत्तोपयोगत्वादनन्यमनाः आत्मानं स्वभावेन ज्ञानदर्शनरूपेण जानाति पश्यति

गाथा १५८

अन्वयार्थः—[यः] जो [सर्वसङ्गमुक्तः] सर्वसंगमुक्त और [अनन्यमनाः] अनन्यमनवाला वर्तता हुआ [आत्मानं] आत्माको [स्वभावेन] (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभावद्वारा [नियतं] नियतरूपसे (–स्थिरतापूर्वक) [जानाति पश्यति] जानता—देखता है [सः जीवः] वह जीव [स्वकचरितं] स्वचारित्र [चरति] आचरता है ।

टीका:—यह, स्वचारित्रमें प्रवर्तन करनेवालेके स्वरूपका कथन है ।

जो (जीव) वास्तवमें [1]निरुपराग उपयोगवाला होनेके कारण सर्वसंगमुक्त वर्तता हुआ, परद्रव्यसे [2]व्यावृत्त उपयोगवाला होनेके कारण [3]अनन्यमनवाला वर्तता हुआ, आत्माको ज्ञानदर्शनरूप स्वभाव द्वारा नियतरूपसे अर्थात् अवस्थितरूपसे जानता-

---

१. निरुपराग=उपराग रहित; निर्मल; अविकारी; शुद्ध । [निरुपराग उपयोगवाला जीव समस्त बाह्य-अभ्यन्तर संगसे शून्य है तथापि निःसंग परमात्माकी भावना द्वारा उत्पन्न सुन्दरआनन्द-स्यन्दी परमानन्दस्वरूप सुखसुधारसके आस्वादसे, पूर्ण कलशकी भाँति, सर्व आत्मप्रदेशमें भरपूर होता है ।]

२. व्यावृत्त=विमुख हुआ; पृथक् हुआ; निवृत्त हुआ; निवृत्त; भिन्न ।

३. अनन्यमनवाला=जिसकी परिणति अन्यके प्रति नहीं ऐसा ।
[मन=चित्त; परिणति; भाव ।]

सौ-संगमुक्त अनन्यचित्त स्वभावथी निज आत्मने ।
जाणे अने देखे नियत रही, ते स्वचरितप्रवृत्त छे ॥१५८॥

नियतमवस्थितत्वेन, स खलु स्वकं चरितं चरति जीवः । यतो हि दृशिज्ञप्तिस्वरूपे पुरुषे तन्मात्रत्वेन वर्तनं स्वचरितमिति ॥ १५८ ॥

चरियं चरदि सगं सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा ।
दंसणणाणवियप्पं अवियप्पं चरदि अप्पादो ॥१५९॥

चरितं चरति स्वकं स यः परद्रव्यात्मभावरहितात्मा ।
दर्शनज्ञानविकल्पमविकल्पं चरत्यात्मनः ॥ १५९ ॥

शुद्धस्वचरितप्रवृत्तिपथप्रतिपादनमेतत् । यो हि योगीन्द्रः समस्तमोहव्यूहबहि-

---

देखता है; वह जीव वास्तवमें स्वचारित्र आचरता है; क्योंकि वास्तवमें [1]दृशिज्ञप्तिस्वरूप पुरुषमें (–आत्मामें) तन्मात्ररूपसे वर्तना सो स्वचारित्र है ।

भावार्थः—जो जीव शुद्धोपयोगी वर्तता हुआ और जिसकी परिणति परकी ओर नहीं जाती ऐसा वर्तता हुआ, आत्माको स्वभावभूत ज्ञानदर्शनपरिणाम द्वारा स्थिरतापूर्वक जानता-देखता है, वह जीव स्वचारित्रका आचरण करनेवाला है; क्योंकि दृशिज्ञप्तिस्वरूप आत्मामें मात्रदृशिज्ञप्तिरूपसे परिणमित होकर रहना वह स्वचारित्र है । १५८ ।

गाथा १५९

अन्वयार्थः—[यः] जो [परद्रव्यात्मभावरहितात्मा] परद्रव्यात्मक भावोंसे रहित स्वरूपवाला वर्तता हुआ, [दर्शनज्ञानविकल्पम्] (निजस्वभावभूत) दर्शन-ज्ञानरूप भेदको [आत्मनः अविकल्पं] आत्मासे अभेदरूप [चरति] आचरता है, [सः] वह [स्वकं चरितं चरति] स्वचारित्रको आचरता है ।

टीकाः—यह, शुद्ध स्वचारित्रप्रवृत्तिके मार्गका कथन है ।

---

१. दृशि=दर्शनक्रिया; सामान्य अवलोकन ।

ते छे स्वचरितप्रवृत्त, जे परद्रव्यथी विरहितपणे ।
निज ज्ञानदर्शनभेदने जीवथी अभिन्न ज आचरे ॥ १५९ ॥

भूतत्वात्परद्रव्यस्वभावभावरहितात्मा सन्, स्वद्रव्यमेकमेवाभिमुख्येनानुवर्तमानः स्वस्वभावभूतं दर्शनज्ञानविकल्पमप्यात्मनोऽविकल्पत्वेन चरति, स खलु स्वकं चरितं चरति। एवं हि शुद्धद्रव्याश्रितमभिन्नसाध्यसाधनभावं निश्चयनयमाश्रित्य मोक्षमार्गप्ररूपणम्। यच्चु पूर्वमुद्दिष्टं तत्स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्य प्ररूपितम्। न

जो योगीन्द्र, समस्त [1]मोहव्यूहसे बहिर्भूत होनेके कारण परद्रव्यके स्वभावरूप भावोंसे रहित स्वरूपवाले वर्तते हुए, स्वद्रव्यको एकको ही अभिमुखरूपसे अनुसरते हुए निजस्वभावभूत दर्शनज्ञानभेदको भी आत्मासे अभेदरूपसे आचरते हैं, वे वास्तवमें स्वचारित्रको आचरते हैं।

इसप्रकार वास्तवमें [2]शुद्धद्रव्यके आश्रित, [3]अभिन्नसाध्यसाधनभाववाले निश्चयनयके आश्रयसे मोक्षमार्गका प्ररूपण किया गया। और जो पहले (१०७ वीं गाथामें) दर्शाया गया था वह [4]स्वपरहेतुक पर्यायके आश्रित, [5]भिन्नसाध्यसाधनभाववाले

---

१. मोहव्यूह=मोहसमूह। [जिनमुनीन्द्रने समस्त मोहसमूहका नाश किया होनेसे 'अपना स्वरूप पर द्रव्यके स्वभावरूप भावोंसे रहित है' ऐसी प्रतीति और ज्ञान जिन्हें वर्तता है, तथा तदुपरान्त जो मात्र स्वद्रव्यमें ही निर्विकल्परूपसे अत्यन्त लीन होकर निजस्वभावभूत दर्शनज्ञानभेदोंको आत्मासे अभेदरूपसे आचरते हैं, वे मुनीन्द्र स्वचारित्रका आचरण करनेवाले हैं।]

२. यहाँ निश्चयनयका विषय शुद्धद्रव्य अर्थात् शुद्धपर्यायपरिणत द्रव्य है, अर्थात् अकेले द्रव्यकी (–पर निमित्त रहित) शुद्धपर्याय है; जैसे कि, निर्विकल्प शुद्धपर्यायपरिणत मुनिको निश्चयनयसे मोक्षमार्ग है।

३. जिस नयमें साध्य और साधन अभिन्न (अर्थात् एक प्रकारके) हों वह यहाँ निश्चयनय है जैसे कि, निर्विकल्पध्यानपरिणत (–शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानचारित्रपरिणत) मुनिको निश्चयनयसे मोक्षमार्ग है क्योंकि वहाँ (मोक्षरूप) साध्य और (मोक्षमार्गरूप) साधन एक प्रकारके अर्थात् शुद्धात्मरूप (–शुद्धात्मपर्यायरूप) हैं।

४. जिन पर्यायोंमें स्व तथा पर कारण होते हैं अर्थात् उपादानकारण तथा निमित्तकारण होते हैं वे पर्यायें स्वपरहेतुक पर्यायें हैं; जैसे कि छठवें गुणस्थानमें (द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपके आंशिक अवलम्बन सहित) वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान (नवपदार्थगत श्रद्धान), तत्त्वार्थज्ञान (नवपदार्थगत ज्ञान) और पंचमहाव्रतादिरूप चारित्र—यह सब स्वपरहेतुक पर्यायें हैं। वे यहाँ व्यवहारनयके विषयभूत हैं।

५. जिस नयमें साध्य तथा साधन भिन्न हों (-भिन्न प्ररूपित किए जाएँ) वह यहाँ व्यवहारनय है; जैसे कि, छठवें गुणस्थानमें (द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपके आंशिक आलम्बन सहित) वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान (नवपदार्थसम्बन्धी श्रद्धान), तत्त्वार्थज्ञान और पंचमहाव्रतादि-रूप चारित्र व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग है क्योंकि (मोक्षरूप) साध्य स्वहेतुक पर्याय है और (तत्त्वार्थश्रद्धानादिमय मोक्षमार्गरूप) साधन स्वपरहेतुक पर्याय है।

चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्यसाधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत् । अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनेति ॥ १५९ ॥

व्यवहारनयके आश्रयसे (–व्यवहारनयकी अपेक्षा से) प्ररूपित किया गया था । इसमें परस्पर विरोध आता है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और [1]सुवर्णपाषाणकी भाँति निश्चय-व्यवहारको साध्य–साधनपना है; इसीलिए पारमेश्वरी (–जिनभगवानकी) [2]तीर्थप्रवर्तना [3]दोनों नयोंके आधीन है ।१५९।

---

१. जिस पाषाणमें सुवर्ण हो उसे सुवर्णपाषाण कहा जाता है। जिस प्रकार व्यवहारनयसे सुवर्णपाषाण सुवर्णका साधन है; उसी प्रकार व्यवहारनयसे व्यवहारमोक्षमार्ग निश्चय-मोक्षमार्गका साधन है; अर्थात् व्यवहारनयसे भावलिंगी मुनिको सविकल्प दशामें वर्तते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान, तत्त्वार्थज्ञान और महाव्रतादिरूप चारित्र निर्विकल्प दशामें वर्तते हुए शुद्धात्म-श्रद्धानज्ञानानुष्ठानके साधन हैं ।

२. तीर्थ=मार्ग (अर्थात् मोक्षमार्ग); उपाय (अर्थात् मोक्षका उपाय); उपदेश; शासन ।

३. जिनभगवानके उपदेशमें दो नयों द्वारा निरूपण होता है । वहाँ, निश्चयनय द्वारा तो सत्यार्थ निरूपण किया जाता है और व्यवहारनय द्वारा अभूतार्थ उपचरित निरूपण किया जाता है ।

प्रश्नः—सत्यार्थ निरूपण ही करना चाहिए; अभूतार्थ उपचरित निरूपण किसलिए किया जाता है ?

उत्तरः—जिसे सिंहका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें न आता हो, उसे सिंहके स्वरूपके उपचरित निरूपण द्वारा अर्थात् बिल्लीके स्वरूपके निरूपण द्वारा सिंहके यथार्थ स्वरूपकी समझकी ओर ले जाते हैं; उसी प्रकार जिसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप सीधा समझमें न आता हो उसे वस्तुस्वरूपके उपचरित निरूपण द्वारा वस्तुस्वरूपकी यथार्थ समझकी ओर ले जाते हैं और लम्बे कथनके बदलेमें संक्षिप्त कथन करनेके लिए भी व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया जाता है । यहाँ इतना लक्षमें रखने योग्य है कि—जो पुरुष बिल्लीके निरूपणको ही सिंहका निरूपण मानकर बिल्लीको ही सिंह समझ ले वह तो उपदेशके ही योग्य नहीं है, उसी प्रकार जो पुरुष उपचरित निरूपणको ही सत्यार्थ निरूपण मानकर वस्तुस्वरूपको मिथ्या रीतिसे समझ बैठे वह तो उपदेशके ही योग्य नहीं है ।

[यहाँ एक उदाहरण लिया जाता है :—

साध्य-साधन सम्बन्धी सत्यार्थ निरूपण इस प्रकार है कि—'छठवें गुणस्थानमें वर्तती हुई आंशिक शुद्धि सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है ।' अब,

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥

धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमङ्गपूर्वगतम् ।
चेष्टा तपसि चर्या व्यवहारो मोक्षमार्ग इति ॥१६०॥

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्र धर्मादीनां द्रव्यपदार्थविकल्पवतां तत्त्वार्थश्रद्धानभावस्वभावं-

---

गाथा १६०

अन्वयार्थः—[धर्मादिश्रद्धानं सम्यक्त्वम्] धर्मास्तिकायादिका श्रद्धान सो सम्यक्त्व, [अङ्गपूर्वगतम् ज्ञानम्] अंगपूर्वसम्बन्धी ज्ञान सो ज्ञान और [तपसि चेष्टा चर्या] तपमें चेष्टा (-प्रवृत्ति) सो चारित्र;—[इति] इस प्रकार [व्यवहारः मोक्षमार्गः] व्यवहारमोक्षमार्ग है ।

टीकाः—निश्चयमोक्षमार्गके साधनरूपसे, पूर्वोद्दिष्ट (१०७ वीं गाथामें उल्लिखित) व्यवहारमोक्षमार्गका यह निर्देश है ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सो मोक्षमार्ग है । वहाँ, (छह) द्रव्यरूप और (नव) पदार्थरूप जिनके भेद हैं ऐसे धर्मादिके तत्त्वार्थश्रद्धानरूप भाव (-धर्मास्ति-

---

'छठवें गुणस्थानमें कैसी अथवा कितनी शुद्धि होती है'—इस बातको भी साथ ही साथ समझाना हो तो, विस्तारसे ऐसा निरूपण किया जाता है कि 'जिस शुद्धिके सद्भावमें, उसके साथ-साथ महाव्रतादिके शुभ विकल्प हठ विना सहजरूपसे प्रवर्तमान हों वह छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धि सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है ।' ऐसे लम्बे कथनके बदले, ऐसा कहा जाए कि 'छठवें गुणस्थानमें प्रवर्तमान महाव्रतादिके शुभ विकल्प सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है,' तो वह उपचरित निरूपण है । ऐसे उपचरित निरूपणमेंसे ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि 'महाव्रतादिके शुभ विकल्प नहीं किन्तु उनके द्वारा जिस छठवें गुणस्थानयोग्य शुद्धिको बताना था वह शुद्धि वास्तवमें सातवें गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प शुद्ध परिणतिका साधन है ।']

धर्मादिनी श्रद्धा सुदग, पूर्वांगबोध सुबोध छे ।
तपमांही चेष्टा चरण—अे व्यवहारमुक्तिमार्ग छे ॥१६०॥

भावान्तरं श्रद्धानाख्यं सम्यक्त्वं, तत्त्वार्थश्रद्धाननिर्वृत्तौ सत्यामङ्गपूर्वगतार्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानम्, आचारादिसूत्रप्रपञ्चितविचित्रयतिवृत्तसमस्तसमुदयरूपे तपसि चेष्टा चर्या—इत्येषः स्वपरप्रत्ययपर्यायाश्रितं भिन्नसाध्यसाधनभावं व्यवहारनयमाश्रित्यानुगम्यमानो मोक्षमार्गः कार्तस्वरपाषाणार्पितदीप्तजातवेदोवत्समाहितान्तरङ्गस्य प्रतिपदमुपरितनशुद्धभूमिकासु परमरम्यासु विश्रान्तिमभिन्नां

कायादिकी तत्त्वार्थप्रतीतिरूप भाव) जिसका स्वभाव है ऐसा, 'श्रद्धान' नामका भावविशेष सो सम्यक्त्व, तत्त्वार्थश्रद्धानके सद्भावमें अंगपूर्वगत पदार्थोंका अवबोधन (–जानना) सो ज्ञान; आचारादि सूत्रों द्वारा कहे गए अनेकविध मुनि-आचारोंके समस्त समुदायरूप तपमें चेष्टा (–प्रवर्तन) सो चारित्र;—ऐसा यह, स्वपरहेतुक पर्यायके आश्रित, भिन्नसाध्यसाधनभाववाले व्यवहारनयके आश्रयसे (–व्यवहारनयकी अपेक्षासे) अनुसरण किया जानेवाला मोक्षमार्ग, सुवर्णपाषाणको लगाई जानेवाली प्रदीप्त अग्निकी भाँति, [1]समाहित अंतरंगवाले जीवको (अर्थात् जिसका अंतरंग एकाग्र—समाधिप्राप्त है ऐसे जीवको) पद-पद पर परम रम्य ऐसी ऊपरकी शुद्ध भूमिकाओंमें अभिन्न विश्रांति (–अभेदरूप स्थिरता) उत्पन्न करता हुआ—यद्यपि उत्तम सुवर्णकी भाँति शुद्ध जीव कथंचित् भिन्नसाध्यसाधनभावके अभावके कारण स्वयं (अपने आप) शुद्ध स्वभावसे परिणमित होता है तथापि—निश्चयमोक्षमार्गके साधनपनेको प्राप्त होता है।

भावार्थः—जिसे अंतरंगमें शुद्धिका अंश परिणमित हुआ है उस जीवको तत्त्वार्थश्रद्धान, अंगपूर्वगत ज्ञान और मुनि-आचारमें प्रवर्तनरूप [2]व्यवहारमोक्षमार्ग

---

१. समाहित=एकाग्र; एकताको प्राप्त; अभेदताको प्राप्त; छिन्नभिन्नता रहित; समाधिप्राप्त; शुद्ध; प्रशांत।

२. इस गाथाकी श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीकामें पंचमगुणस्थानवर्ती गृहस्थको भी व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ व्यवहारमोक्षमार्गके स्वरूपका निम्नानुसार वर्णन किया है:—'वीतरागसर्वज्ञप्रणीत जीवादिपदार्थों सम्बन्धी सम्यक् श्रद्धान तथा ज्ञान दोनों, गृहस्थको और तपोधनको समान होते हैं; चारित्र, तपोधनोंको आचारादि चरणग्रन्थोंमें विहित किए हुए मार्गानुसार प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानयोग्य पंचमहाव्रत-पंचसमिति-त्रिगुप्ति-षडावश्यकादिरूप होता है और गृहस्थोंको उपासकाध्ययनग्रन्थमें विहित किए हुए मार्गके अनुसार पंचमगुणस्थानयोग्य दान-शील-पूजा-उपवासादिरूप अथवा दार्शनिक-व्रतिकादि ग्यारह स्थानरूप (ग्यारह प्रतिमारूप) होता है; इस प्रकार व्यवहारमोक्षमार्गका लक्षण है।'

निष्पादयन्, जात्यकार्तस्वरस्येव शुद्धजीवस्य कथंचिद्भिन्नसाध्यसाधनभावाभावात्स्वयं शुद्धस्वभावेन विपरिणममानस्यापि, निश्चयमोक्षमार्गस्य साधनभावमापद्यत इति ॥१६०॥

णिच्छयणएण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा ।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६१॥

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिस्तैः समाहितः खलु यः आत्मा ।
न करोति किंचिदप्यन्यन्न मुञ्चति स मोक्षमार्ग इति ॥ १६१ ॥

व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-समाहित आत्मैव जीवस्वभावनियतचरित्रत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्गः । अथ खलु

विशेष-विशेष शुद्धिका व्यवहारसाधन बनता हुआ, यद्यपि निर्विकल्पशुद्धभावपरिणत जीवको परमार्थसे तो उत्तम सुवर्णकी भाँति अभिन्नसाध्य साधनभावके कारण स्वयमेव शुद्धभावरूप परिणमन होता है तथापि, व्यवहारनयसे निश्चयमोक्षमार्गके साधनपनेको प्राप्त होता है ।

[अज्ञानी द्रव्यलिंगी मुनिका अंतरंग लेशमात्रभी समाहित न होनेसे अर्थात् उसे (द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपके अज्ञानके कारण) शुद्धिका अंश भी परिणमित न होनेसे उसे व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं है ।] ।१६०।

गाथा १६१

अन्वयार्थः—[**यः आत्मा**] जो आत्मा [**तैः त्रिभिः खलु समाहितः**] इन तीन द्वारा वास्तवमें समाहित होता हुआ (अर्थात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र द्वारा) वास्तवमें एकाग्र—अभेद होता हुआ) [**अन्यत् किंचित् अपि**] अन्य कुछ भी [**न करोति न मुञ्चति**] करता नहीं है या छोड़ता नहीं है, [**सः**] वह [**निश्चयनयेन**] निश्चयनयसे [**मोक्षमार्गः इति भणितः**] 'मोक्षमार्ग' कहा गया है ।

टीका :—व्यवहारमोक्षमार्गके साध्यरूपसे, निश्चयमोक्षमार्गका यह कथन है ।

जे जीव दर्शनज्ञानचरण वडे समाहित होइने ।
छोडे-ग्रहे नहि अन्य कंई पण, निश्चये शिवमार्ग छे ॥१६१॥

कथञ्चनानाद्यविद्याव्यपगमाद्व्यवहारमोक्षमार्गमनुप्रपन्नो धर्मादितत्त्वार्थाश्रद्धानाङ्गपूर्वगतार्थाज्ञाना-तपश्चेष्टानां धर्मादितत्त्वार्थश्रद्धानाङ्गपूर्वगतार्थज्ञानतपश्चेष्टानां च त्यागोपादानाय प्रारब्धविविक्तभावव्यापारः, कुतश्चिदुपादेयत्यागे त्याज्योपादाने च पुनः प्रवर्तितप्रतिविधानाभिप्रायो, यस्मिन्यावति काले विशिष्टभावनासौष्ठववशात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः स्वभावभूतैः

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा *समाहित हुआ आत्मा ही जीवस्वभावमें नियत चारित्ररूप होनेके कारण निश्चयसे मोक्षमार्ग है।

अब (विस्तार ऐसा है कि), यह आत्मा वास्तवमें कथंचित् (-किसी प्रकार, निज उद्यमसे) अनादि अविद्याके नाश द्वारा व्यवहारमोक्षमार्गको प्राप्त करता हुआ, धर्मादिसम्बन्धी तत्त्वार्थअश्रद्धानके, अंगपूर्वगत पदार्थों सम्बन्धी अज्ञानके और अतपमें चेष्टाके त्याग हेतुसे तथा धर्मादिसम्बन्धी तत्त्वार्थश्रद्धानके, अंगपूर्वगत पदार्थोंसम्बन्धी ज्ञानके और तपमें चेष्टाके ग्रहण हेतुसे (-तीनोंके त्याग हेतु तथा तीनोंके ग्रहण हेतुसे) [1]विविक्त भावरूप व्यापार करता हुआ, और किसी कारणसे ग्राह्यका त्याग हो जाने पर तथा त्याज्यका ग्रहण हो जाने पर उसके [2]प्रतिविधानका अभिप्राय करता हुआ, जिस काल और जितने काल तक [3]विशिष्ट भावनासौष्ठवके कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके साथ [4]अंग-अंगीभावसे परिणति द्वारा

---

* समाहित=सातवाँ गुणस्थान वाला।

१. विविक्त=विवेकसे पृथक् किए हुए (अर्थात् हेय और उपादेयका विवेक करके व्यवहारसे उपादेयरूप जाने हुए)। [जिसने अनादि अज्ञानका नाश करके शुद्धिका अंश प्रगट किया है ऐसे व्यवहारमोक्षमार्गी (सविकल्प) जीवको निःशंकता-निःकांक्षा-निर्विचिकित्सादि भावरूप, स्वाध्यायविनयादि भावरूप और निरतिचार व्रतादि भावरूप व्यापार भूमिकानुसार होते हैं तथा किसी कारण उपादेय भावोंका (-व्यवहारसे ग्राह्य भावोंका) त्याग हो जाने पर और त्याज्य भावोंका उपादान अर्थात् ग्रहण हो जाने पर उसके प्रतिकाररूपसे प्रायश्चित्तादि विधान भी होता है।]

२. प्रतिविधान=प्रतिकार करनेकी विधि; प्रतिकारका उपाय; इलाज।

३. विशिष्ट भावनासौष्ठव=विशेष अच्छी भावना (अर्थात् विशिष्ट शुद्ध भावना); विशिष्ट प्रकारकी उत्तम भावना।

४. आत्मा वह अंगी और स्वभावभूत सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र वह अंग।

समभङ्गाङ्गिभावपरिणत्या तत्समाहितो भूत्वा त्यागोपादानविकल्पशून्यत्वाद्विश्रान्तभावव्यापारः सुनिष्प्रकम्पः अयमात्मावतिष्ठते, तस्मिन् तावति काले अयमेवात्मा जीवस्वभावनियतचरितत्वान्निश्चयेन मोक्षमार्ग इत्युच्यते। अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्न इति ॥१६१॥

---

[1]उनसे [2]समाहित होकर, त्यागग्रहणके विकल्पसे शून्यपनेके कारण (भेदात्मक) भावरूप व्यापार विरामको प्राप्त होनेसे (अर्थात् भेदभावरूप—खंडभावरूप व्यापार रुक जानेसे) सुनिष्कंपरूपसे रहता है, उसकाल और उतने काल तक यही आत्मा जीवस्वभावमें नियत चारित्ररूप होनेके कारण निश्चयसे 'मोक्षमार्ग' कहलाता है। इसलिए, निश्चयमोक्षमार्ग और [3]व्यवहार-मोक्षमार्गको साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है।

भावार्थः—निश्चयमोक्षमार्ग निज शुद्धात्माकी रुचि, ज्ञप्ति और निश्चल अनुभूतिरूप है। उसका साधक (अर्थात् निश्चयमोक्षमार्गका व्यवहार-साधन) ऐसा जो भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग उसे जीव कथंचित् (–किसी प्रकार, निज उद्यमसे) अपने संवेदनमें आनेवाली अविद्याकी वासनाके विलय द्वारा प्राप्त होता हुआ, जब गुणस्थानरूप सोपानके क्रमानुसार निजशुद्धात्मद्रव्यकी भावनासे उत्पन्न

---

१. उनसे स्वभावभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे।

२. समाहित=सातवां गुणस्थानमें।

३. यहाँ यह ध्यानमें रखनेयोग्य है कि जीव व्यवहारमोक्षमार्गको भी अनादि अविद्याका नाश करके ही प्राप्त कर सकता है; अनादि अविद्याका नाश होनेसे पूर्व तो (अर्थात् निश्चयनयके—द्रव्यार्थिकनयके—विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपका भान करनेसे पूर्व तो) व्यवहारमोक्षमार्ग भी नहीं होता।

पुनश्च, 'निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गको साध्य-साधनपना अत्यन्त घटित होता है' ऐसा जो कहा गया है वह व्यवहारनय द्वारा किया गया उपचरित निरूपण है। उसमेंसे ऐसा अर्थ निकालना चाहिए कि 'छठवें गुणस्थानमें वर्तते हुए शुभ विकल्पोंको नहीं किन्तु छठवें गुणस्थानमें वर्तते हुए शुद्धिके अंशको और सातवें गुणस्थानयोग्य निश्चयमोक्षमार्गको वास्तवमें साध्य-साधनपना है।' छठवें गुणस्थानमें वर्तता हुआ शुद्धिका अंश बढ़कर जब और जितने काल तक उग्र शुद्धिके कारण शुभ विकल्पोंका अभाव वर्तता है तब और उतने काल तक सातवें गुणस्थानयोग्य निश्चयमोक्षमार्ग होता है।

जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं ।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥ १६२ ॥

यश्चरति जानाति पश्यति आत्मानमात्मनानन्यमयम् ।
स चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति निश्चितो भवति ॥ १६२ ॥

आत्मनश्चारित्रज्ञानदर्शनत्वद्योतनमेतत् । यः खल्वात्मानमात्ममयत्वादनन्यमयमात्मना चरति—स्वभावनियतास्तित्वेनानुवर्तते, आत्मना जानाति—स्वपरप्रकाशकत्वेन

नित्यानन्दलक्षणवाले सुखामृतके रसास्वादकी तृप्तिरूप परम कलाके अनुभवके कारण निजशुद्धात्माश्रित निश्चयदर्शनज्ञानचारित्ररूपसे अभेदरूप परिणमित होता है, तब निश्चयनयसे भिन्न साध्य-साधनके अभावके कारण यह आत्मा ही मोक्षमार्ग है। इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि सुवर्ण और सुवर्ण पाषाणकी भांति निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्गको साध्य-साधकपना (व्यवहारनयसे) अत्यन्त घटित होता है। १६१ ।

गाथा १६२

अन्वयार्थः—[यः] जो (आत्मा) [अनन्यमयम् आत्मानम्] अनन्यमय आत्माको [आत्मना] आत्मासे [चरति] आचरता है, [जानाति] जानता है, [पश्यति] देखता है, [सः] वह (आत्मा ही) [चारित्रं] चारित्र है, [ज्ञानं] ज्ञान है, [दर्शनम्] दर्शन है—[इति] ऐसा [निश्चितः भवति] निश्चित है।

टीकाः—यह, आत्माके चारित्र-ज्ञान-दर्शनपनेका प्रकाशन है (अर्थात् आत्मा ही चारित्र, ज्ञान और दर्शन है ऐसा यहाँ समझाया है।) ।

जो (आत्मा) वास्तवमें आत्माको—जो कि आत्ममय होनेसे अनन्यमय है उसे—आत्मासे आचरता है अर्थात् [1]स्वभावनियत अस्तित्व द्वारा अनुवर्तता है

---

1. स्वभावनियत = स्वभावमें अवस्थित; (ज्ञानदर्शनरूप) स्वभावमें दृढ़रूपसे स्थित। ['स्वभावनियत अस्तित्वकी' विशेष स्पष्टताके लिए १५४ वीं गाथाकी टीका देखो।]

जाणे, जुए ने आचरे निज आत्मने आत्मा वडे,
ते जीव दर्शन, ज्ञान ने चारित्र छे निश्चितपणे ॥१६२॥

चेतयते, आत्मना पश्यति—याथातथ्येनावलोकयते, स खल्वात्मैव चारित्रं ज्ञानं दर्शनमिति कर्तृकर्मकरणानामभेदान्निश्चितो भवति । अतश्चारित्रज्ञानदर्शनरूपत्वाज्जीवस्वभावनियतचरितत्वलक्षणं निश्चयमोक्षमार्गत्वमात्मनो नितरामुपपन्नमिति ।। १६२ ।।

जेण विजाणदि सव्वं पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।
इदि तं जाणदि भविश्रो श्रभवियसत्तो ण सद्दहदि ।।१६३।।

येन विजानाति सर्वं पश्यति स तेन सौख्यमनुभवति ।
इति तज्जानाति भव्योऽभव्यसत्त्वो न श्रद्धत्ते ।। १६३ ।।

(—स्वभावनियत अस्तित्वरूपसे परिणमित होकर अनुसरता है), (अनन्यमय आत्माको ही) आत्मासे जानता है अर्थात् स्वपरप्रकाशकरूपसे चेतता है, (अनन्यमय आत्माको ही) आत्मासे देखता है अर्थात् यथातथरूपसे अवलोकता है, वह आत्मा ही वास्तवमें चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है—ऐसा [1]कर्ता-कर्म-करणके अभेदके कारण निश्चित है । इससे (ऐसा निश्चित हुआ कि) चारित्र-ज्ञान-दर्शनरूप होनेके कारण आत्माको जीवस्वभावनियत चारित्र जिसका लक्षण है ऐसा निश्चयमोक्षमार्गपना अत्यन्त घटित होता है (अर्थात् आत्मा ही चारित्र-ज्ञान-दर्शन होनेके कारण आत्मा ही ज्ञानदर्शनरूप जीवस्वभावमें दृढ़रूपसे स्थित चारित्र जिसका स्वरूप है ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग है) । १६२ ।

गाथा १६३

अन्वयार्थः—[येन] जिससे (आत्मा मुक्त होने पर) [सर्वं विजानाति] सर्वको जानता है और [पश्यति] देखता है, [तेन] उससे [सः] वह [सौख्यम् अनुभवति] सौख्यका अनुभव करता है;—[इति तद्] ऐसा [भव्यः जानाति] भव्य जीव जानता है, [अभव्यसत्त्वः न श्रद्धत्ते] अभव्य जीव श्रद्धा नहीं करता ।

---

१. जब आत्मा आत्माको आत्मासे आचरता है–जानता है–देखता है, तब कर्ता भी आत्मा, कर्म भी आत्मा और करण भी आत्मा है; इसप्रकार वहाँ कर्ता-कर्म-करणकी अभिन्नता है ।

जाणे-जुए छे सर्व तेथी सौख्य-अनुभव मुक्तने ।
— आ भाव जाणे भव्य जीव, अभव्य नहि श्रद्धा लहे ।।१६३।।

सर्वस्यात्मनः संसारिणो मोक्षमार्गार्हत्वनिरासोऽयम् । इह हि स्वभावप्रातिकूल्याभावहेतुकं सौख्यम् । आत्मनो हि दृशि-ज्ञप्ती स्वभावः । तयोर्विषयप्रतिबन्धः प्रातिकूल्यम् । मोक्षे खल्वात्मनः सर्वं विजानतः पश्यतश्च तदभावः । ततस्तद्धेतुकस्यानाकुलत्वलक्षणस्य परमार्थसुखस्य मोक्षेऽनुभूतिरचलिताऽस्ति । इत्येतद्भव्य एव भावतो विजानाति, ततः स एव मोक्षमार्गार्हः । नैतदभव्यः श्रद्धत्ते, ततः स मोक्षमार्गानर्ह एवेति । अतः कतिपये एव संसारिणो मोक्षमार्गार्हा, न सर्व एवेति ।१६३।

टीकाः—यह, सर्व संसारी आत्मा मोक्षमार्गके योग्य होनेका निराकरण (निषेध) है ।

वास्तवमें सौख्यका कारण स्वभावकी [1]प्रतिकूलताका अभाव है । आत्माका 'स्वभाव' वास्तवमें दृशि-ज्ञप्ति (दर्शन और ज्ञान) है । उन दोनोंको [2]विषयप्रतिबन्ध होना सो 'प्रतिकूलता' है । मोक्षमें वास्तवमें आत्मा सर्वको जानता और देखता होनेसे उसका अभाव होता है (अर्थात् मोक्षमें स्वभावकी प्रतिकूलताका अभाव होता है) । इसलिए [3]उसका अभाव जिसका कारण है ऐसे [4]अनाकुलतालक्षणवाले परमार्थसुखकी मोक्षमें अचलित अनुभूति होती है ।—इसप्रकार भव्य जीव ही [5]भावसे जानता है, इसलिए वही मोक्षमार्गके योग्य है; अभव्य जीव इसप्रकार श्रद्धा नहीं करता, इसलिए वह मोक्षमार्गके अयोग्य ही है ।

इससे (ऐसा कहा कि) कुछ ही संसारी मोक्षमार्गके योग्य हैं, सर्व नहीं । १६३ ।

---

१. प्रतिकूलता=विरुद्धता; विपरीतता ।

२. विषयप्रतिबन्ध=विषयमें रुकावट अर्थात् मर्यादितपना । (दर्शन और ज्ञानके विषयमें मर्यादितपना होना वह स्वभावकी प्रतिकूलता है ।)

३. पारमार्थिक सुखका कारण स्वभावकी प्रतिकूलताका अभाव है ।

४. पारमार्थिक सुखका लक्षण अथवा स्वरूप अनाकुलता है ।

५. श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीकामें कहा है कि 'उस अनंत सुखको भव्य जीव जानते हैं, उपादेयरूपसे श्रद्धते हैं और अपने-अपने गुणस्थानानुसार अनुभव करते हैं ।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि ।
साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ।। १६४ ।।

दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति सेवितव्यानि ।
साधुभिरिदं भणितं तैस्तु बन्धो वा मोक्षो वा ।। १६४ ।।

दर्शनज्ञानचारित्राणां कथंचिद्बन्धहेतुत्वोपदर्शनेन जीवस्वभावे नियतचरितस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वद्योतनमेतत् । अमूनि हि दर्शनज्ञानचारित्राणि कियन्मात्रयापि परसमयप्रवृत्त्या संवलितानि कृशानुसंवलितानीव घृतानि कथञ्चिद्विरुद्धकार्यकारणत्वरूढेर्बन्धकारणान्यपि

गाथा १६४

अन्वयार्थः—[दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [मोक्षमार्गः] मोक्षमार्ग है [इति] इसलिए [सेवितव्यानि] वे सेवन योग्य हैं—[इदम् साधुभिः भणितम्] ऐसा साधुओंने कहा है; [तैः तु] परन्तु उनसे [बंधः वा] बंध भी होता है और [मोक्षः वा] मोक्ष भी होता है ।

टीकाः—यहाँ, दर्शन-ज्ञान-चारित्रका कथंचित् बंधहेतुपना दर्शाया है और इसप्रकार जीवस्वभावमें नियत चारित्रका साक्षात् मोक्षहेतुपना प्रकाशित किया है ।

यह दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यदि अल्प भी परसमयप्रवृत्तिके साथ मिलित हों तो, अग्निके साथ मिलित घृतकी भाँति (अर्थात् [1]उष्णतायुक्त घृतकी भाँति), कथंचित् [2]विरुद्ध कार्यके कारणपनेकी व्याप्तिके कारण बंधकारण भी हैं और जब वे

---

१. घृत स्वभावसे शीतलताके कारणभूत होनेपर भी, यदि वह किंचित् भी उष्णतासे युक्त हो तो, उससे (कथंचित्) जलते भी हैं; उसीप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावसे मोक्षके कारणभूत होने पर भी, यदि वे किंचित् भी परसमयप्रवृत्तिसे युक्त हों तो, उनसे (कथंचित्) बन्ध भी होता है ।

२. परसमयप्रवृत्तियुक्त दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें कथंचित् मोक्षरूप कार्यसे विरुद्ध कार्यका कारणपना (अर्थात् बंधरूप कार्यका कारणपना) व्याप्त होता है ।

दग, ज्ञान ने चारित्र छे शिवमार्ग तेथी सेववां ।
संते कह्युं, पण हेतु छे ए बंधना वा मोक्षना ।।१६४।।

भवन्ति। यदा तु समस्तपरसमयप्रवृत्तिनिवृत्तिरूपया स्वसमयप्रवृत्त्या सङ्गच्छंते, तदा निवृत्तकृशानुसंवलनानीव घृतानि विरुद्धकार्यकारणभावाभावात्साक्षान्मोक्षकारणान्येव भवन्ति। ततः स्वसमयप्रवृत्तिनाम्नो जीवस्वभावनियतचरितस्य साक्षान्मोक्षमार्गत्वमुपपन्नमिति ॥ १६४ ॥

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदि त्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥१६५॥

अज्ञानात् ज्ञानी यदि मन्यते शुद्धसंप्रयोगात्।
भवतीति दुःखमोक्षः परसमयरतो भवति जीवः ॥१६५॥

(दर्शन-ज्ञान-चारित्र), समस्त परसमयप्रवृत्तिसे निवृत्तरूप ऐसी स्वसमयप्रवृत्तिके साथ संयुक्त होते हैं तब, जिसे अग्निके साथका मिलितपना निवृत्त हुआ है ऐसे घृतकी भाँति, विरुद्ध कार्यका कारणभाव निवृत्त हो गया होनेसे साक्षात् मोक्षकारणों ही हैं। इसलिए 'स्वसमयप्रवृत्ति' नामका जो जीवस्वभावमें नियत चारित्र उसे साक्षात् मोक्षमार्गपना घटित होता है[1] ।१६४।

गाथा १६५

अन्वयार्थः—[शुद्धसंप्रयोगात्] शुद्धसंप्रयोगसे (शुभ भक्तिभावसे) [दुःखमोक्षः भवति] दुःखमोक्ष होता है [इति] ऐसा [यदि] यदि [अज्ञानात्]

[शास्त्रोंमें कभी-कभी दर्शन-ज्ञान-चारित्रको भी, यदि वे परसमयप्रवृत्तियुक्त हों तो, कथंचित् बन्धका कारण कहा जाता है; और कभी ज्ञानीको वर्तते हुए शुभभावोंको भी कथंचित् मोक्षके परम्पराहेतु कहा जाता है। शास्त्रोंमें आनेवाले ऐसे भिन्न-भिन्न पद्धतिके कथनोंको सुलझाते हुए यह सारभूत वास्तविकता ध्यानमें रखना चाहिए कि—ज्ञानीको जब शुद्धाशुद्धरूप मिश्रपर्याय वर्तती है तब वह मिश्रपर्याय एकान्तसे संवर-निर्जरा-मोक्षके कारणभूत नहीं होती अथवा एकान्तसे आस्रव-बन्धके कारणभूत नहीं होती, परन्तु उस मिश्रपर्यायका शुद्ध अंश संवर-निर्जरा-मोक्षके कारणभूत होता है और अशुद्ध अंश आस्रव-बन्धके कारणभूत होता है।]

१. इस निरूपणके साथ तुलना करनेके लिए श्री प्रवचनसारकी ग्यारहवीं गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका देखिए।

जिनवरप्रमुखनी भक्ति द्वारा मोक्षनी आशा धरे।
अज्ञानथी जो ज्ञानी जीव, तो परसमयरत तेह छे ॥१६५॥

सूक्ष्मपरसमयस्वरूपाख्यानमेतत् । अर्हदादिषु भगवत्सु सिद्धिसाधनीभूतेषु भक्तिभावानुरञ्जिता चित्तवृत्तिरत्र शुद्धसंप्रयोगः । अथ खल्वज्ञानलवावेशाद्यदि यावत् ज्ञानवानपि ततः शुद्धसंप्रयोगान्मोक्षो भवतीत्यभिप्रायेण खिद्यमानस्तत्र प्रवर्तते तदा तावत्सोऽपि रागलवसद्भावात्परसमयरत इत्युपगीयते । अथ न किं पुनर्निरङ्कुशरागकलिकलङ्कितान्तरङ्गवृत्तिरितरो जन इति ॥१६५॥

अज्ञानके कारण [ज्ञानी] ज्ञानी [मन्यते] [1]माने, तो वह [परसमयरतः जीवः] परसमयरत जीव [भवति] है। 'अर्हंतादिके प्रति भक्ति–अनुरागवाली मंदशुद्धिसे भी क्रमशः मोक्ष होता है' इसप्रकार यदि अज्ञानके कारण (–शुद्धात्मसंवेदनके अभावके कारण, रागांशके कारण) ज्ञानीको भी (मंद पुरुषार्थवाली) झुकाव वर्ते, तो तबतक वह भी सूक्ष्म परसमयमें रत है।]

टीकाः—यह, सूक्ष्म परसमयके स्वरूपका कथन है।

सिद्धिके साधनभूत ऐसे अर्हंतादि भगवन्तोंके प्रति भक्तिभावसे [2]अनुरंजित चित्तवृत्ति वह यहाँ 'शुद्धसंप्रयोग' है। अब, [3]अज्ञानलवके आवेशसे यदि ज्ञानवान भी 'उस शुद्धसम्प्रयोगसे मोक्ष होता है' ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें (शुद्धसम्प्रयोगमें) प्रवर्ते, तो तब तक वह भी [4]रागलवके सद्भावके कारण [5]'परसमयरत' कहलाता है। तो फिर निरंकुश रागरूप क्लेशसे कलंकित ऐसी अंतरंग वृत्तिवाला इतरजन क्या परसमयरत नहीं कहलाएगा ? (अवश्य कहलाएगा ही।)[6] । १६५ ।

---

१. मानना=झुकाव करना; विचार रखना; आशा रखना; इच्छा करना; गणना करना; अभिप्राय करना।

२. अनुरंजित=अनुरक्त; रागवाली; सराग।

३. अज्ञानलव=किंचित् अज्ञान; अल्प अज्ञान।

४. रागलव=किंचित् राग; अल्प राग।

५. परसमयरत=परसमयमें रत; परसमयस्थित; परसमयकी ओर झुकाववाला; परसमयमें आसक्त।

६. इस गाथाकी श्री जयसेनाचार्यदेवकृत टीकामें इसप्रकार विवरण है:—कोई पुरुष निर्विकार-शुद्धात्मभावनास्वरूप परमोपेक्षासंयममें स्थित रहना चाहता है, परन्तु उसमें स्थित रहनेको

अरहंतसिद्धचेदियपवयणगणणाणभत्तिसंपण्णो ।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण हु सो कम्मक्खयं कुणदि ।।१६६।।

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगणज्ञानभक्तिसम्पन्नः ।
बध्नाति पुण्यं बहुशो न खलु स कर्मक्षयं करोति ।।१६६।।

उक्तशुद्धसंप्रयोगस्य कथञ्चिद्बन्धहेतुत्वेन मोक्षमार्गत्वनिरासोऽयम् । अर्हदादिभक्तिसंपन्नः कथञ्चिच्छुद्धसंप्रयोगोऽपि सन् जीवो जीवद्रागलवत्वाच्छुभोपयोगतामजहत् बहुशः

गाथा १६६

अन्वयार्थः—[अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनगणज्ञानभक्तिसम्पन्नः] अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (–अर्हंतादिकी प्रतिमा), प्रवचन (–शास्त्र), मुनिगण और ज्ञानके प्रति भक्तिसम्पन्न जीव [बहुशः पुण्यं बध्नाति] बहुत पुण्य बांधता है, [न खलु सः कर्मक्षयं करोति] परन्तु वास्तवमें वह कर्मका क्षय नहीं करता ।

टीकाः—यहाँ, पूर्वोक्त शुद्धसम्प्रयोगको [1]कथंचित् बंधहेतुपना होनेसे उसका मोक्षमार्गपना [2]निरस्त किया है (अर्थात् ज्ञानीको वर्तता हुआ शुद्धसम्प्रयोग निश्चयसे बंधहेतुभूत होनेके कारण वह मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा यहाँ दर्शाया है) ।

अशक्त वर्तता हुआ कामक्रोधादि अशुभ परिणामोंके वंचनार्थ अथवा संसारस्थितिके छेदनार्थ जब पंच परमेष्ठीके प्रति गुणस्तवनादि भक्ति करता है, तब वह सूक्ष्म परसमयरूपसे परिणत वर्तता हुआ सराग सम्यक्दृष्टि है; और यदि वह पुरुष शुद्धात्मभावनामें समर्थ होने पर भी, उसे (शुद्धात्मभावनाको) छोड़कर 'शुभोपयोगसे ही मोक्ष होता है' ऐसा एकान्त माने, तो वह स्थूल परसमयरूप परिणाम द्वारा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है ।

१. कथंचित्=किसीप्रकार; किसी अपेक्षासे (अर्थात् निश्चयनयकी अपेक्षासे) । [ज्ञानीको वर्तते हुए शुद्धसम्प्रयोगको कदाचित् व्यवहारसे भले मोक्षका परम्पराहेतु कहा जाए, किन्तु निश्चयसे तो वह बन्धहेतु ही है क्योंकि अशुद्धिरूप अंश है ।]

२. निरस्त करना=खण्डित करना; निषिद्ध करना; निकाल देना ।

जिन-सिद्ध-प्रवचन-चैत्य-मुनिगण-ज्ञाननी भक्ति करे ।
ते पुण्यबंध लहे घणो, पण कर्मनो क्षय नव करे ।।१६६।।

पुण्यं बध्नाति, न खलु सकलकर्मक्षयमारभते। ततः सर्वत्र रागकणिकाऽपि परिहरणीया परसमयप्रवृत्तिनिबन्धनत्वादिति ॥१६६॥

जस्स हिदएणुमेत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरो वि ॥१६७॥

यस्य हृदयेऽणुमात्रो वा परद्रव्ये विद्यते रागः।
स न विजानाति समयं स्वकस्य सर्वागमधरोऽपि ॥१६७॥

स्वसमयोपलम्भाभावस्य रागैकहेतुत्वद्योतनमेतत्। यस्य खलु रागरेणुकणिकाऽपि

अर्हंतादिके प्रति भक्तिसम्पन्न जीव, कथंचित् [1]'शुद्धसम्प्रयोगवाला' होने पर भी, [2]रागलव जीवित (विद्यमान) होनेसे 'शुभोपयोगीपने'को न छोड़ता हुआ, बहुत पुण्य बाँधता है, परन्तु वास्तवमें सकल कर्मका क्षय नहीं करता। इसलिए सर्वत्र रागकी कणिका भी परिहरनेयोग्य है, क्योंकि वह परसमयप्रवृत्तिका कारण है। १६६।

गाथा १६७

अन्वयार्थः—[यस्य] जिसे [परद्रव्ये] परद्रव्यके प्रति [अणुमात्रः वा] अणुमात्र भी (लेशमात्र भी) [रागः] राग [हृदये विद्यते] हृदयमें वर्तता है [सः] वह, [सर्वागमधरः अपि] भले सर्वआगमधर हो तथापि, [स्वकस्य समयं न विजानाति] स्वकीय समयको नहीं जानता (–अनुभव नहीं करता)।

टीकाः—यहाँ, स्वसमयकी उपलब्धिके अभावका, राग एक हेतु है ऐसा प्रकाशित किया है (अर्थात् स्वसमयकी प्राप्तिके अभावका राग ही एक कारण है ऐसा यहाँ दर्शाया है)।

---

१. सिद्धिके निमित्तभूत ऐसे जो अर्हंतादि उनके प्रति भक्तिभावको पहले शुद्धसम्प्रयोग कहा था। उसमें 'शुद्ध' शब्द होने पर भी वह 'शुभ' उपयोगरूप रागभाव है। ['शुभ' ऐसे अर्थमें जिसप्रकार 'विशुद्ध' शब्दका कदाचित् प्रयोग होता है उसी प्रकार यहाँ 'शुद्ध' शब्दका प्रयोग हुआ है।]

२. रागलव=किंचित् राग; अल्प राग।

अणुमात्र जेने हृदयमां परद्रव्य प्रत्ये राग छे।
हो सर्वआगमधर भले, जाणे नहीं स्वक समयने ॥१६७॥

जीवति हृदये न नाम स समस्तसिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि निरुपरागशुद्धस्वरूपं स्वसमयं चेतयते। ततः स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायमधिदधताऽर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति ॥१६७॥

धरिदुं जस्स ण सक्कं चित्तुब्भामं विणा दु अप्पाणं।
रोधो तस्स ण विज्जदि सुहासुहकदस्स कम्मस्स ॥१६८॥

धर्तुं यस्य न शक्यम् चित्तोद्भ्रामं विना त्वात्मानम्।
रोधस्तस्य न विद्यते शुभाशुभकृतस्य कर्मणः ॥ १६८ ॥

रागलवमूलदोषपरंपराख्यानमेतत्। इह खल्वर्हदादिभक्तिरपि न रागानुवृत्तिमन्तरेण भवति। रागाद्यनुवृत्तौ च सत्यां बुद्धिप्रसरमन्तरेणात्मा न तं कथंचनापि धारयितुं शक्यते।

जिसे रागरेणुकी कणिका भी हृदयमें जीवित है वह, भले ही समस्त सिद्धान्तसागरका पारंगत हो तथापि, [1]निरुपराग-शुद्धस्वरूप स्वसमयको वास्तवमें नहीं चेतता (अनुभव नहीं करता)। इसलिए, '[2]धुनकीसे चिपकी हुई रूई का न्याय लागू होनेसे, जीवको स्वसमयकी प्रसिद्धिके हेतु अर्हंतादि-विषयक भी रागरेणु (–अर्हंतादिके ओरकी भी रागरज) क्रमशः दूर करनेयोग्य है।१६७।

गाथा १६८

अन्वयार्थः—[यस्य] जो [चित्तोद्भ्रामं विना तु] (रागके सद्भावके कारण) चित्तके भ्रमण रहिततया [आत्मानम्] अपनेको [धर्तुम् न शक्यम्] नहीं रख सकता, [तस्य] उसे [शुभाशुभकृतस्य कर्मणः] शुभाशुभ कर्मका [रोधः न विद्यते] निरोध नहीं है।

टीकाः—यह, रागलवमूलक दोषपरम्पराका निरूपण है (अर्थात् अल्प राग जिसका मूल है ऐसी दोषोंकी संततिका यहाँ कथन है)।

---

१. निरुपराग-शुद्धस्वरूप=उपरागरहित (–निर्विकार) शुद्ध जिसका स्वरूप है ऐसा।

२. जिसप्रकार धुनकीसे चिपकी हुई थोड़ी-सी भी रूई, धुननेके कार्यमें विघ्न करती है, उसीप्रकार थोड़ा-सा भी राग स्वसमयकी उपलब्धिरूप कार्यमें विघ्न करता है।

मनना भ्रमणथी रहित जे राखी शके नहि आत्मने।
शुभ वा अशुभ कर्मो तणो नहि रोध छे ते जीवने ॥१६८॥

बुद्धिप्रसरे च सति शुभस्याशुभस्य वा कर्मणो न निरोधोऽस्ति । ततो रागकलिविलासमूल एवायमनर्थसन्तान इति ।।१६८।।

तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पोदि ।।१६९।।

तस्मान्निवृत्तिकामो निःसङ्गो निर्ममश्च भूत्वा पुनः ।
सिद्धेषु करोति भक्तिं निर्वाणं तेन प्राप्नोति ।। १६९ ।।

यहाँ (इस लोकमें) वास्तवमें अर्हंतादिके ओर की भक्ति भी रागपरिणतिके विना नहीं होती । रागादिपरिणति होनेसे, आत्मा [1]बुद्धिप्रसार रहित (–चित्तके भ्रमणसे रहित) अपनेको किसी प्रकार नहीं रख सकता; और बुद्धिप्रसार होनेसे (–चित्तका भ्रमण होनेसे), शुभ तथा अशुभ कर्मका निरोध नहीं होता । इसलिए, यह अनर्थसंततिका मूल रागरूप क्लेशका विलास ही है ।

भावार्थः—अर्हंतादिकी भक्ति भी रागरहित नहीं होती । रागसे चित्तका भ्रमण होता है; चित्तके भ्रमणसे कर्मबन्ध होता है । इसलिए इन अनर्थोंकी परम्पराका मूल कारण राग ही है ।[2] १६८ ।

गाथा १६९

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसलिए [निवृत्तिकामः] मोक्षार्थी जीव [निस्सङ्गः] निःसंग [च] और [निर्ममः] निर्मम [भूत्वा पुनः] होकर [सिद्धेषु भक्तिं]

---

१. बुद्धिप्रसार=विकल्पोंका विस्तार; चित्तका भ्रमण; मनका भटकना; मनकी चंचलता ।

२. इस गाथाकी श्री जयसेनाचार्यदेवविरचित टीकामें निम्नानुसार विवरण दिया गया है:—

मात्र नित्यानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे निज आत्माको जो जीव नहीं भाता, उस जीवको माया-मिथ्या-निदानशल्यत्रयादिक समस्तविभावरूप बुद्धिप्रसार रोका नहीं जा सकता और वह न रुकनेसे (अर्थात् बुद्धिप्रसारका निरोध न होनेसे) शुभाशुभ कर्मका संवर नहीं होता; इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि समस्त अनर्थपरम्पराओंका रागादिविकल्प ही मूल है ।

ते कारणे मोक्षेच्छु जीव असंग ने निर्मम बनी ।
सिद्धो तणी भक्ति करे, उपलब्धि जेथी मोक्षनी ।।१६९।।

रागकलिनिःशेषीकरणस्य करणीयत्वाख्यानमेतत् । यतो रागाद्यनुवृत्तौ चित्तोद्भ्रान्तिः, चित्तोद्भ्रान्तौ कर्मबन्ध इत्युक्तम्, ततः खलु मोक्षार्थिना कर्मबन्धमूलचित्तोद्भ्रान्तिमूलभूता रागाद्यनुवृत्तिरेकान्तेन निःशेषीकरणीया । निःशेषितायां तस्यां प्रसिद्धनैःसङ्ग्यनैर्मम्यः शुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपां पारमार्थिकीं सिद्धभक्तिमनुबिभ्राणः प्रसिद्धस्वसमयप्रवृत्तिर्भवति । तेन कारणेन स एव निःशेषितकर्मबन्धः सिद्धिमवाप्नोतीति ।। १६९ ।।

सिद्धोंकी भक्ति (–शुद्धात्मद्रव्यमें स्थिरतारूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति) [करोति] करता है, [तेन] इसलिए वह [निर्वाणं प्राप्नोति] निर्वाणको प्राप्त करता है ।

टीका:—यह, रागरूप क्लेशका [1]निःशेष नाश करनेयोग्य होनेका निरूपण है ।

रागादिपरिणति होनेसे चित्तका भ्रमण होता है और चित्तका भ्रमण होनेसे कर्मबन्ध होता है ऐसा (पहले) कहा गया, इसलिए मोक्षार्थीको कर्मबन्धका मूल ऐसा जो चित्तका भ्रमण उसके मूलभूत रागादिपरिणतिका एकान्तसे निःशेष नाश करनेयोग्य है । उसका निःशेष नाश किया जानेसे, जिसे [2]निःसंगता और [3]निर्ममता प्रसिद्ध हुई है ऐसा वह जीवशुद्धात्मद्रव्यमें विश्रांतिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति धारण करता हुआ [4]स्वसमयप्रवृत्तिकी प्रसिद्धिवाला होता है । उस कारणसे वह जीव कर्मबंधका निःशेष नाश करके सिद्धिको प्राप्त करता है ।१६९।

---

१. निःशेष=सम्पूर्ण; किंचित् शेष न रहे ।

२. निःसंग आत्मतत्त्वसे विपरीत ऐसा जो बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह उससे रहित परिणति सो निःसंगता है ।

३. रागादि–उपाधिरहित चैतन्यप्रकाश जिसका लक्षण है ऐसे आत्मतत्त्वसे विपरीत मोहोदय जिसकी उत्पत्तिमें निमित्तभूत होता है ऐसे ममकार-अहंकारादिरूप विकल्पसमूहसे रहित निर्मोहपरिणति सो निर्ममता है ।

४. स्वसमयप्रवृत्तिकी प्रसिद्धिवाला=जिसे स्वसमयमें प्रवृत्ति प्रसिद्ध हुई है । [जो जीव रागादिपरिणतिका सम्पूर्ण नाश करके निःसंग और निर्मम हुआ है उस परमार्थसिद्धभक्तिवंत जीवने स्वसमयमें प्रवृत्ति सिद्ध की है इसलिए स्वसमयप्रवृत्तिके कारण वही जीव कर्मबन्धका क्षय करके मोक्षको प्राप्त करता है, अन्य नहीं ।]

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स ।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपउत्तस्स ॥ १७० ॥

सपदार्थं तीर्थकरमभिगतबुद्धेः सूत्ररोचिनः ।
दूरतरं निर्वाणं संयमतपःसम्प्रयुक्तस्य ॥ १७० ॥

अर्हदादिभक्तिरूपपरसमयप्रवृत्तेः साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परया मोक्षहेतुत्वसद्भावद्योतनमेतत् । यः खलु मोक्षार्थमुद्यतमनाः समुपार्जिताचिन्त्यसंयमतपोभारोऽप्यसंभावित-

---

गाथा १७०

अन्वयार्थः—[संयमतपःसम्प्रयुक्तस्य] संयमतपसंयुक्त होने पर भी, [सपदार्थं तीर्थंकरम्] नव पदार्थों तथा तीर्थंकरके प्रति [अभिगतबुद्धेः] जिसकी बुद्धिका झुकाव वर्तता है और [सूत्ररोचिनः] सूत्रोंके प्रति जिसे रुचि (प्रीति) वर्तती है, उस जीवको [निर्वाणं] निर्वाण [दूरतरम्] दूरतर (विशेष दूर) है ।

टीकाः—यहाँ, अर्हंतादिकी भक्तिरूप परसमयप्रवृत्तिमें साक्षात् मोक्षहेतुपनेका अभाव होने पर भी परम्परासे मोक्षहेतुपनेका [1]सद्भाव दर्शाया है ।

---

१. वास्तवमें तो ऐसा है कि—ज्ञानीको शुद्धाशुद्धरूप मिश्र पर्यायमें जो भक्ति-आदिरूप शुभ अंश वर्तता है वह तो मात्र देवलोकादिके क्लेशकी परम्पराका ही हेतु है और साथ ही साथ ज्ञानीको जो (मंदशुद्धिरूप) शुद्ध अंश परिणमित होता है वह संवरनिर्जराका तथा (उतने अंशमें) मोक्षका हेतु है । वास्तवमें ऐसा होने पर भी, शुद्ध अंशमें स्थित संवर-निर्जरा-मोक्षहेतुत्वका आरोप उसके साथके भक्ति-आदिरूप शुभ अंशमें करके उन शुभ भावोंको देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिकी परम्परा सहित मोक्षप्राप्तिके हेतुभूत कहा गया है । यह कथन आरोपसे (उपचारसे) किया गया है ऐसा समझना । [ऐसा कथंचित् मोक्षहेतुत्वका आरोप भी ज्ञानीको ही वर्तते हुए भक्ति-आदिरूप शुभ भावोंमें किया जा सकता है । अज्ञानीको तो शुद्धिका अंशमात्र भी परिणमनमें न होनेसे यथार्थ मोक्षहेतु बिलकुल प्रगट ही नहीं हुआ है—विद्यमान ही नहीं है तो फिर वहाँ उसके भक्तिआदिरूप शुभ भावोंमें आरोप किसका किया जाए ?]

संयम तथा तपयुक्तने पण दूरतर निर्वाण छे ।
सूत्रो, पदार्थो, जिनवरो प्रति चित्तमां रुचि जो रहे ॥१७०॥

परमवैराग्यभूमिकाधिरोहणसमर्थप्रभुशक्तिः पिञ्जनलग्नतूलन्यासन्यायेन नवपदार्थैः सहार्हदादिरुचिरूपां परसमयप्रवृत्तिं परित्यक्तुं नोत्सहते, स खलु न नाम साक्षान्मोक्षं लभते, किन्तु सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिरूपया परम्परया तमवाप्नोति ॥ १७० ॥

अरहंतसिद्धचेदियपवयणभत्तो परेण णियमेण ।
जो कुणदि तवोकम्मं सो सुरलोगं समादियदि ॥१७१॥

जो जीव वास्तवमें मोक्षके हेतुसे उद्यमी चित्तवाला वर्तता हुआ, अचिन्त्य संयमतपभार संप्राप्त किया होने पर भी परमवैराग्यभूमिकाका आरोहण करनेमें समर्थ ऐसी [1]प्रभुशक्ति उत्पन्न न की होनेसे, 'धुनकीको चिपकी हुई रूई'के न्यायसे, नव पदार्थों तथा अर्हंतादिकी रुचिरूप (प्रीतिरूप) परसमयप्रवृत्तिका परित्याग नहीं कर सकता, वह जीव वास्तवमें साक्षात् मोक्षको प्राप्त नहीं करता किन्तु देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिरूप परम्परा द्वारा उसे प्राप्त करता है । १७० ।

---

१. प्रभुशक्ति=प्रबल शक्ति; उग्रशक्ति; प्रचुर शक्ति । [जिस ज्ञानी जीवने परम उदासीनताको प्राप्त करनेमें समर्थ ऐसी प्रभुशक्ति उत्पन्न नहीं की वह ज्ञानी जीव कदाचित् शुद्धात्मभावनाको अनुकूल, जीवादिपदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाले आगमोंके प्रति रुचि (प्रीति) करता है; कदाचित् (जिसप्रकार कोई रामचन्द्रादि पुरुष देशांतरस्थित सीतादि स्त्रीके पाससे आए हुए मनुष्योंको प्रेमसे सुनता है, उनका सन्मानादि करता है और उन्हें दान देता है उसी प्रकार) निर्दोष-परमात्मा तीर्थंकरपरमदेवोंके और गणधर-देव-भरत-सगर-राम-पांडवादि महापुरुषोंके चरित्रपुराण शुभ धर्मानुरागसे सुनता है तथा कदाचित् गृहस्थदशामें भेदाभेदरत्नत्रयपरिणत आचार्य-उपाध्याय-साधुके पूजनादि करता है और उन्हें दान देता है—इत्यादि शुभभाव करता है । इसप्रकार जो ज्ञानी जीव शुभ रागको सर्वथा नहीं छोड़ सकता, वह साक्षात् मोक्षको प्राप्त नहीं करता परन्तु देवलोकादिके क्लेशकी परम्पराको पाकर फिर चरम देहसे निर्विकल्पसमाधिविधान द्वारा विशुद्धदर्शनज्ञानस्वभाववाले निजशुद्धात्मामें स्थिर होकर उसे (मोक्षको) प्राप्त करता है ।]

जिन-सिद्ध-प्रवचन-चैत्य प्रत्ये भक्ति धारी मन विषे ।
संयम परम सह तप करे, ते जीव पामे स्वर्गने ॥ १७१ ॥

अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनभक्तः परेण नियमेन ।
यः करोति तपःकर्म स सुरलोकं समादत्ते ॥ १७१ ॥

अर्हदादिभक्तिमात्ररागजनितसाक्षान्मोक्षस्यान्तरायद्योतनमेतत् । यः खल्वर्हदादिभक्तिविधेयबुद्धिः सन् परमसंयमप्रधानमतितीव्रं तपस्तप्यते, स तावन्मात्ररागकलिकलङ्कितस्वान्तः साक्षान्मोक्षस्यान्तरायीभूतं विषयविषद्रुमामोदमोहितान्तरङ्गं स्वर्गलोकं समासाद्य, सुचिरं रागाङ्गारैः पच्यमानोऽन्तस्ताम्यतीति ॥१७१॥

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि ॥ १७२ ॥

गाथा १७१

अन्वयार्थः—[यः] जो (जीव), [अर्हत्सिद्धचैत्यप्रवचनभक्तः] अर्हंत, सिद्ध, चैत्य (–अर्हंतादिकी प्रतिमा) और प्रवचन (–शास्त्र)के प्रति भक्तियुक्त वर्तता हुआ, [परेण नियमेन] परम संयम सहित [तपःकर्म] तपकर्म (–तपरूप कार्य) [करोति] करता है, [सः] वह [सुरलोकं] देवलोकको [समादत्ते] सम्प्राप्त करता है ।

टीकाः—यह, मात्र अर्हंतादिकी भक्ति जितने रागसे उत्पन्न होनेवाला जो साक्षात् मोक्षका अंतराय उसका प्रकाशन है ।

जो (जीव) वास्तवमें अर्हंतादिकी भक्तिके आधीन बुद्धिवाला वर्तता हुआ [1]परमसंयमप्रधान अतितीव्र तप तपता है, वह (जीव), मात्र उतने रागरूप क्लेशसे जिसका निज अन्तःकरण कलंकित (–मलिन) है ऐसा वर्तता हुआ, विषयविषवृक्षके [2]आमोदसे जहाँ अन्तरंग (–अन्तःकरण) मोहित होता है ऐसे स्वर्गलोकको—जो कि साक्षात् मोक्षको अन्तरायभूत है उसे—संप्राप्त करके, सुचिरकाल पर्यंत (–बहुत लम्बे काल तक) रागरूपी अंगारोंसे दह्यमान हुआ अंतरमें संतप्त (–दुःखी, व्यथित) होता है । १७१ ।

---

१. परमसंयमप्रधान=जिसमें उत्कृष्ट संयम मुख्य हो ऐसा ।

२. आमोद=(१) सुगन्ध; (२) मौज ।

तेथी न करवो राग जरीये क्यांय पण मोक्षेच्छुए ।
वीतराग थईने ए रीते ते भव्य भवसागर तरे ॥ १७२ ॥

तस्मान्निर्वृत्तिकामो रागं सर्वत्र करोतु मा किञ्चित् ।
स तेन वीतरागो भव्यो भवसागरं तरति ॥ १७२ ॥

साक्षान्मोक्षमार्गसारसूचनद्वारेण शास्त्रतात्पर्योपसंहारोऽयम् । साक्षान्मोक्षमार्गपुरस्सरं हि वीतरागत्वम् । ततः खल्वर्हदादिगतमपि रागं चन्दननगसङ्गतमग्निमिव सुरलोकादिक्लेशप्राप्त्याऽत्यन्तमन्तर्दाहाय कल्पमानमाकलय्यसाक्षान्मोक्षकामो महाजनः समस्तविषयमपि रागमुत्सृज्यात्यन्तवीतरागो भूत्वा समुच्छलज्ज्वलद्दुःखसौख्यकल्लोलं कर्माग्नितप्तकलकलोदभारप्राग्भारभयङ्करं भवसागरमुत्तीर्य, शुद्धस्वरूपपरमामृतसमुद्रमध्यास्य सद्यो निर्वाति ॥

गाथा १७२

अन्वयार्थः—[तस्मात्] इसलिए [निर्वृत्तिकामः] मोक्षाभिलाषी जीव [सर्वत्र] सर्वत्र [किञ्चित् रागं] किंचित् भी राग [मा करोतु] न करो; [तेन] ऐसा करनेसे [सः भव्यः] वह भव्य जोव [वीतरागः] वीतराग होकर [भवसागरं तरति] भवसागरको तरता है ।

टीकाः— यह, साक्षात्‌मोक्षमार्गके सार-सूचन द्वारा शास्त्रतात्पर्यरूप उपसंहार है (अर्थात् यहाँ साक्षात्‌मोक्षमार्गका सार क्या है उसके कथन द्वारा शास्त्रका तात्पर्य कहनेरूप उपसंहार किया है) ।

साक्षात्‌मोक्षमार्गमें अग्रसर सचमुच वीतरागपना है । इसलिए वास्तवमें [1]अर्हंतादिगत रागको भी, चन्दनवृक्षसंगत अग्निकी भाँति, देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तर्दाहका कारण समझकर, साक्षात् मोक्षका अभिलाषी महाजन सबकी ओरके रागको छोड़कर, अत्यन्त वीतराग होकर, जिसमें उबलती हुई दुःखसुखकी कल्लोलें उछलती हैं और जो कर्माग्नि द्वारा तप्त, खलबलाते हुए जलसमूहकी अतिशयतासे भयंकर है ऐसे भवसागरको पार उतरकर, शुद्धस्वरूप परमामृतसमुद्रको अवगाह कर, शीघ्र निर्वाणको प्राप्त करता है ।

---

१. अर्हंतादिगत राग=अर्हंतादिकी ओरका राग; अर्हंतादिविषयक राग; अर्हंतादिका राग । [जिसप्रकार चन्दनवृक्षकी अग्नि भी उग्ररूपसे जलाती है, उसीप्रकार अर्हंतादिका राग भी देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्ति द्वारा अत्यन्त अन्तरंग जलनका कारण होता है ।]

अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति। द्विविधं किलतात्पर्यम्—सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यञ्चेति। तत्र सूत्रतात्पर्यं प्रतिसूत्रमेव प्रतिपादितम्। शास्त्रतात्पर्यंत्विदं प्रतिपाद्यते। अस्य खलु पारमेश्वरस्यशास्त्रस्य, सकलपुरुषार्थसारभूतमोक्षतत्त्वप्रतिपत्तिहेतोःपञ्चास्तिकायषड्द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेनोपदर्शितसमस्तवस्तुस्वभावस्य, नवपदार्थप्रपञ्चसूचनाविष्कृतबन्धमोक्षसंबन्धिबंधमोक्षायतनबन्धमोक्षविकल्पस्य, सम्यगावेदितनिश्चयव्यवहाररूपमोक्षमार्गस्य, साक्षान्मोक्षकारणभूतपरमवीतरागत्वविश्रांतसमस्तहृदयस्य,

---

—विस्तारसे बस हो। जयवंत वर्ते वीतरागता जो कि साक्षात्‌मोक्षमार्गका सार होनेसे शास्त्रतात्पर्यभूत है।

तात्पर्य द्विविध होता है: [1]सूत्रतात्पर्य और शास्त्रतात्पर्य। उसमें, सूत्रतात्पर्य प्रत्येकसूत्रमें (प्रत्येकगाथामें) प्रतिपादित किया गया है; और शास्त्रतात्पर्य अब प्रतिपादित किया जाता है:—

सर्व [2]पुरुषार्थोंमें सारभूत ऐसे मोक्षतत्त्वका प्रतिपादन करनेके हेतुसे जिसमें पंचास्तिकाय और षड्‌द्रव्यके स्वरूपके प्रतिपादन द्वारा समस्त वस्तुका स्वभाव दर्शाया गया है, नव पदार्थोंके विस्तृत कथन द्वारा जिसमें बन्धमोक्षके सम्बन्धी (स्वामी), बन्ध-मोक्षके आयतन (स्थान) और बंध-मोक्षके विकल्प (भेद) प्रगट किए गए हैं, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्गका जिसमें सम्यक् निरूपण किया गया है तथा साक्षात् मोक्षके कारणभूत परमवीतरागपनेमें जिसका समस्त हृदय स्थित है—ऐसे इस यथार्थ [3]पारमेश्वर शास्त्रका, परमार्थसे वीतरागपना ही तात्पर्य है।

सो इस वीतरागपनेका व्यवहार-निश्चयके [4]अविरोध द्वारा ही अनुसरण किया जाए तो इष्टसिद्धि होती है, परन्तु अन्यथा नहीं (अर्थात् व्यवहार और निश्चयकी

---

१. प्रत्येक गाथासूत्रका तात्पर्य सो सूत्रतात्पर्य है और सम्पूर्ण शास्त्रका तात्पर्य सो शास्त्रतात्पर्य है।

२. पुरुषार्थ=पुरुष-अर्थ; पुरुष-प्रयोजन। [पुरुषार्थोंके चार विभाग किए जाते हैं: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; परन्तु सर्व पुरुष-अर्थोंमें मोक्ष ही सारभूत (तात्त्विक) पुरुष-अर्थ है।]

३. पारमेश्वर=परमेश्वरके; जिनभगवानके; भागवत; दैवी; पवित्र।

४. छठवें गुणस्थानमें मुनियोग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना तथा महाव्रतादिसम्बन्धी शुभभाव यथायोग्यरूपसे होना वह निश्चयव्यवहारके अविरोधका (सुमेलका) उदाहरण है। पाँचवें गुणस्थानमें उस गुणस्थानके योग्य शुद्धपरिणति निरन्तर होना तथा देशव्रतादिसम्बन्धी शुभभाव यथायोग्यरूपसे होना वह भी निश्चय-व्यवहारके अविरोधका उदाहरण है।

परमार्थतो वीतरागत्वमेव तात्पर्यमिति । तदिदं वीतरागत्वं व्यवहारनिश्चयाविरोधेनैवानुगम्यमानं भवति समीहितसिद्धये, न पुनरन्यथा । व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः । तथा हीदं श्रद्धेयमिदमश्रद्धेयमयं श्रद्धातेदं श्रद्धानमिदं ज्ञेयमिदमज्ञेयमयं ज्ञातेदं ज्ञानमिदं चरणीयमिदमचरणीयमयं चरितेदं चरणमिति कर्तव्याकर्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः शनैःशनैर्मोहमल्लमुन्मूलयन्तः,

---

सुसंगतता रहे इसप्रकार वीतरागपनेका अनुसरण किया जाए तभी इच्छितकी सिद्धि होती है, अन्य प्रकारसे नहीं होती) ।

(उपरोक्त वात विशेप समझाई जाती है:—)

अनादि कालसे भेदवासित बुद्धि होनेके कारण प्राथमिक जीव व्यवहारनयसे [1]भिन्नसाध्यसाधनभावका अवलम्बन लेकर [2]सुखसे तीर्थका प्रारम्भ करते हैं (अर्थात् सुगमरूपसे मोक्षमार्गकी प्रारम्भभूमिकाका सेवन करते हैं) । जैसे कि—"(१) यह श्रद्धेय (श्रद्धा करनेयोग्य) है, (२) यह अश्रद्धेय है, (३) यह श्रद्धा करनेवाला है और (४) यह श्रद्धान है; (१) यह ज्ञेय (जाननेयोग्य) है, (२) यह अज्ञेय है, (३) यह ज्ञाता है और (४) यह ज्ञान है; (१) यह आचरणीय (आचरण करनेयोग्य) है, (२) यह अनाचरणीय है, (३) यह आचरण करनेवाला है और (४) यह आचरण है;"—इसप्रकार (१) कर्तव्य (करनेयोग्य), (२) अकर्तव्य, (३) कर्ता और (४) कर्मरूप विभागोंके अवलोकन द्वारा जिन्हें कोमल उत्साह उल्लसित होता है ऐसे वे (प्राथमिक जीव) धीरे-धीरे मोहमल्लको (रागादिको) उखाड़ते जाते हैं; कदाचित् अज्ञानके कारण (—स्वसंवेदन-

---

१. मोक्षमार्गप्राप्त ज्ञानी जीवोंको प्राथमिक भूमिकामें, साध्य तो परिपूर्ण शुद्धतारूपसे परिणत आत्मा है और उसका साधन व्यवहारनयसे (आंशिक शुद्धिके साथ-साथ रहनेवाले) भेदरत्नत्रयरूप परावलम्बी विकल्प कहे जाते हैं । इसप्रकार उन जीवोंको व्यवहारनयसे साध्य और साधन भिन्न प्रकारके कहे गए हैं । (निश्चयनयसे साध्य और साधन अभिन्न होते हैं ।)

२. सुखसे=सुगमतासे, सहजरूपसे, कठिनाई विना । [जिन्होंने द्रव्यार्थिकनयके विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपके श्रद्धानादि किए हैं ऐसे सम्यग्ज्ञानी जीवोंको तीर्थसेवनकी प्राथमिक दशामें (—मोक्षमार्गसेवनकी प्रारम्भिक भूमिकामें) आंशिक शुद्धिके साथ-साथ श्रद्धानचारित्र सम्बन्धी परावलम्बी विकल्प (भेदरत्नत्रय) होते हैं, क्योंकि अनादि कालसे जीवोंको जो भेदवासनासे वासित परिणति चली आ रही है उसका तुरन्त ही सर्वथा नाश होना कठिन है] ।

कदाचिदज्ञानान्मदप्रमादतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्याय्यपथप्रवर्तनाय प्रयुक्त-प्रचण्डदण्डनीतयः, पुनः पुनः दोषानुसारेण दत्तप्रायश्चित्ताः सन्ततोद्यताः सन्तोऽथ तस्यैवात्मनो भिन्नविषयश्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातल-स्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोपपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहितत्वरूपे विश्रान्तसकलक्रिया-काण्डाडम्बरनिस्तरङ्गपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्र-

---

ज्ञानके अभावके कारण) मद (कषाय) और प्रमादके वश होनेसे अपना आत्म-अधिकार (आत्मामें अधिकार) शिथिल हो जानेसे अपनेको न्यायमार्गमें प्रवर्तित करनेके लिए वे प्रचण्ड दण्डनीतिका प्रयोग करते हैं; पुनः पुनः (अपने आत्माको) दोषानुसार प्रायश्चित्त देते हुए वे सतत उद्यमवंत वर्तते हैं; और [1]भिन्नविषयवाले श्रद्धान-ज्ञानचारित्र द्वारा (—आत्मासे भिन्न जिसके विषय हैं ऐसे भेदरत्नत्रय द्वारा) जिसमें संस्कार आरोपित होते जाते हैं ऐसे भिन्नसाध्यसाधनभाववाले अपने आत्मामें— धोबी द्वारा शिलाकी सतह पर पछाड़े जानेवाले, निर्मल जल द्वारा भिगोए जानेवाले और क्षार (साबुन) लगाए जानेवाले मलिन वस्त्रकी भाँति—कुछ-कुछ [2]विशुद्धि प्राप्त करके, उसी अपने आत्माको निश्चयनयसे भिन्नसाध्यसाधनभावके अभावके कारण, दर्शनज्ञानचारित्रका समाहितपना (अभेदपना) जिसका रूप है, सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरकी निवृत्तिके कारण (—अभावके कारण) जो निस्तरंग परमचैतन्यशाली है

---

१. व्यवहार-श्रद्धानज्ञानचारित्रके विषय आत्मासे भिन्न हैं; क्योंकि व्यवहारश्रद्धानका विषय नव पदार्थ हैं, व्यवहारज्ञानका विषय अंग-पूर्व हैं और व्यवहारचारित्रका विषय आचारादिसूत्रकथित मुनि-आचार हैं।

२. जिसप्रकार धोबी पाषाणशिला, पानी और साबुन द्वारा मलिन वस्त्रकी शुद्धि करता जाता है, उसीप्रकार प्राक्पदवीस्थित ज्ञानी जीव भेदरत्नत्रय द्वारा अपने आत्मामें संस्कारको आरोपण करके उसकी थोड़ी-थोड़ी शुद्धि करता जाता है ऐसा व्यवहारनयसे कहा जाता है। परमार्थ ऐसा है कि उस भेदरत्नत्रयवाले ज्ञानी जीवको शुभभावोंके साथ जो शुद्धात्मस्वरूपका आंशिक आलम्बन वर्तता है वही उग्र होते-होते विशेष शुद्धि करता जाता है। इसलिए वास्तवमें तो, शुद्धात्मस्वरूपका आलम्बन करना ही शुद्धि प्रगट करनेका साधन है और उस आलम्बन की उग्रता करना ही शुद्धिकी वृद्धि करनेका साधन है। साथ रहे हुए शुभभावोंको शुद्धिकी वृद्धिका साधन कहना वह तो मात्र उपचारकथन है। शुद्धिकी वृद्धिके उपचरितसाधनपनेका आरोप भी उसी जीवके शुभभावोंमें आ सकता है कि जिस जीवने शुद्धिकी वृद्धिका यथार्थ साधन (—शुद्धात्म-स्वरूपका यथोचित आलम्बन) प्रगट किया हो।

यन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य, साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति ॥

अथ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेनाऽनवरतं नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतसः प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकल्मापितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोड्डमराचलिताः, कदाचित्किञ्चिद्रोचमानाः, कदाचित् किञ्चिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किञ्चिदाचरन्तः,

---

तथा जो निर्भर आनन्दसे समृद्ध है ऐसे भगवान आत्मामें विश्रांति रचते हुए (अर्थात् दर्शनज्ञानचारित्रके ऐक्यस्वरूप, निर्विकल्प परमचैतन्यशाली तथा भरपूर-आनन्दयुक्त ऐसे भगवान आत्मामें अपनेको स्थिर करते हुए), क्रमशः समरसीभाव समुत्पन्न होता जाता है इसलिए परम वीतरागभावको प्राप्त करके साक्षात् मोक्षका अनुभव करते हैं।

[अब केवलव्यवहारावलम्बी (अज्ञानी) जीवोंका प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है :—]

परन्तु जो केवलव्यवहारावलम्बी (मात्र व्यवहारका अवलम्बन करनेवाले) हैं वे वास्तवमें [1]भिन्नसाध्यसाधनभावके अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए, (१) पुनः पुनः धर्मादिके श्रद्धानरूप अध्यवसानमें उनका चित्त लगता रहनेसे, (२) बहुत श्रुतके (द्रव्यश्रुतके) संस्कारोंसे उठनेवाले विचित्र (अनेक प्रकारके) विकल्पोंके जाल द्वारा उनकी चैतन्यवृत्ति चित्र-विचित्र होती है इसलिए और (३) समस्त यति-आचारके समुदायरूप तपमें प्रवर्तनरूप कर्मकाण्डकी धमालमें वे अचलित रहते हैं इसलिए, (१) कभी किसीकी (किसी विषयकी) रुचि करते हैं, (२) कभी किसीके (किसी विषयके) विकल्प करते हैं और (३) कभी कुछ

---

१. वास्तवमें साध्य और साधन अभिन्न होते हैं। जहाँ साध्य और साधन भिन्न कहे जायें वहाँ "यह सत्यार्थ निरूपण नहीं है किन्तु व्यवहारनय द्वारा उपचरित निरूपण किया है"—ऐसा समझना चाहिए। केवलव्यवहारावलम्बी जीव इस बातकी गहराईसे श्रद्धा न करते हुए अर्थात् "वास्तवमें शुभभावरूप साधनसे ही शुद्धभावरूप साध्य प्राप्त होगा" ऐसी श्रद्धाका गहराईमें सेवन करते हुए निरन्तर अत्यन्त खेद प्राप्त करते हैं। [विशेषके लिए २३३ वें पृष्ठकी पहली तथा चौथी टिप्पणी देखें।]

दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्तः, कदाचित्संविजमानाः, कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः, शङ्काकाङ्क्षाविचिकित्सामूढदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकराः, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनां भावयमाना वारंवारमभिवर्धितोत्साहा, ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तो, बहुधा विनयं प्रपञ्चयन्तः, प्रविहितदुर्धरोपधानाः, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तो निह्नवापत्तिं नितरां निवारयन्तोऽर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धौ नितान्तसावधानाः, चारित्राचरणाय हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहसमस्तविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु तन्निष्ठवृत्तयः, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणासु गुप्तिषु नितान्तं गृहीतोद्योगा, ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समितिष्वत्यन्तनिवेशितप्रयत्नाः, तपआचरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशेष्वभीक्ष्णमुत्सहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गस्वाध्यायध्यानपरिकरांकुशितस्वान्ता, वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणाः, कर्मचेतना-

---

आचरण करते हैं; दर्शनाचरणके लिए—वे कदाचित् प्रशमित होते हैं, कदाचित् संवेगको प्राप्त होते हैं, कदाचित् अनुकम्पित होते हैं, कदाचित् आस्तिक्यको धारण करते हैं, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा और मूढ़दृष्टिताके उत्थानको रोकनेके हेतु नित्य कटिबद्ध रहते हैं, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावनाको भाते हुए बारम्बार उत्साहको बढ़ाते हैं; ज्ञानाचरणके लिए—स्वाध्यायकालका अवलोकन करते हैं, बहु प्रकारसे विनयका विस्तार करते हैं, दुर्धर उपधान करते हैं, भलीभाँति बहुमानको प्रसरित करते हैं, निह्नवदोषको अत्यन्त निवारते हैं, अर्थ, व्यंजन और [1]तदुभयकी शुद्धिमें अत्यन्त सावधान रहते हैं; चारित्राचरणके लिए—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहकी सर्वविरतिरूप पंचमहाव्रतोंमें तल्लीन वृत्तिवाले रहते हैं, सम्यक् योगनिग्रह जिनका लक्षण है (—योगका बराबर निरोध करना जिनका लक्षण है) ऐसी गुप्तियोंमें अत्यन्त उद्योग रखते हैं, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्गरूप समितियोंमें प्रयत्नको अत्यन्त युक्त करते हैं, तपाचरणके लिए—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेशमें सतत उत्साहित रहते हैं, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यानरूप [2]परिकर द्वारा निज अन्तःकरणको अंकुशित रखते हैं; वीर्याचरणके लिए—कर्मकाण्डमें सर्व शक्ति द्वारा [3]व्यापृत रहते हैं; ऐसा करते हुए कर्मचेतनाप्रधानपनेके कारण—

---

१. तदुभय=उन दोनों (अर्थात् अर्थ तथा व्यंजन दोनों).
२. परिकर=समूह; सामग्री।
३. व्यापृत=रुके; गुँथे; लगे; मशगूल; मग्न।

प्रधानत्वाद्दूरनिवारिताऽशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः, सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागप्यसंभावयन्तः, प्रभूतपुण्यभारमन्थरितचित्तवृत्तयः, सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्तीति । उक्तं च—
"चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति ॥"

यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्तिका उन्होंने अत्यन्त निवारण किया है तथापि—शुभकर्मप्रवृत्तिको जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है ऐसे वे, सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको किंचित् भी उत्पन्न न करते हुए, बहुत पुण्यके भारसे [1]मंथर हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिकी परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक संसारसागरमें भ्रमण करते हैं। कहा भी है कि—[2]चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा । चरणकरणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण जाणंति ॥ [अर्थात् जो चरणपरिणामप्रधान हैं और स्वसमयरूप परमार्थमें व्यापाररहित हैं, वे चरणपरिणामका सार जो निश्चयशुद्ध (आत्मा) उसे नहीं जानते ।][3]

---

१. मंथर=मंद; जड़; सुस्त ।

२. इस गाथाकी संस्कृत छाया इसप्रकार है:—चरणकरणप्रधानाः स्वसमयपरमार्थमुक्तव्यापाराः । चरणकरणस्य सारं निश्चयशुद्धं न जानन्ति ॥

३. श्री जयसेनाचार्यदेवकृत तात्पर्यवृत्ति-टीकामें व्यवहार-एकान्तका निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है:—

जो जीव विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाववाले शुद्धात्मतत्त्वके सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप निश्चय-मोक्षमार्गसे निरपेक्ष केवलशुभानुष्ठानरूप व्यवहारनयको ही मोक्षमार्ग मानते हैं, वे उसके द्वारा देवलोकादिके क्लेशकी परम्परा प्राप्त करते हुए संसारमें परिभ्रमण करते हैं; किन्तु यदि शुद्धात्मानुभूतिलक्षण निश्चयमोक्षमार्गको मानें और निश्चयमोक्षमार्गका अनुष्ठान करनेकी शक्तिके अभावके कारण निश्चयसाधक शुभानुष्ठान करें, तो वे सराग सम्यग्दृष्टि हैं और परम्परासे मोक्ष प्राप्त करते हैं।—इसप्रकार व्यवहार-एकान्तके निराकरणकी मुख्यतासे दो वाक्य कहे गये ।

[यहाँ जो 'सराग सम्यग्दृष्टि' जीव कहे उन जीवोंको सम्यग्दर्शन तो यथार्थ ही प्रगट हुआ है परन्तु चारित्र-अपेक्षासे उन्हें मुख्यतः रागका अस्तित्व होनेसे 'सराग सम्यग्दृष्टि' कहा है ऐसा

येऽत्र केवलनिश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलित-विलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्य यथासुखमासते, ते खल्ववधीरितभिन्नसाध्यसाधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमाना अन्तराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालसचेतसो मत्ता इव,

---

[अब केवलनिश्चयावलम्बी (अज्ञानी) जीवोंका प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है :—]

अब, जो केवलनिश्चयावलम्बी हैं, सकल क्रियाकर्मकाण्डके आडम्बरमें विरक्त बुद्धिवाले वर्तते हुए, आँखोंको अधमुँदा रखकर कुछ भी स्वबुद्धिसे अवलोक कर [1]यथासुख रहते हैं (अर्थात् स्वमतिकल्पनासे कुछ भी भासकी कल्पना करके इच्छानुसार—जैसे सुख उत्पन्न हो वैसे—रहते हैं), वे वास्तवमें [2]भिन्नसाध्यसाधन-भावको तिरस्कारते हुए, अभिन्नसाध्यसाधनभावको उपलब्ध न करते हुए, अंतरालमें ही (–शुभ तथा शुद्धके अतिरिक्त शेष तीसरी अशुभदशामें ही), प्रमादमदिराके मदसे

समझना। और उन्हें जो शुभ अनुष्ठान है वह मात्र उपचारसे ही 'निश्चयसाधक (–निश्चयके साधनभूत)' कहा गया है ऐसा समझना।]

१. यथासुख=इच्छानुसार; जैसे सुख उत्पन्न हो वैसे, यथेच्छरूपसे। [जिन्हें द्रव्यार्थिकनयके (निश्चयनयके) विषयभूत शुद्धात्मद्रव्यका सम्यक् श्रद्धान या अनुभव नहीं है तथा उसके लिए उत्सुकता चाह या प्रयत्न नहीं है, ऐसा होने पर भी जो निज कल्पनासे अपनेमें किंचित् भास होनेकी कल्पना करके निश्चितरूपसे स्वच्छन्दपूर्वक वर्तते हैं, "ज्ञानी मोक्षमार्गी जीवोंको प्राथमिक दशामें आंशिक शुद्धिके साथ-साथ भूमिकानुसार शुभभाव भी होते हैं"—इस बातकी श्रद्धा नहीं करते, उन्हें यहाँ केवलनिश्चयावलम्बी कहा है।]

२. मोक्षमार्गी ज्ञानी जीवोंको सविकल्प प्राथमिक दशामें (छठवें गुणस्थान तक) व्यवहारनयकी अपेक्षासे भूमिकानुसार भिन्नसाध्यसाधनभाव होते हैं अर्थात् भूमिकानुसार नव पदार्थों सम्बन्धी, अंग-पूर्व सम्बन्धी और श्रावक-मुनिके आचार सम्बन्धी शुभभाव होते हैं।—यह बात केवल-निश्चयावलम्बी जीव नहीं मानते अर्थात् (आंशिक शुद्धिके साथकी) शुभभाववाली प्राथमिक दशाको वे नहीं श्रद्धते और स्वयं अशुभ भावोंमें वर्तते होने पर भी अपनेमें उच्च शुद्ध दशाकी कल्पना करके स्वच्छन्दी रहते हैं।

मूर्च्छिता इव, सुषुप्ता इव, प्रभूतघृतसितोपलपायसासादितसौहित्या इव, समुल्बणबलसञ्जनितजाड्या इव, दारुणमनोभ्रंशविहित मोहा इव, मुद्रितविशिष्टचैतन्या वनस्पतय इव, मौनीन्द्रीं कर्मचेतनां पुण्यबन्धभयेनानवलम्बमाना अनासादितपरमनैष्कर्म्यरूपज्ञानचेतनाविश्रान्तयो व्यक्ताव्यक्तप्रमादतन्त्रा अरमागतकर्मफलचेतनाप्रधानवृत्तयो वनस्पतय इव केवलं पापमेव बध्नन्ति। उक्तं च—"णिच्छयमालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता। णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई" ॥

भरे हुए आलसी चित्तवाले वर्तते हुए, मत्त (उन्मत्त) जैसे, मूर्च्छित जैसे, सुषुप्त जैसे, बहुत घी-शक्कर-खीर खाकर तृप्तिको प्राप्त हुए (-तृप्त हुए) हों ऐसे, मोटे शरीरके कारण जड़ता (-मंदता, निष्क्रियता) उत्पन्न हुई हो ऐसे, दारुण बुद्धिभ्रंशसे मूढ़ता हो गई हो ऐसे, जिसका विशिष्टचैतन्य मुँद गये हैं ऐसी वनस्पति जैसे, मुनीन्द्रकी कर्मचेतनाको [1]पुण्यबन्धके भयसे न अवलम्बते हुए और परम नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतनामें विश्रान्तिको प्राप्त न होते हुए, (मात्र) व्यक्त-अव्यक्त प्रमादके आधीन वर्तते हुए, प्राप्त हुए हलके (निकृष्ट) कर्मफलकी चेतनाके प्रधानपनेवाली प्रवृत्ति जिसे वर्तती है ऐसी वनस्पतिकी भाँति, केवल पापको ही बाँधते हैं। कहा भी है कि:— [2]णिच्छयमालम्बंता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता। णासंति चरणकरणं बाहरिचरणालसा केई ॥ [अर्थात् निश्चयका अवलम्बन लेनेवाले परन्तु निश्चयसे (वास्तवमें) निश्चयको न जाननेवाले कुछ जीव बाह्य चरणमें आलसी वर्तते हुए चरणपरिणामका नाश करते हैं।][3]

---

१. केवलनिश्चयावलम्बी जीव पुण्यबन्धके भयसे डरकर मंदकषायरूप शुभभाव नहीं करते और पापबन्धके कारणभूत अशुभभावोंका सेवन तो करते रहते हैं। इसप्रकार वे पापबन्ध ही करते हैं।

२. इस गाथाकी संस्कृत छाया इसप्रकार है:—निश्चयमालम्बन्तो निश्चयतो निश्चयमजानन्तः। नाशयन्ति चरणकरणं बाह्यचरणालसाः केऽपि ॥

३. श्री जयसेनाचार्यदेवरचित टीकामें (व्यवहार-एकान्तका स्पष्टीकरण करनेके पश्चात् तुरन्त ही) निश्चय-एकान्तका निम्नानुसार स्पष्टीकरण किया गया है:—

और जो केवलनिश्चयावलम्बी वर्तते हुए रागादिविकल्परहित परमसमाधिरूप शुद्ध आत्माको उपलब्ध न करते होने पर भी, मुनिको (व्यवहारसे) आचरनेयोग्य षड्आवश्यकादिरूप

ये तु पुनरपुनर्भवाय नित्यविहितोद्योगमहाभागा भगवन्तो निश्चयव्यवहारयोरन्यतरा-नवलम्बनेनात्यन्तमध्यस्थीभूताः शुद्धचैतन्यरूपात्मतत्त्वविश्रान्तिविरचनोन्मुखाः प्रमादोदयानु-

[अब निश्चय-व्यवहार दोनोंका [1]सुमेल रहे इसप्रकार भूमिकानुसार प्रवर्तन करनेवाले ज्ञानी जीवोंका प्रवर्तन और उसका फल कहा जाता है:—]

परन्तु जो, अपुनर्भवके (मोक्षके) लिये नित्य उद्योग करनेवाले [2]महाभाग भगवन्तों, निश्चय-व्यवहारमेंसे किसी [3]एकका ही अवलम्बन न लेनेसे (—केवलनिश्चया-

अनुष्ठानको तथा श्रावकको (व्यवहारसे) आचरनेयोग्य दानपूजादिरूप अनुष्ठानको दूषण देते हैं, वे भी उभयभ्रष्ट वर्तते हुए, निश्चयव्यवहार-अनुष्ठानयोग्य अवस्थान्तरको न जानते हुए पापको ही बांधते हैं (अर्थात् मात्र निश्चय-अनुष्ठानरूप शुद्ध अवस्थासे भिन्न ऐसी जो निश्चय-अनुष्ठान और व्यवहार-अनुष्ठानवाली मिश्र अवस्था उसे न जानते हुए पापको ही बांधते हैं); परन्तु यदि शुद्धात्मानुष्ठानरूप मोक्षमार्गको और उसके साधकभूत (व्यवहारसाधनरूप) व्यवहारमोक्ष-मार्गको मानें, तो भले चारित्रमोहके उदयके कारण शक्तिका अभाव होनेसे शुभ-अनुष्ठान रहित हों तथापि—यद्यपि वे शुद्धात्मभावनासापेक्ष शुभ-अनुष्ठानरत पुरुषों जैसे नहीं हैं तथापि— सराग सम्यक्त्वादि द्वारा व्यवहारसम्यग्दृष्टि हैं और परम्परासे मोक्ष प्राप्त करते हैं ।— इसप्रकार निश्चय-एकान्तके निराकरणकी मुख्यतासे दो वाक्य कहे गये ।

[यहाँ जिन जीवोंको 'व्यवहारसम्यग्दृष्टि' कहा है वे उपचारसे सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा नहीं समझना परन्तु वे वास्तवमें सम्यग्दृष्टि हैं ऐसा समझना । उन्हें चारित्र-अपेक्षासे मुख्यतः रागादि विद्यमान होनेसे सराग सम्यक्त्ववाले कह कर 'व्यवहारसम्यग्दृष्टि' कहा है । श्री जयसेनाचार्यदेवने स्वयं ही १५०–१५१ वीं गाथाकी टीकामें कहा है कि—जब यह जीव आगमभाषासे कालादि-लब्धिरूप और अध्यात्मभाषासे शुद्धात्माभिमुख परिणामरूप स्वसंवेदनज्ञानको प्राप्त करता है तब प्रथम तो वह मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियोंके उपशम और क्षयोपशम द्वारा सराग-सम्यग्दृष्टि होता है ।]

१. निश्चय-व्यवहारके सुमेलकी स्पष्टताके लिये पृष्ठ २५८ की द्वितीय टिप्पणी देखें ।

२. महाभाग=महा पवित्र; महा गुणवान; महा भाग्यशाली ।

३. मोक्षके लिए नित्य उद्यम करनेवाले महापवित्र भगवन्तोंको (—मोक्षमार्गी ज्ञानी जीवोंको) निरन्तर शुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषयभूत शुद्धात्मस्वरूपका सम्यक् अवलम्बन वर्तता होनेसे उन जीवोंको उस अवलम्बनकी तरतमतानुसार सविकल्प दशामें भूमिकानुसार शुद्धपरिणति तथा शुभपरिणतिका यथोचित सुमेल (हठ रहित) होता है इसलिये वे जीव इस शास्त्रमें (२६४ वें पृष्ठ पर) जिन्हें केवलनिश्चयावलम्बी कहा है ऐसे केवलनिश्चयावलम्बी नहीं हैं तथा (२६० वें पृष्ठ पर) जिन्हें केवलव्यवहारावलम्बी कहा है ऐसे केवलव्यवहारावलम्बी नहीं हैं ।

वृत्तिनिवर्तिकां क्रियाकाण्डपरिणतिं माहात्म्यान्निवारयन्तोऽत्यन्तमुदासीना यथाशक्त्याऽऽत्मानमात्मनाऽऽत्मनि संचेतयमाना नित्योपयुक्ता निवसन्ति, ते खलु स्वतत्त्वविश्रान्त्यनुसारेण क्रमेण कर्माणि संन्यसन्तोऽत्यन्तनिष्प्रमादा नितान्तनिष्कम्पमूर्तयो वनस्पतिभिरुपमीयमाना अपि दूरनिरस्तकर्मफलानुभूतयः कर्मानुभूतिनिरुत्सुकाः केवलज्ञानानुभूतिसमुपजाततात्त्विकानन्दनिर्भरतरास्तरसा संसारसमुद्रमुत्तीर्य शब्दब्रह्मफलस्य शाश्वतस्य भोक्तारो भवन्तीति ।।१७२।।

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया ।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं ।। १७३ ।।

वलम्बी या केवलव्यवहारावलम्बी न होनेसे) अत्यन्त मध्यस्थ वर्तते हुए, शुद्धचैतन्यरूप आत्मतत्त्वमें विश्रान्तिके [1]विरचनकी ओर अभिमुख (उन्मुख) वर्तते हुए, प्रमादके उदयका अनुसरण करती हुई वृत्तिका निवर्तन करनेवाली (टालनेवाली) क्रियाकाण्डपरिणतिको माहात्म्यमेंसे वारते हुए (–शुभ क्रियाकाण्डपरिणति हठ रहित सहजरूपसे भूमिकानुसार वर्तती होने पर भी अंतरंगमें उसे माहात्म्य न देते हुए), अत्यन्त उदासीन वर्तते हुए, यथाशक्ति आत्माको आत्मासे आत्मामें संचेतते (अनुभवते) हुए नित्यउपयुक्त रहते हैं, वे (–वे महाभाग भगवन्तों), वास्तवमें स्वतत्त्वमें विश्रान्तिके अनुसार क्रमशः कर्मका संन्यास करते हुए (–स्वतत्त्वमें स्थिरता होती जाये तदनुसार शुभ भावोंको छोड़ते हुए), अत्यन्त निष्प्रमाद वर्तते हुए, अत्यन्त निष्कंपमूर्ति होनेसे जिन्हें वनस्पति की उपमा दी जाती है तथापि जिन्होंने कर्मफलानुभूति अत्यन्त निरस्त (नष्ट) की है ऐसे, कर्मानुभूतिके प्रति निरुत्सुक वर्तते हुए, केवल (मात्र) ज्ञानानुभूतिसे उत्पन्न हुए तात्त्विक आनन्दसे अत्यन्त भरपूर वर्तते हुए, शीघ्र संसारसमुद्रको पार उतरकर, शब्दब्रह्मके शाश्वत फलके (–निर्वाणसुखके) भोक्ता होते हैं ।१७२।

---

१. विरचन = विशेषरूपसे रचना; रचना ।

मैं मार्ग-उद्योतार्थ, प्रवचनभक्तिथी प्रेराईने ।
कह्युं सर्वप्रवचन-सारभूत 'पंचास्तिसंग्रह' सूत्रने ।।१७३।।

मार्गप्रभावनार्थं प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया ।
भणितं प्रवचनसारं पञ्चास्तिकसंग्रहं सूत्रम् ।।१७३।।

कर्तुः प्रतिज्ञानिर्व्यूढिसूचिका समापनेयम् । मार्गो हि परमवैराग्यकरणप्रवणा पारमेश्वरी परमाज्ञा; तस्याः प्रभावनं प्रख्यापनद्वारेण प्रकृष्टपरिणतिद्वारेण वा समुद्योतनम्; तदर्थमेव परमागमानुरागवेगप्रचलितमनसा संक्षेपतः समस्तवस्तुतत्त्वसूचकत्वादतिविस्तृतस्यापि प्रवचनस्य सारभूतं पञ्चास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत्सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्रमिदमभिहितं मयेति ।

गाथा १७३

अन्वयार्थः—[प्रवचनभक्तिप्रचोदितेन मया] प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित ऐसे मैंने [मार्गप्रभावनार्थं] मार्गकी प्रभावनाके हेतु [प्रवचनसारं] प्रवचनके सारभूत [पञ्चास्तिकसंग्रहं सूत्रम्] 'पंचास्तिकायसग्रह' सूत्र [भणितम्] कहा ।

टीकाः— यह, कर्ताकी प्रतिज्ञाकी पूर्णता सूचित करनेवाली समाप्ति है (अर्थात् यहाँ शास्त्रकर्ता श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्णता सूचित करते हुए शास्त्रसमाप्ति करते हैं) ।

मार्ग अर्थात् परम वैराग्य करनेकी ओर ढलती हुई पारमेश्वरी परम आज्ञा (अर्थात् परम वैराग्य करनेकी परमेश्वरकी परम आज्ञा); उसकी प्रभावना अर्थात् प्रख्यापन द्वारा अथवा प्रकृष्ट परिणति द्वारा उसका समुद्योत करना; [परम वैराग्य करनेकी जिनभगवानकी परम आज्ञाकी प्रभावना अर्थात् (१) उसकी प्रख्याति—विज्ञापन—करने द्वारा अथवा (२) परमवैराग्यमय प्रकृष्ट परिणमन द्वारा, उसका सम्यक् प्रकारसे उद्योत करना;] उसके हेतु ही (–मार्गकी प्रभावनाके हेतु ही), परमागमकी ओरके अनुरागके वेगसे जिसका मन अति चलित होता था ऐसे मैंने यह 'पंचास्तिकायसंग्रह' नामका सूत्र कहा—जो कि भगवान सर्वज्ञ द्वारा उपज्ञ होनेसे (–वीतराग सर्वज्ञ जिनभगवानने स्वयं जानकर प्रणीत किया होनेसे) 'सूत्र' है, और जो संक्षेपसे समस्तवस्तुतत्त्वका (सर्व वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका) प्रतिपादन कर्ता

अथैवं शास्त्रकारः प्रारब्धस्यान्तमुपगम्यात्यन्तं कृतकृत्यो भूत्वा परमनैष्कर्म्यरूपे शुद्धस्वरूपे विश्रान्त इति श्रद्धीयते ।। १७३ ।।

इति समयव्याख्यायां नवपदार्थपुरस्सरमोक्षमार्गप्रपञ्चवर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ।।

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
र्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ।। ८ ।।

होनेसे, अति विस्तृत ऐसे भी प्रवचनके सारभूत है (—द्वादशांगरूपसे विस्तीर्ण ऐसे भी जिनप्रवचनके सारभूत है) ।

इसप्रकार शास्त्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव) प्रारम्भ किये हुए कार्यके अन्तको पाकर, अत्यन्त कृतकृत्य होकर, परमनैष्कर्म्यरूप शुद्धस्वरूपमें विश्रान्त हुए (परम निष्कर्मपनेरूप शुद्धस्वरूपमें स्थिर हुए)—ऐसे श्रद्धे जाते हैं (अर्थात् ऐसी हम श्रद्धा करते हैं) ।१७३।

इसप्रकार (श्रीमद्‌भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री पंचास्तिकायसंग्रहशास्त्रकी श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) समयव्याख्या नामकी टीकामें नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन नामका द्वितीय श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ ।

[अब, 'यह टीका शब्दोंने की है, अमृतचन्द्रसूरिने नहीं' ऐसे अर्थका एक अन्तिम श्लोक कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव टीकाकी पूर्णाहुति करते हैं :]

[**श्लोकार्थः**—अपनी शक्तिसे जिन्होंने वस्तुका तत्त्व (—यथार्थ स्वरूप) भलीभाँति कहा है ऐसे शब्दोंने यह समयकी व्याख्या (—अर्थसमयका व्याख्यान अथवा पंचास्तिकायसंग्रहशास्त्रकी टीका) की है; स्वरूपगुप्त (—अमूर्तिक ज्ञानमात्र स्वरूपमें गुप्त) अमृतचन्द्रसूरिका (उसमें) किंचित् भी कर्तव्य नहीं है । [८]

इति पञ्चास्तिकायसंग्रहाभिधानस्य समयस्य व्याख्या समाप्ता ।

इसप्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री पंचास्तिकायसंग्रह नामक समयकी अर्थात् शास्त्रकी (श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित समयव्याख्या नामकी) टीकाके (श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह बी. एस. सी. कृत) गुजराती अनुवादका हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ ।

श्री पंचास्तिकायसंग्रहकी वर्णानुक्रम गाथासूची